सीधी चढ़ान

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की आत्मकथा का
दूसरा भाग

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

अनुवादक
मंजुला वीरदेव

राजकमल प्रकाशन

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली

प्रथम संस्करण, १९५२
द्वितीयावृत्ति, १९६१

मूल्य : पाँच रुपए

मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दिल्ली

पूज्या जीजी माँ को

क्रम

१९०७ से १९१३

बम्बई की गलियों में

अपनी प्रति वर्ष की डायरी के आरम्भ में मैं दो सूत्र लिखा करता था—

मरण तो निश्चित् ही है,
फिर बैठे क्या रहना—
लम्बे जीवन के अन्धकारमय दिनों में—
बिना काम, बिना नियम और बिना नाम के ?[१]

● ● ●

जीवन ईश्वर का दिया हुआ भार है,
इसे देख ले, उठा ले,
स्वस्थ रहकर एकनिष्ठा से निभा ले,
शोक में पड़कर हार न जाना,
पाप से डरकर डगमगा न जाना,
और स्थिर पैरों से आगे बढ़।

१. "Die since we must, wherefore should a man sit idle and nurse in the gloom of days of long life, without aim, without name ?"—pindar.

आगे और ऊपर—

जब तक ध्येय सिद्ध न हो, तब तक ![1]

सन् १९०७ ई० के मार्च की एक सन्ध्या को इन दो सूत्रों की पूंजी लेकर मैं कुम्भार टुकड़े में अकेला घर खोजता हुआ खड़ा था।

वह घर था कृष्णलाल काका का। वे हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करते थे। दो वर्ष पहले ही वे स्माल-कॉज़ कोर्ट में न्यायाधीश नियुक्त हुए थे। उस समय उन्होंने दीवान बहादुर का पद प्राप्त नहीं किया था। मेरे कुटुम्ब के साथ उनका पीढ़ियों से सम्बन्ध था। मेरे पिताजी उनके बड़े भाई के परम मित्र थे। मेरा ननिहाल उनके घर के पास ही था। उनकी बहन और मेरी जीजी-माँ बचपन की सहेलियाँ थीं।

मेरे परिचित व्यक्तियों में अकेले कृष्णलाल काका ही बम्बई के प्रतिष्ठित भड़ौंची थे। उनका किया हुआ 'दत्त' नामक अंग्रेज़ी उपन्यास का अनुवाद मैंने पढ़ा था। वे गोवर्द्धनराम के मित्र थे और साहित्यकार भी थे, ऐसी कीर्ति मैंने सुनी थी। मैंने उन्हें अनेक बार नर्मदा पार करते देखा था।

मैं देर से आने पर भी उनकी सिफ़ारिश से एल-एल० बी० में भरती होने के लिए आया था। अँधेरी सीढ़ियाँ चढ़कर मैं ऊपर पहुँचा। कृष्णलाल काका से मिला और जीवन के एक प्रगाढ़ और उदात्त सम्बन्ध की मैंने नींव डाली।

उन्होंने लॉ-कालेज के प्रिंसिपल दीनशा मुल्ला को सिफ़ारिश का पत्र लिखकर मुझे दिया। मैं उसे लेकर दीनशा मुल्ला के पास गया। उन्होंने कृष्णलाल काका को सलाम कहलाया और खेद प्रकट किया कि इस प्रकार भरती नहीं हो सकती।

---

१. A sacred burden is the life you bear,
Look on it, lift it, bear it, solemnly.
Walk beneath it steadfastedly.
Fail not for sorrow, falter not for sin,
But onwards, upwards—till the goal you win

खाली हाथों मैं भड़ौंच वापिस आया और वहाँ से बड़ौदा कालेज बोर्डिङ्ग में दाखिल हो गया।

दो

१९०७ के मार्च की १० तारीख थी।

बड़ौदा कालेज के लॉन पर उत्साह से, हाथों में मशालें लेकर हम लोगों ने 'महाराजा साहब' की प्रदक्षिणा करनी शुरू कर दी।

सयाजीराव महाराज के राज्याधिकार के रौप्य-महोत्सव की पूर्णाहुति हो रही थी।[1] हमारे हृदयों में उनका स्थान स्वतंत्र इटली के पहले राजा विक्टर इमेन्युअल के समान था। जब स्वाधीन इटली की राजधानी में उन्होंने प्रवेश किया था, तब मशालधारी विद्यार्थियों का जुलूस निकाला गया था। उसी का अनुकरण करते हुए हम कालेज के विद्यार्थी यह जुलूस निकाल रहे थे।

मैं सयाजीराव महाराज का भक्त था। 'स्वप्नद्रष्टा' में वर्णित जो सहपाठी[2] महाराजा साहब की भक्ति में होश-हवास खो बैठा था, उसकी मनोदशा अपवादरूप नहीं थी। जापान की उज्ज्वल कीर्ति से हमारा आत्म-विश्वास दृढ़ हुआ था और हम अरविंद बाबू की भावपूर्ण राष्ट्रीयता में तल्लीन थे। बंगभंग के आन्दोलन से हम पागल-से हो गए थे। परन्तु बड़ौदा कालेज के विद्यार्थियों की सारी देशभक्ति महाराजा साहब के रवैये के आस-पास उछला करती थी। वे हमारी राष्ट्र-स्वतंत्रता की आशा-मूर्ति थे।

दामाजीराव गायकवाड़ के इस वंशज और उत्तराधिकारी का अर्वाचीन भारत में अद्वितीय स्थान था। मुग़ल-साम्राज्य का पतन होने के बाद जब पेशवा भारत में चक्रवर्ती-पद पर आसीन थे और अंग्रेज पैर फैलाने का प्रयत्न कर रहे थे, तब दामाजीराव गायकवाड़ ने (१७३२-१७६८) दोनों को दबाकर अपना राज्य मज़बूत बनाया था। यह राज्य केवल

१. २५ वर्ष १९०६ में पूरे होते थे, परन्तु कारणवश यह उत्सव विलम्ब से आयोजित हुआ।

२. 'गिरजाशंकर शुक्ल' नामक पात्र।

बड़ौदा का ही नहीं, समस्त गुजरात का था। इसमें काठियावाड़ और आज का ब्रिटिश गुजरात भी समाविष्ट थे।

१८१८ में जब से 'ईस्ट इण्डिया कंपनी' ने पेशवा से भारत का स्वामित्व छीना था, तभी से बड़ौदा के गुर्जराधीश कंपनी से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के प्रयास कर रहे थे। सयाजीराव द्वितीय (१८१६-१८४७) ने इन्हीं प्रयत्नों में अपना संपूर्ण जीवन समाप्त किया। हमारे महाराजा साहब उत्तरोत्तर निष्फलता प्राप्त करते हुए उस प्रयत्न के अन्तिम अधिकारी थे।

१६०७ में इस भावी निष्फलता की छाया नहीं पड़ी थी।

जब सभी देशी राजा स्वच्छन्द हो विषय-सुख में मस्त थे, तब सयाजी-राव ने राज्य में नियम और व्यवस्था का प्रसार किया। भारत में प्रजा के जीवन-विकास के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने पहला कदम उठाया। यूरोप या अमेरिका में प्रवास के समय रोगशय्या पर पड़े रहने पर भी लोकोपयोगी कार्य आरम्भ करने की उनकी लगन अटूट रही। यूरोप के प्रवास के समय प्रजा की भलाई के लिए आवश्यक कोई भी वस्तु बड़ौदा ले आने के लिए वे उतावले हो उठते। अनेक वायसराय और उनके महँगे सलाहकार भारत को जो चीज़ नहीं दे सके वह महाराजा अकेले ही बड़ौदा को देते रहे।

अँग्रेज़ी सत्ता के विरुद्ध वे सिर उठाते हैं। रेज़िडेन्सी बीच में पड़े, यह उन्हें नहीं जँचता।

१६०३ में कर्ज़न हुक्म देता है—"दिल्ली दरबार में 'अपनी' ताज-पोशी के जुलूस में देशी राजा भेंट लेकर आयें और अपने चोबदारों को अँग्रेज़-सरकार के चोबदारों जैसे कपड़े न पहनाएँ।"

इस भेंट देने के कलंकित करने वाले हुक्म के विरुद्ध महाराजा लड़ते हैं और हार जाते हैं।

कर्ज़न जब भारतीय सेना के खर्च के लिए देशी नरेशों से सहायता माँगता है, तब महाराज कठोर उत्तर देते हैं—

"रक्षा-खर्च के लिए 'ईस्ट इंडिया कंपनी' को कभी से प्रदेश दे दिये

गए हैं। यदि देशी नरेशों की सेना का उपयोग करना हो, तो उन पर विश्वास रखना चाहिए और भारतीय अधिकारियों को भी अँग्रेज़ी सैनिक-शिक्षणालयों में प्रविष्ट होने देना चाहिए।"

कर्ज़न बिस्मार्क की नीति का अनुसरण करके देशी नरेशों को साम्राज्य-तंत्र का अंग बनाना चाहता है। महाराजा साहब अपनी शर्तें लिख भेजते हैं—

"आप देशी राज्यों को साम्राज्य के विषय में निर्णय करने का अधिकार दें, मध्यवर्त्ती सरकार और देशी राज्यों के बीच प्रश्नों के निराकरण में हिस्सा दें और आन्तरिक व्यवस्था में उत्तरदायी शासन (Responsible Autonomy) की व्यवस्था करें। देशी राज्यों को केवल साम्राज्य का बोझ उठाने में ही नहीं, अपितु अधिकारों और कानूनों में भी समानता दें, तभी सैनिक-खर्च में विवेकपूर्ण हिस्सा देने को उनका जी चाहेगा।"[१]

यह थी दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की वाणी। दामाजीराव की स्वाधीनता चली गई, परन्तु आज की निःसत्व पराधीनता की अपेक्षा, राज्य-संघ (Federation) और आन्तरिक व्यवस्था में उत्तरदायी शासन ही मुक्ति है। १९०४ में जब कांग्रेस केवल भाषण करती थी और जनता गहरी निद्रा में पड़ी थी, तब महाराजा साहब घोषित करते हैं—

"सबसे उत्तम राजतंत्र वही है, जो जनता द्वारा चलाया जा रहा हो। जनता को अपने हितों की ओर अधिक ध्यान देने वाली बनाना चाहिए। लोगों को ज़िम्मेदारी की आदतें डालने वाली शिक्षा मिलनी चाहिए।"[२]

हमारे बाल-हृदयों में इन उदार शब्दों की प्रतिध्वनि गूंज उठती है।

प्रत्येक विषय में कर्ज़न के दंभपूर्ण दौर से महाराजा टक्कर लेते हैं। १९०४ के पश्चात् राष्ट्रीयता का चैतन्य रूप प्रकट होता है, उसका केन्द्र भी वे ही बनते हैं।

अरविन्द घोष उनके निजी कार्यवाहक थे, यह सत्य सर्वदा हमारे

---

१. Selected letters, Vol. II, P. 580 १-८-१९०४ का पत्र।

२. Speeches and Addresses, Vol. 1, P. 240

सम्मुख चमका करता था। आर्यसमाज के नेता स्वामी नित्यानन्द सरस्वती उनके सलाहकार थे, यह भी हम कभी नहीं भूल सकते थे।

महाराजा साहब ब्रिटिश-भारत में सम्मेलनों के प्रमुख स्थान पर आसीन होते हैं। वे एक देशी राज्य के नरेश ही नहीं रहते, भारत के नेता भी बनते हैं। इलाहाबाद में अपार जन-समूह के बीच वे मानपत्र स्वीकार करते हैं।

महाराजा साहब राष्ट्रीयता का मंत्र उच्चारण करते हैं—

"भारत को महान् राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता है, जिससे प्रत्येक मनुष्य अपने लिए नहीं, अपनी जाति के लिए नहीं, वरन् अपने राष्ट्र के लिए कार्य करे। रूढ़ि और अन्धविश्वास का अपना पुराना ज़माना हमें जीतना चाहिए, स्वतन्त्रता से, समानता से, भ्रातृ-भाव से, आचरण की स्वतन्त्रता से, विकास-क्षेत्र की समानता से, महान् राष्ट्र-भावना के भ्रातृत्व से, तभी हम भारत को फिर से राष्ट्र बना हुआ देखेंगे—राष्ट्रीय कला-साहित्य से और समृद्ध व्यापार से सुशोभित! तभी हम राष्ट्रीय राजतंत्र के अधिकारी बनेंगे, इससे पहले नहीं।"[१]

यह साहसी, राजनीतिज्ञ और समर्थ नरेश, अपने भूतकाल का गर्वप्रद अवशेष, अपनी अर्वाचीन स्वतन्त्रता की आकांक्षा को मूर्तिमान बना देता है।

उस रात को महाराजा की प्रदक्षिणा करके, हम अपनी राष्ट्र-भावना का पूजन कर रहे थे। हाथ में मशाल लेकर हम उनकी गाड़ी के चारों ओर उछल रहे थे। कोठी के आगे घोड़ों को हटाकर हम स्वयं गाड़ी को खींचकर राजमहल में ले गए। हमारे इस समारोह में केवल शिष्टाचार ही नहीं था। हमारी यह प्रवृत्ति चापलूसी से प्रेरित नहीं थी। इसमें किसी प्रकार के लाभ का लोभ नहीं था। हम नौसिखिए राष्ट्र-भक्त महाराजा साहब को स्वतन्त्रता संग्राम का सेनापति मान रहे थे। हम उत्साह से पागल-से हो रहे थे, पर वह उत्साह था देशभक्ति का। अरविन्द की हमें पिलाई हुई देशभक्ति इसकी प्रेरणा-शक्ति थी।

---

१. Speeches and Addresses, Vol. I, P. 115-116.

अपने प्रति हमारा यह भाव देखकर वे नम्रता से बोले—

"मेरे जीवन का यह अपूर्व अनुभव है। ज्योतिर्धर के समारोह के समान इस मान के योग्य मैं नहीं हूँ। मैंने अपनी प्रजा के लिए जो कुछ किया है, वह तो मेरा कर्तव्य ही है। मैंने भूलें अवश्य की होंगी, परन्तु जान-बूझकर मैंने कोई भूल नहीं होने दी। मैं भी आपकी तरह मनुष्य हूँ। मनुष्य-मात्र भूल का पात्र है। मुझसे भूलें हुई हों, तो उन्हें क्षमा करेंगे। आपके हितों के लिए मैं हर तरह का जी-जान से प्रयत्न करूँगा, इसका विश्वास दिलाता हूँ।"[१]

उन दिनों उनका जीवन उच्च-से-उच्च शिखर पर था।

भारत में चारों ओर अँग्रेजों के प्रति द्वेष फैल गया। नासिक में जैक्सन का खून हुआ, टीनीवेली में कलक्टर का खून हुआ, लन्दन में कर्ज़न वाइली का खून हुआ, मुजफ्फरपुर में दो अँग्रेज स्त्रियों के खून हुए। १९०९ में बंगाल में पब्लिक प्रासिक्यूटर मारा गया। अंग्रेजों ने भारत और इङ्गलैण्ड में यह खबर फैलाई कि महाराजा साहब अंग्रेजों के विरुद्ध द्रोह उकसा रहे हैं।

१९०९ में महेसाना में 'शिक्षक प्रेस' ने अरविन्द घोष के भाषण प्रकाशित किये। ब्रिटिश पुलिस ने तलाशी ली और नोट किया कि बड़ौदा पुलिस ने इसमें जरा भी मदद नहीं की।

महाराजा साहब किसी की परवाह न करते हुए अपने मार्ग पर आगे बढ़ते रहे। अँग्रेज-सरकार की आँखों में चुभने वाले आर्य-समाज के सम्मेलन (१९११) के अधिवेशन का उन्होंने सभापति-पद स्वीकार किया और उसमें अँग्रेजों को फटकारा।

दिल्ली में उन्हें गिराने का निर्णय हो गया। १९११ के दिल्ली-दरबार में महाराजा साहब ने सम्राट् जार्ज को पीठ दिखाने का भयंकर राजद्रोह किया। उसी अवसर पर उन पर विलायत के न्यायालय में व्यक्तिगत आक्षेप किया गया। अँग्रेजी पत्र 'Times' भी उनसे द्वेष करने लगा।

१. Baroda Administration Report 1906-1907.

देश की इस विचित्र परिस्थिति में, महाराजा साहब दयनीय अवस्था में अकेले ही थे। श्री गोखले तक ने भी शरण में जाने की सलाह दी। इससे उनके स्वाभिमानी हृदय को आघात पहुँचा। "एक भी मनुष्य मेरे साथ खड़ा हो तो मैं मुकाबला कर सकता हूँ, चाहे परिणाम कुछ भी हो। मैंने किया ही क्या है? लेकिन मुझे सभी ने छोड़ दिया है।" इस प्रकार के उनके कटु वचन एक निकट के अधिकारी ने सुने थे।

भारत के नेतृत्व पद से उन्होंने संन्यास ले लिया। उस वीर आत्मा का गर्व टूट गया। उन्होंने राजा से पीठ दिखाने के लिए क्षमा माँगी और संकट से बचने का मार्ग अपनाया। जब उनका क्षमा-पत्र प्रकट हुआ, तब मैंने सिर कटने के समान घोर अपमान का अनुभव किया।

विक्टर इमेन्युअल होना उनके भाग्य में नहीं लिखा था। उन्होंने लिखा— "that the British will loosen their grasp is forgetting history."

अच्छे-से-अच्छे अँग्रेज़ की उनके लिए क्या कल्पना थी, इस विषय में एक मनोरंजक उदाहरण का मुझे स्मरण होता है :

१६०५ में महाराजा साहब भारत-मंत्री जॉन मॉर्ले से मिलने गये। उस विषय में मॉर्ले लिखता है—

"मालूम नहीं किस अज्ञात कारण से गायकवाड़ ने जाते-जाते अंतिम बार मुझसे इंडिया ऑफ़िस के बदले मेरे घर पर मिलने की इच्छा प्रकट की। कर्ज़न वाइली इसके कुछ विरुद्ध था। वह मानता था कि ज़रूरत के मौके पर इंडिया ऑफ़िस के लाल कालीनों में जादू का-सा चमत्कार है। चाहे आप इसे तुच्छ मानें, पर मेरा सिद्धान्त तो यह है कि जितनी कम गड़बड़ी हो, उतना ही अच्छा।—Anything for a quiet life. अतः विंबल्डन में मेरे 'टस्कन विला' में यह राजा आया।

"मैंने उसे समझाया कि मुझे अफ़सोस है कि मेरे पास इक्कीस तोपें नहीं हैं, मेरे पास तो मुहल्ले के चोरों के लिए छः बोर की रिवाल्वर-मात्र है। मुझे विचार आया कि मेरी पुस्तकों के अंबार पर जो संत और ज्ञानी

बठ हैं, वे सब इस पौर्वात्यि को उनके मध्य पाँच बजे की चाय पीते देखेंगे, ता क्या सोचेंगे ? परन्तु आतिथ्य के समय भी मैं अपने मन्त्रि-पद को भूला नहीं और राज्य से लम्बे समय तक अनुपस्थित रहने के विरुद्ध मैंने उसे वात्सल्य-भाव से समझाया।"[१]

सचेत और लोकप्रिय राजनीतिज्ञ तथा विश्व-यात्रा करके दूरदर्शी बने हुए अग्रगण्य इस भारतीय के लिए स्वतन्त्रता-प्रेम का आडम्बर रचने वाले मार्ले के तिरस्कार की क्या गिनती थी ! असहाय भारत ने ऐसे कितने ही अपमान के कड़वे घूँट पिये थे, और यह तो उस समय का बहुत ही उदार माना जाने वाला अँग्रेज़ था।

बाद में महाराजा साहब के साथ मेरा परिचय कुछ बढ़ा। १६३५ में उनके हीरक-महोत्सव के अवसर पर बड़ौदा कालेज के भूतपूर्व ग्रेजुएटों ने उन्हें प्रीतिभोज के लिए बुलाया। उस समय उनका स्वागत करते हुए मैंने अपने हृदय के भाव इस तरह व्यक्त किये :

जब हम कॉलेज में आये थे, तब रूस-जापान युद्ध नहीं छिड़ा था, बंगभंग नहीं हुआ था, राष्ट्रीयता ने प्रचण्ड स्वरूप धारण नहीं किया था। उस समय हमने महाराजा में भारतीयता, बुद्धि, चारित्र्य और राजनीतिज्ञता की विजय देखी थी और आज तीस वर्षों की कठिन कसौटी के बाद भी हम इनमें इनका जीता-जागता उदाहरण देख सकते हैं कि भारतीय राज्य-कला-कौशल किस सीमा तक जा सकता है···"

ऐसे अवसरों पर भी मुझसे विनोद-भरी चुटकी लिये बिना नहीं रहा जाता। इससे कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाती है और उस समय मुझे इसका ठीक-ठीक अनुभव हुआ। मैंने भाषण के बीच में कहा—

"मैं आज जिनका स्वागत कर रहा हूँ, वे केवल एक राजा ही नहीं हैं, अपितु अर्वाचीन भारत के बड़े-से-बड़े कुशल शासक भी हैं। पूत के पाँव पालने में ही नज़र आते हैं। विटिंग्टन के लिए कहा जाता था कि जिस कला से उसने बचपन में बिल्ली पाली, उसी कला द्वारा उसने लन्दन

१. Morley's Recollections, Vol. II, P. 187.

का विकास किया। महाराजा साहब के लिए भी वृद्धजन कहते हैं कि जिस अपूर्व कला से इन्होंने 'कावलाण' में गौएँ चराई थीं, उसी कला ने इन्हें राज्य-संचालकों में अग्रगण्य बनाया…दैव ने इन्हें आवश्यक स्वस्थ शरीर नहीं दिया…आठ हज़ार मील दूर रहकर भी इन्होंने राजतन्त्र चलाने की कला में निपुणता हासिल की।"

परन्तु १९३५ में ज़माना बदल गया था। बड़ौदा में भी गुजरातियों और मराठों में वैमनस्य उत्पन्न हो गया था। परिणामस्वरूप विनोद-पूर्ण भाषणों से अपरिचित, भोज में आये हुए लोगों को मेरा महाराजा के विषय में इस प्रकार स्वतन्त्रता से बोलना अच्छा न लगा। मराठी पत्रों ने मुझे आड़े हाथों लिया—"मैंने महाराजा साहब के प्रति गुजरातियों का द्वेष व्यक्त किया है। मैंने उन्हें उनकी गरीबी का स्मरण कराया है। विदेश में रहकर वे राज्य की ओर ध्यान नहीं देते, ऐसा आक्षेप करके मैंने उनका अपमान किया है। मैं कलियुगी हूँ।"

हँसें या रोयें?

अर्वाचीन भारत के यह महारथी हमारे महाराजा, मेरे हृदय के कीर्ति-मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं, इसका उन्हें क्या पता?

तीन

जून १९०७ के आरम्भ में जब मैं एल-एल० बी० का अध्ययन करने बम्बई आया, तब से बम्बई का ही बन गया।

सवेरे के समय चर्नी रोड पर उतरकर, मज़दूर के सिर पर बक्स लादकर, मैं पैदल चलता हुआ अपने सौतेले छोटे मामाओं के घर पहुँचा।

मेरे ये तीन मामा पीपलवाड़ी में एक दोहरे कमरे में रहते थे। बड़े मामा की बहू खाना बनाकर खिलाती थीं और उनके यहाँ दो-चार मेहमान हमेशा ही डेरा डाले रहते थे।

बड़े मामा और मामी रसोईघर में सोते और बाकी हम सब अगले हिस्से में या छत पर सोते थे।

अब मुझे बम्बई के जीवन का असली अनुभव होने लग गया। पीपलवाड़ी में उस समय दो-तीन 'चालें'[1] थीं। उनमें लगभग दो सौ परिवार रहते थे। नल पर हमेशा स्त्रियों की भीड़ लगी रहती थी और रोज़ के झगड़े चलते रहते थे।

अधिकतर किरायेदार पैसे लेकर बिना परिवार वाले मेहमानों को रोटी खिलाते और चाल में सुलाया करते थे। बिस्तरे के रूप में उनके पास एक चटाई, एक गद्दी और एक कम्बल होता था। अधिकतर वहाँ सोने वाले धोती बिछाकर बिस्तर सजाते और बीड़ी पीते-पीते बड़ी रात तक गप्पें हाँका करते थे।

चारों तरफ़ गन्दगी, रसोई में, और कटहरे में। दोपहर में बहुत सी स्त्रियाँ नीचे जूठन फेंकती थीं। जगह-जगह कूड़े के ढेर पड़े रहते थे। कमरों में पसीने की बदबू फैली रहती थी। सारे मकान में रसोईघर और पाखाने की मिश्रित दुर्गन्ध से दम घुटता रहता था। चाल में आने के लिए एक गली थी। वहाँ गटर का पानी खुले रूप से बहता था और बीच-बीच में रखी हुई ईंटों पर पैर रखकर गली पार करनी पड़ती थी।

कोलाहलपूर्ण इस जन-समूह के आवास में, ऊपर की मंज़िल वाले, निचली मंज़िल वालों के कानों में सारा दिन 'नल बन्द करो' की आवाज़ें पहुँचाते रहते थे। नीचे से कच्चे आम बेचने वाले ऊपर वालों को सुनाने के लिए आवाज़ लगाते—'पायरी आफ़ूस,' इसके जवाब में हम कहते—'बैरी डफ्फूस' (स्त्रियों को खाने वाले) और मुँह में आम का स्वाद लेते थे।

मैं बीमारी से उठा था। मैं हवा और रोशनी से भरपूर हवेली में पला हुआ—तापी बहन का लाड़ला था, इसलिए मामी-मामाओं ने मेरे लिए जो कुछ हो सकता था, किया। अपने लड़कों से भी अधिक सुविधाएँ दीं, जो लज्जावश मुझे स्वयं अस्वीकार करनी पड़ीं।

---

१. चाली या चाल—बड़े मकानों में रहने के पंक्तिबद्ध छोटे-छोटे कमरे।

थोड़े दिनों बाद एल-एल० बी० में पढ़ने वाले दो मित्रों के साथ मिलकर मैंने निश्चय किया कि हम तीनों कमरा लेकर इकट्ठे रहें। हम तीनों कमरा तलाश करने के लिए निकले। जहाँ जाते, वहीं प्रश्न होता था—"स्त्री है क्या ?" "खटला हाय का ?" और हमारे 'नहीं' कहते ही हमें कोरा जवाब मिल जाता था। "हम अच्छे आदमी हैं"—हमारे इस प्रमाणपत्र की उनके लिए कोई कीमत नहीं थी। मेरे पुराने मास्टर[1] की बात सच थी—"स्त्री-हीन पुरुष विश्वसनीय कैसे हो सकता है ?"

अन्त में कांदावाड़ी में 'कानजी खेतसी' की चाल में 'भैया' (चौकीदार) की मनाही की अवहेलना करके हम ट्रस्टी के पास पहुँचे, जो वहीं बैठे हुए थे। ट्रस्टी ने मेरा नाम सुनकर पूछा—"डाकोर में जो अबुभाई मुन्शी थे, उनके तुम कोई सम्बन्धी होते हो ?"

"हाँ, मैं भतीजा हूँ," मैंने कहा।

"भैयाजी," ट्रस्टी ने आज्ञा दी, "इनको अच्छी खोली (कमरा) दो।"

उन्हीं चालों का एक दिन मैं ट्रस्टी बनूँगा, इसकी कल्पना मैंने उस समय स्वप्न में भी नहीं की थी।

हमने जो कमरा लिया, उसके पास ग़रीब वर्ग के मारवाड़ी रहते थे। सुबह आठ बजे से लेकर रात तक पुरुष लोग काम पर जाते और चाल के हमारी ओर के हिस्से पर मारवाड़िनें राज्य करती थीं। इससे शाम को चार बजे तक हम लोगों को कमरे में ही बैठे रहना पड़ता था। इस प्रकार हमारी स्थिति बड़ी दयनीय हो गई।

हमारा कमरा नल-पाखाने के सामने था। सुबह से नल पर स्त्रियाँ नहाना शुरू करतीं और नहाते समय दो स्त्रियाँ उनकी चौकीदारी करतीं, इससे हमें तो कमरे में ही घुसे रहना पड़ता था। दोपहर में वे सब चाल में बैठकर बाल सँवारतीं। उस समय भी हमें दरवाज़े बन्द ही रखने पड़ते थे। वे आपस में लड़तीं-भिड़तीं, बेहद शोर मचातीं, पर दरवाज़ा खोलकर हम त्रिया-राज्य का तूफ़ान देखने का आनन्द भी नहीं ले

---

१. आधे रास्ते, पृष्ठ १४५।

सकते थे।

इस भीड़-भाड़, इस दुर्गन्ध, इस दुखी और असह्य जीवन से मुझमें विचित्र-सा असंतोष और रोष उत्पन्न हुआ। मुझे लगातार ऐसा भास होता रहा मानो बम्बई राक्षसों का स्थान है और मैं यह विचार करने लगा कि इन्हें किस प्रकार वश में किया जाए।

हम तीन मित्र साथ रहने को तैयार हुए थे, पर पहले दिन से ही हममें आपस में मेल न हो सका। हम घर का सामान जुटाने लगे। चौकी-बेलना, पत्तल-दोने, दातुन और शाक खरीदने पर हम तीनों में इस विषय में विवाद छिड़ गया कि कौन अच्छी-से-अच्छी वस्तु उठाकर घर ले चलेगा। मेरा मन खट्टा हो गया और मैं इन मित्रों के साथ अङ्ग सिकोड़े हुए कछुए की तरह रहने लगा।

हम सवेरे उठकर थोड़ा पढ़ते और दस बजे खा-पीकर सो जाते। दो बजे मैं काँदावाड़ी से निकलता। फणसवाड़ी में 'दीडकी ची सिंगल' (एक पैसे की चाय) और 'दीडकी की लीमजी' (एक पैसे की लीमजी) खाकर पैदल चलते हुए पेटिट लायब्रेरी में पहुँचता था। वहाँ दो-तीन घण्टे पढ़कर पौने छः बजे तक 'लॉ कॉलेज' में हाज़िरी देता और सात बजे पैदल ही घर वापस आता था।

हम तीनों सहपाठियों का साथ-साथ खाने का कोई नियम नहीं था। बड़ी कठिनाई से मिला हुआ रसोइये का लड़का, ज्यादातर खुद खाकर जो कुछ हमारे लिए ढककर रख जाता था, उसी को मैं खा लिया करता था।

रात को हम तीनों मित्र कदाचित् ही कभी बातचीत करते। बिस्तर के नाम से मेरे पास एक चटाई थी। उसे बिछाकर उस पर लेटे-लेटे मैं थोड़ा पढ़ता और फिर सो जाया करता।

उस समय पेटिट लायब्रेरी मेरा प्रेरणा-स्थान था। जहाँ तक याद है, दलपतराम के परिचय से लायब्रेरी के ऑफ़िस के किसी आदमी से परिचय हुआ और बिना फीस के मैंने लायब्रेरी को अपना घर बना लिया। हवा, प्रकाश और अन्य सुविधाओं वाले इस विशाल पुस्तकालय में मैं

पहली ही बार संसार के साहित्य-सम्राटों का सम्पर्क खोजने लगा।

कुछ समय मैंने इतिहास लेकर एम० ए० करने का विचार किया, परन्तु शरीर की अशक्ति देखकर यह विचार स्थगित कर दिया और सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए साहित्य, इतिहास आदि विषयों का अध्ययन करने लगा।

मेरे मित्रों में दलपतराम थे। हम प्रतिदिन कहीं-न-कहीं ज़रूर मिल लिया करते थे। अधिकतर हम साथ-साथ चलकर आया करते थे। उस समय वे अपने चार मित्रों के साथ पाँच-छः रुपये महीने किराये की कोठरी में रहा करते थे और कालवादेवी के एक होटल में पाँच रुपये महीना देकर खाया करते थे। वहाँ प्रत्येक खाने वाले को अपना घी-दूध ले जाना पड़ता था। अनेक बार 'भैया' की दूकान पर खड़े-खड़े हम लोग कुल्हड़ में दूध पीते और भोजनालय में खाना खाने जाया करते थे। दलपतराम की घी की शीशी मेरे कारण फुरती से खाली होती। अनेक बार रात को मैं अपने कमरे में जाने के बदले उनके कमरे में ही सो जाया करता। रात को भोजन के बाद अनेक बार हम चौपाटी पर घूमने जाते और दो-चार पैसों की गँडेरियाँ लेकर चूसते-चूसते बारह बजे तक बातें करते। मैं दलपतराम को अपनी पागलपन से भरी बातें सुनाता। उस समय मुझे मेरी अल्पज्ञता अग्नि की तरह जलाती।

मेरे लिए बड़ा प्रश्न खर्च का था। उसका मैंने हल निकाला। बड़ौदा कॉलेज से मुझे एल-एल० बी० की पहली परीक्षा में प्रथम आने के कारण अम्बालाल साकरलाल पारितोषिक और बी० ए० में प्रथम आने के कारण 'इलियट' पारितोषिक मिले थे। दोनों पारितोषिक पुस्तकों के रूप में मिलने वाले थे। दलपतराम किसी पुस्तक बेचने वाले के साथ सौदा कर आये। मैंने पुस्तकें देखीं, उनकी सूची बनाई। पसन्द न आने वाली पुस्तकें वापिस करने की शर्त करा ली। सूची कॉलेज में भेजकर रुपये मँगाए। उन पुस्तकों में से अधिकांश पुस्तकें उस दूकानदार को वापिस कर दीं और इस प्रकार मैं सौ के लगभग रुपये साधारण खर्च के लिए प्राप्त कर सका।

हमने निश्चय किया कि दलपतराम की तरह मैं भी लड़कों को पढ़ा-

कर पैसे प्राप्त करूँ। दलपतराम एक दिन खबर लेकर आये कि भड़ौच ज़िले के एक व्यापारी के यहाँ शिक्षक की आवश्यकता है। एक दिन शाम को दलपतराम के साथ मैं वहाँ गया। दलपतराम ने मेरा परिचय कराया और साथ-साथ यह भी कह दिया कि माणिकलाल मुन्शी डिप्टी कलक्टर थे, उन्हीं का मैं पुत्र हूँ।

"अच्छा, वही जो अकाल के समय डिप्टी कलक्टर थे ? मैं उनसे अच्छी तरह परिचित था। जब भड़ौंच जाता, तब मिला करते थे। बड़े अच्छे आदमी थे। आपका क्या हाल है? खुश तो हैं न ? आपकी माताजी कैसी हैं ?" सेठ ने कहा।

मेरे माथे पर पसीना छूट पड़ा। ट्यूशन की बात करने का मुझमें साहस न रहा। इधर-उधर की बातें करके हमने वहाँ से विदा ली। सेठ ने हमें बड़े प्रेम से विदा किया और कभी-कभी मिलते रहने का आग्रह किया।

उस दिन से लड़कों को पढ़ाकर पैसे कमाने की मेरी आकांक्षा लोप हो गई। इसके पश्चात् दलपतराम मुझे 'इन्दुप्रकाश' पत्र के ऑफिस में ले गए और वहाँ मुझे अँग्रेज़ी 'प्रूफ' देखने का काम मिल गया।

दो-तीन महीनों में ही मेरे पेट में दर्द शुरू हुआ। एपेण्डिसाइटिस उस समय जानी हुई बीमारी नहीं थी। इसलिए जब दर्द उठता था, तब बदहज़मी समझकर मैं राई का प्लास्टर रख लेता, जुलाब ले लेता और मुँह में रूमाल रखकर—

> मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
> आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥[1]

का जाप करके, उस वेदना को सह लेता था।

एक दिन मैं किसी विदेशी थियोसोफिस्ट महिला का भाषण सुनने गेइटी थियेटर में गया। वहीं मुझे पेट में दर्द शुरू हो गया। मुख में

---

१. हे कौन्तेय ! इन्द्रियों के स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देने वाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सहन कर। श्रीमद्भगवद्गीता, अ० २, श्लो० १४।

रूमाल दबाकर मैंने जैसे-तैसे भाषण सुना और वहाँ से अकेला रास्ते में बैठता हुआ, थोड़ी-थोड़ी देर में उलटी करता हुआ बड़ी देर बाद घर पहुँचा। उस समय मेरे मित्र सो रहे थे। इस दर्द को सहते-सहते मैं सारी रात तड़पता रहा।

इस प्रसंग की या ऐसे ही किसी अन्य प्रसंग की एक दिलचस्प बात याद आती है। उस सभा के सभापति सर गोकुलदास काहनदास थे। व्याख्यानदाता का नाम मिस लिनियल एडगर या ऐसा ही कुछ था।

गोकुल काका हमेशा आँखें बन्द करके भाषण देते थे। उस अवसर पर भी उन्होंने व्याख्यानदातृ का परिचय देना शुरू किया—

"Ladies and Gentlemen,

The learned lecturer is a distinguished Theosophist. He was born in Australia.' लोग ज़रा हँसे और काका बोलते गए—"He"···लोग फिर हँसने लगे। "studied at···" "He" उनके मुँह से निकला और सारी सभा के लोग ठहाका मारकर हँसने लगे। काका ने आँखें खोलीं। "He···Oh, I mean she, left for England—" और हँसी का पार न रहा।

मैं जिस प्रकार का जीवन बिता रहा था, वह एकदम निःसार नहीं था, इसका विश्वास दिलाते हुए मेरी डायरी में एक जगह लिखा है—

"कुछ महीनों से मेरे मन में बड़े ही उदात्त विचार उठ रहे हैं, परन्तु मेरा भविष्य बिलकुल अनिश्चित् है। साधन न होने से सिविल सर्विस रह गई, आत्म-विश्वास न होने से सालिसिटर बनना स्थगित कर दिया। अब बाकी रह गया है एल-एल० बी० ऐडवोकेट होना। वकालत के काम में मुझे यश मिलेगा? अभी तो कुछ भी नहीं कह सकता। यह काम बहुत ही अनिश्चित और कठिन है। इस पेशे में भीड़ भी बहुत है। मुझमें और कौनसी बड़ी शक्ति है? चाहे जिस प्रकार भी हो, मुझे लगन और परिश्रम से जुटना पड़ेगा।" २७-६-१६०७

१६०७ के दिसम्बर मास में जब सूरत में कांग्रेस हुई, तब हम सब

दाराशा के घर ठहरे। हम लाल-बाल-पाल के कैम्प में स्वयंसेवक बने। उस प्रसंग का सारा वर्णन मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' में किया है।

चार

प्राणलाल भाई ने बी० ए० पास किया और १९०८ में हम दोनों एक तीसरे मित्र के साथ गिरगाम बैंक रोड पर कमरे लेकर साथ-साथ रहने लगे। स्थान पहले की अपेक्षा अच्छा था और संगति भी अच्छी थी, अतः हम तीनों मित्र चैन की ज़िन्दगी गुज़ारने लगे।

लगभग प्रत्येक बुधवार या शनिवार को सुबह या दोपहर में मैं नाटक की बात चलाता। उसका विरोध करते हुए प्राणलाल भाई कहते—"बाप के पैसे खराब होते हैं।" फिर गाना-बजाना शुरू होता। रात को नाटक में चला जाए या नहीं, इस पर विवाद छिड़ता और महीने बाद हिसाब लगाया जाता कि नाटक में कितने पैसे खराब किये।

रात को खा-पीकर घूमने निकलते। बीच में खींचतान शुरू होती और अन्त में साढ़े नौ बजे तक हम किसी नाट्यशाला में पहुँच जाते।

१९०५ से १९१२ तक बम्बई की रंगभूमि एक प्रकार से अद्भुत थी। बिजली-बत्तियों की जगमग, कीमती दृश्य-सामग्री की चमक-दमक, छप्पर उड़ा देने वाले बन्दूक के धड़ाके, चिल्लाहट और पाउडर थोपना, चने-मुरमुरे फाँकने के समान, सरलता से किये जाने वाले खून, प्रत्येक पुरुष-पात्र के सिर पर अँग्रेज़ी स्टुअर्ट राजाओं-जैसे नकली लम्बे बाल, जो न अँग्रेज़ी, न तुर्की और न भारतीय होते थे—ऐसे वेश में आने वाले इन्द्रादि देव, क्रूरता और पापाचार का अस्वाभाविक और अमर्यादित प्रदर्शन, ये सब बेजोड़ तत्त्व वहाँ होते थे। वास्तव में देखा जाए तो आज की हमारी रंगभूमि पर दीखने वाली वस्तुएँ पचास वर्ष पहले बालीवाला को स्थापित किये हुए रंगभूमि-संसार के प्राणहीन अस्थि-पिंजर हैं। आज इन अस्थि-पिंजरों को देखकर मेरी रस-वृत्ति मूर्छित हो जाती है। बालीवाला, काउखटाउ, मुहम्मद अली, अमृत केशव नायक, उसका

भाई वल्लभ और मास्टर मोहन—ये सब केवल नट ही नहीं, वरन् ग्रांटरोड की रंगभूमि के विश्वकर्मा थे। उस अस्वाभाविक सृष्टि में भी प्राण डालने की उनमें कला थी।

बालीवाला के 'हरिश्चन्द्र', काउखटाउ के 'हेमलेट' (खूने नाहक), मुहम्मद अली के 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' (उर्दू नाम याद नहीं), अमृत के 'ज़हरीला साँप' (झेरी साँप), मोहन के 'फाँकड़ो फितूरी (बाँका फितूरी) आदि में अपार आकर्षण था। किन्तु इन सब नटों के अभिनय में अपार कृत्रिमता थी। भंगी हरिश्चन्द्र बना हुआ बालीवाला हाथ में डंडा पकड़कर 'प्यारी तारा' कहकर आवाज़ें लगाता; वृद्ध काउखटाउ नौजवान हेमलेट बनकर अन्य पात्रों के मुसलमानी वेश धारण करने पर भी स्वयं यूरोपीय वेश में सज्जित होता, मोटी फटी हुई आवाज़ में बोलता और छलाँगें मारता हुआ चलता। परन्तु फिर भी वे अपने व्यक्तित्व से सबको मुग्ध करते थे। अमृत केशव नायक नटों में श्रेष्ठ था। वह प्रत्येक रूप धारण करता और सभी वेशों में लोगों का मन हरण करता था। रंगभूमि के नाटकों का कथानक भयंकर और वार्तालाप बड़ा लम्बा होता था।

इन सबमें भी उसकी नाटच-कला शोभित होती थी। बीड़ी के धुएँ से घिरे हुए आठ आने वाले दरजे में बैठकर मैंने पन्द्रह-सोलह बार 'ज़हरीला साँप' नाटक देखा होगा। उसमें एक सोलह वर्षीय नाज़िर नाम का लड़का, लड़की का पार्ट करता था। उसकी आवाज़ जैसी माधुर्यपूर्ण और हृदयबेधक थी, वैसी मैंने फिर एक ही बार और सुनी थी और वह थी रोम के ऑपेरा में एक नटी की आवाज़।

इस नाटक में गौहर अभिनय करती थी। उस पर हम सब लट्टू थे। उसके गाने 'देखूंगी प्यारे अब्बा का मुखड़ा' को गा-गाकर तो हमारे दिन बीता करते थे।

यह रंगभूमि सर्कस या जादू के खेल की तरह आकर्षक थी। मुझ पर उसका कोई गहरा असर नहीं हुआ। उसमें कुछ भी वास्तविक नहीं

था, और उसी नाटय-प्रणाली पर खेले जाने वाले गुजराती नाटकों में मुझे आज भी कोई दिलचस्पी नहीं।

गेइटी थियेटर के संस्मरण बिलकुल धुंधले हैं। उस समय वहाँ 'सौभाग्य सुन्दरी' का ही बोलबाला था। सोलह-सत्रह वर्ष की अपूर्व 'सुन्दरी' (जयशंकर) गुजरातियों की आँखों की पुतली के समान थी। जब वह रंगमंच पर आती, तब वहाँ सोने के कड़ों और अँगूठियों की वर्षा होने लगती थी। उसकी चाल और नखरे देख-देखकर गुजराती गृहिणियाँ अपने घरों में पतियों को वश में करने के तरीके सीखा करती थीं। उसके स्वप्न देखकर वृद्धों में फिर यौवन आ जाता था।

जबकि आज भी—

'मारा तन मां मन मां भर्यो छे भय, ठर्यो छे भय, जावुं गज जोती!' गाता हूँ, तब 'सुन्दरी' मेरी दृष्टि के सामने खड़ी होती है; लावण्यमयी, नखरेवाली गुजरातिन के आदर्श के समान, जिस आदर्श को आज भी कदाचित् ही कोई गुजरातिन साध्य कर सकी है। 'कामलता' नाटक के अनेक गीत तो काव्य ही हैं, और वे मेरी भाव-समृद्धि में गुँथ गए हैं :

"जेवी मने दीधी त्यजी, तेम बीती ने तजशो नहि,
कोई प्रीतिवश अबला बिचारी भोली ने ठगशो नहि।"[1]

इन पंक्तियों को मैं जब भी सुनता या गाता, तभी मेरी आँखों में पानी भर आता और मुझे ऐसा भास होता जैसे 'देवी' इन पंक्तियों को गाते-गाते मरने लगी है। इन पंक्तियों से प्रेरित कल्पना-चित्रों से ही 'वेरनी वसूलात' में तनमन की मृत्यु का दृश्य निर्मित हुआ हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पाँच

बचपन में मैं जिस बालिका के साथ सचीन में खेला था, उसकी

---

१. जैसे मुझे त्याग दिया, वैसे दूसरी को भी मत त्यागना। ना ही प्रीत से विह्वल किसी बेचारी भोली अबला को ठगना।

स्मृतियों द्वारा मेरी कल्पना ने 'देवी' का निर्माण कर लिया था। उस कल्पना-मूर्ति के चारों ओर मैंने एक छोटी-सी सृष्टि की रचना की थी और उसमें मैं सुख-दुख—दोनों का अनुभव करता था। मेरी कल्पना-बिलासी भावनाएँ उस सृष्टि के द्वारा व्यक्त होतीं और उनके कारण होने वाले दुखों को—जोकि मेरे ही पैदा किये हुए होते थे—जीतने के लिए मुझे अथक प्रयत्न करना पड़ता।

आज ढेर-से पत्र और अंकित की हुई बातें इस सृष्टि की साक्षी देती हैं। समकालीन अश्रुओं और निःश्वासों से भीगी हुई उस सामग्री का उल्लेख किये बिना मेरे विकास की दशा को समझना असम्भव-सा है।

१९०७ में जब मैं बम्बई आया, तब मुझे 'देवी' की बहुत ही याद आया करती। जब तक पेटिट लायब्रेरी में पढ़ता रहता, तब तक मैं उससे बचा रहता, बाकी समय मैं अकेलेपन से अकुलाया करता। कोई भी सुन्दर लड़की दिखाई पड़ती कि तुरन्त मुझे विचार आता—कहीं 'देवी' तो नहीं आ गई, और विचार गलत सिद्ध होने पर मुझे आघात पहुँचता। जब डाकिया द्वार खटखटाता, तब उसका पत्र आने की कल्पना से हृदय धड़कने लगता और मेरे तरसने में भारी अकुलाहट भर जाती।

मैं 'देवी' के साथ आठ वर्ष तक खेला था। १९०३ में चार दिनों के लिए उससे फिर मिला था। उसके बाद मैंने उसके विषय में कुछ नहीं सुना। यद्यपि वास्तविक वस्तुस्थिति की याद बनी ही रहती थी, तथापि कुछ झूठी-सी मालूम देती थी, और यह तरसना सच्चा जीता-जागता बन जाता था। धीरे-धीरे 'देवी' संस्मरण-मूर्ति न रहकर सदा की सहचरी बन गई।

"हो मने भूली गयो छे मारो छेलड़ो रे।"[1]

इस गीत की पंक्तियाँ बोलते ही मेरा काल्पनिक साहचर्य शुरू हो जाता था। सारा समय मैं मीराबाई के भजन गा-गाकर भावनाओं को बहलाया करता। जब अपने अकेले जीवन से अकुला उठता, तब चर्नी रोड से

---

१. मुझे मेरा प्रियतम भूल गया है।

विरार का टिकट लेकर दोपहर की गाड़ी में बैठ जाता। विरार पहुँचकर लौटती गाड़ी से चर्नी रोड आ जाता। दोनों बार मैं कोई खाली-सा डब्बा देखकर बैठता। उस समय मुझे भ्रम होता कि 'देवी' मेरा साथ दे रही है और मैं नाटक के गीत गा-गाकर प्रेम-संवाद करता। यह कल्पना-विलास मेरे उस समय के विषम जीवन का उल्लास और प्रेरणा बन गया।

मन जब बहुत उद्विग्न होता, तब अधिक रात तक बैठकर मैं काग़ज़ पर अंग्रेज़ी में हृदय के भाव व्यक्त करता। इस प्रकार लिखे हुए अनेक भावों में से कुछ मेरी उस समय की मनोदशा का परिचय देंगे—

"किसने सोचा था कि मैं ऐसी दीन स्थिति को पहुँच जाऊँगा? अपने स्वभाव के कठोर शासन की सीमा में ही मुझे जीना है। मुझे किसी प्यार देने वाले की आवश्यकता है। प्यारहीन अकेली ज़िन्दगी मुझसे सही नहीं जाती।

"मेरे हृदय की वृत्तियों को मित्र क्या सन्तुष्ट कर सकेंगे? क्या वे विश्वास और सम्बन्ध के योग्य सिद्ध होंगे? या मेरे दीन हृदय को पल-भर बहलाकर फिर उससे द्रोह करेंगे? निर्बल, पागल मनुष्य की तरह मैं चारों ओर लिपटने के लिए छटपटाता फिरता हूँ, परन्तु यदि कहीं किसी अपात्र पर विश्वास कर बैठा तो? आशाहीन इस स्नेह-तृष्णा की वेदना को मैं किससे कहूँ? मुझे दूसरों के सुख से बड़ी ईर्ष्या होती है। दुनिया ने मुझे क्रूरता से दूर धकेल दिया है। मैं किस प्रकार इसका बदला लूँ? मैं अकेला पैदा हुआ हूँ। अकेला और दुखी ही मरने के लिए मेरा सृजन हुआ है?"

१९-३-१९०८

फिर दूसरे दिन इस प्रकार लिखा है—

"कोई मेरी सहायता नहीं करेगा? मैं स्नेह बिना मरा जा रहा हूँ! मैं हृदय-विहीन ही क्यों न उत्पन्न हुआ? दुनिया में कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो मेरा अन्त कर दे? अनेक बार दीवार के साथ सिर टकराकर प्राण देने की मेरी इच्छा होती है, परन्तु दुष्ट गर्व मुझे रोक लेता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन मिला है, तो उसका कर्तव्य पूर्ण

करने में ही बहादुरी है।"

'देवी' के साथ मैं वार्तालाप करता था, इसका एक जगह उदाहरण है। उसमें मैं 'देवी' के रूप में अपने को प्रणय-वचन से सम्बोधित करता और अपनी सृजनात्मक कला की नींव डालता हूँ—

"मैं अकेली थी। मुझे बन्धन बाँधते नहीं थे। शृङ्खला मुझे जकड़ती नहीं थी। अकेली और शोक-ग्रस्त मैं अपने मार्ग पर चलती थी।

"गहरा, घना अन्धकार मेरे चारों ओर फैल रहा था। अपने लग्नेश ग्रह को शाप देती हुई मैं अन्धकार में डूब जाती।

"तेज की केवल एक किरण मेरे पथ को आलोकित करती थी, मुझे आश्वासन देती थी।

"एक तारा चमका, टूटा, देव का दूत उतर आया। मैं भ्रमित हो गई। भ्रम को दूर करने के लिए मैंने बड़े प्रयत्न किये, परन्तु मैं निष्फल रही। अपने माधुर्य से उसने मुझे सींचा, प्रेम के सुनहरे तार से मुझे बाँध लिया। उसने मेरी ओर हाथ बढ़ाया, मुझे उठा लिया, डूबने से बचा लिया, अब मुझ पर निराशा हावी नहीं हो पा रही थी।

"मैं सुखी हो गई। जीवन अब शुष्क नहीं रहा। मेरी भावना अब मृगतृष्णा नहीं थी, उसमें अब मेरी तृषा मिटाने वाला रस भरा था।

"नाविक-बिना गोते खाती हुई, मार्ग भूली हुई अपनी नाव मैंने उसे सौंप दी। यह नौका, सरकती, हँसती हुई उसके जादू-भरे स्पर्श से तरङ्गों पर सहर्ष नाचने लगी।

"जीवन अब असह्य नहीं था। वह मेरे पार्श्व में था। अब मुझे अपने जीवन का लक्ष्य मिल गया था, मुझे अपने देवदूत के योग्य बनना था। स्वागत करते हुए उसके हाथों में मैं समा गई और पहले की अपेक्षा अधिक सरस बन गई। जीवन में तेज आ गया। उसने मुझे वह सब दिया, जिसकी मुझे आवश्यकता थी, जिसके लिए मैं तड़पा करती थी।

"उसका नाम था प्रणय।

"बहुत समय बाद मैंने सुख देखा। मैं उससे मिलने को सदा तरसा

करती। बिछुड़ने पर अधीर बन जाती। मिलन ही मेरा एक-मात्र आनन्द था। सारा दिन दूर से सुनाई देती हुई उसकी पग-ध्वनि या मधुर शब्दों की आवाज़ मेरे हृदय के तार-तार को झंकृत करती रहती। रात को अन्तर दूर होता और मैं स्वप्न में उसके साथ जा बसती।

"उसके स्पर्श की ऊष्मा से मैं फूलती-फलती। परन्तु मैं स्वार्थिनी थी, मूर्खा थी, अधिकाधिक माँगने की मुझे आदत पड़ी हुई थी। उससे मिलने के लोभ में मैं एक बार ही पागल हो उठी। वह लापरवाह नहीं था, फिर भी उसकी कल्पित लापरवाही मेरे लिए असह्य हो उठी। मैं क्रुद्ध हो गई। आवेश में आकर मैं चण्डी के समान लड़ने को तत्पर हुई—

"ओह! उसे जाने क्या-क्या कहते हुए मेरी दुष्ट जिह्वा कट क्यों न गई?

"उसके मुख से हँसी लोप हो गई। वह काँपने लगा। उसने निःश्वास छोड़ा। उसके ओंठ फड़कने लगे। कपोल पर से एक अश्रु-बिन्दु ढुलक पड़ा। उसे ऐसा लगा कि मैं उसे त्याग दूँगी।

"बाद में—बहुत पीछे जाकर मुझे पता लगा कि मैंने उसे ठेस पहुँचाई थी।

"मैंने क्षमा के लिए याचना की। क्या मैं इतनी क्रूर थी? क्या मेरी भूल अक्षम्य थी? ओह! किसलिए—किसलिए ऐसी भूल करने से पहले मैं मर न गई?

"मैं रोती हूँ···मैं थर-थर काँपती हूँ···क्या वह मुझे क्षमा नहीं करेगा? वह लौटकर नहीं आयेगा? मेरे गरम-गरम आँसू भी मेरे उस अपराध को नहीं धो सकेंगे?

"प्यारे पंछी! आ, लौट आ। तेरा स्वागत करने को तेरा पिंजरा राह देख रहा है।

"मैंने उसे प्रणाम किया; उसने उत्तर दिया। परन्तु उसकी आवाज़ में से लगावट चली गई थी। उसका मस्तक धीरे से झुका। आँखें स्थिर भाव से देखती रहीं, और खेदपूर्वक हम एक-दूसरे से अलग हुए।

"पहले के उत्साह से आप्लावित अभिवादन का चैतन्य कहाँ गया?

पहले की स्नेहसिक्त विदा की आकुलता कहाँ गई ? कहाँ गया वह अचल भक्ति के शिलालेख के समान न भूलने वाला हस्त-स्पर्श ?

"अरे प्रियतम ! मुझे चेत नहीं है। मैं मरने को पड़ी हूँ। काली रात मेरा गला घोंट रही है। तू मुझे क्षमा नहीं करेगा ? पहले-जैसा बन जा, मुझे और तो कुछ भी नहीं चाहिए।

"अतीत को भूल जा। मैं निर्बल थी···स्वच्छन्द थी···हाँ, थी। परन्तु मेरा अपराध एक ही था, मेरे प्रेम की सीमा नहीं थी। तेरे बिना मैं जीवित नहीं रह सकती थी।

"मैं निर्बल हूँ, मुझे सशक्त बना; मैं मूर्खा हूँ, मुझे समझ दे; परन्तु मेरा त्याग न कर और यदि अब भी निष्ठुर ही बने रहना है, तो अपने प्रेमपूर्ण वक्षस्थल पर मुझे मर जाने दे।

"मेरी याचना का तिरस्कार न करना; मेरा सुख तेरे हाथ में है। अब भी नहीं मानेगा ? यदि अब भी मेरे अपराध को अक्षम्य समझ रहा है तो याद रखना कि मेरे जीवन की ज़िम्मेदारी तेरे सिर होगी। मैं प्राण दे दूँगी, तो इसका दोषी तू ही होगा। परन्तु, नहीं···मुझे आशा है कि वह दिन अवश्य आयेगा, जब तू फिर मेरी ओर देखेगा।

"प्रियतम, तेरे प्रेमपूर्ण हृदय को मैं जानती हूँ। उसमें मेरा स्थान है। चाहे मैं भूलूँ, चाहे गिरूँ, परन्तु वहीं मुझे आश्रय मिलेगा—जिस प्रकार मेरे हृदय में सर्वदा तुझे मिलेगा, उसी प्रकार।

"मेरे प्रियतम, वह क्षण अवश्य आयेगा, जब हम दोनों के हृदय एक होकर नाचेंगे। तब हम एक-दूसरे के संग में जगत् को और जगत् के दिये हुए दुःखों को भूल जाएँगे। फिर किसलिए विलम्ब कर रहा है ? प्राण, उस धन्य क्षण को किसलिए दूर ठेल रहे हो ? आओ, हम दो हैं; दो से अब एक बन जाएँ।"

जब मैं बहुत उद्विग्न हो जाता, तब गीता के श्लोकों को दुहराने में अपने रोग का निदान खोजता। मैंने गीता का अध्ययन नहीं किया था, केवल कुछ श्लोकों का जाप कर-करके स्वस्थ मनोदशा प्राप्त करने का

यत्न करता था। इस प्रकार अनजाने में मैं जपयज्ञ[1] की प्रबल शक्ति से सहायता लेता। उस समय कार्लाईल से भी बहुत प्रोत्साहन मिला।

एक जगह अङ्कित किया है—

"कार्लाईल मेरा परम मित्र बन गया है। उसने मुझे बड़ी हिम्मत दी है। उसकी सहायता से मुझमें हाथ-पैर चलाने की शक्ति आ गई है। अन्त तक मैं हाथ-पैर चलाता रहूँगा।"

उस समय के मेरे अस्वस्थ मन की साक्षी देती हुई एक दूसरी टिप्पणी है, जिसमें मैं आत्म-परीक्षा करता हूँ—

"प्रमाद और आलस्य की सन्तान! तू समय का कितना अपव्यय करता है? तुझे अपनी ज़िम्मेदारी का कुछ ध्यान है? तूने स्त्री की तरह रोना सीखा है! लड़कियों की तरह पल-पल में निराश होता है! तुझे किसी के आधार की आवश्यकता है! अपने निर्बल हृदय को स्थिर करने वाले की ज़रूरत है!

"फिर-फिर वही आवाज तेरे कानों में सुनाई पड़ती है—यह सब किसके लिए?

"तू इतना निर्बल है कि अकेले जीवित भी नहीं रहा जाता? जब तेरा जीवन-क्रम रचा गया, तब किसकी सहायता ली गई थी? तूने किसका हिसाब जोड़ा था? स्वस्थ हो, साहस-हिम्मत से अपनी भावना सिद्ध करने का प्रयत्न कर।" २२-६-१६०८

पुनः निराशा की चाप सुनाई देती है। आत्मघात के विचारों से मैं हृदय में खेलता हूँ।

"मेरे कानों में हमेशा आवाज़ सुनाई देती है कि मैं मरने जा रहा हूँ। इस संसार में रहने की अपेक्षा मरना अधिक अच्छा है।

"मेरी नज़र के आगे दृश्य बनता है। मेरी आँखें बन्द हैं। मेरी चिता के आसपास आग देने वाले खड़े हैं। चिता का धुआँ, मुझमें जो

१. जैसे लिखा है—यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।
श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १०, श्लो० २५।

कुछ है, उसे ले जाता दीख रहा है। मुझमें बसने वाला 'कोई' पुकार रहा है कि इस स्थूल के संकीर्ण मार्ग में मैं किसलिए भटक रहा हूँ ? क्यों नहीं इन पार्थिव बन्धनों को तोड़ डालता ? क्यों नही इस दुखी जीवन को, उकता देने वाले चक्र को, अन्तिम नमस्कार कर देता ?

"मैं जीवित रहने योग्य नहीं हूँ। मुझे संसार के प्रति आकर्षण नहीं रहा। जो भावना पृथ्वी पर मनुष्य को सुखी करती है, वह अब लोप हो गई है। क्षणिक आनन्द और चिरजीवी निराशा के बीच मेरा जीवन झकोरे खा रहा है। इसके चारों ओर गहन अन्धकार छा गया है।

"अनेक बार मैं अपनी शैया में तड़पा हूँ, और मैंने मृत्यु की कामना की है। मुझसे कहीं अच्छे और शक्तिशाली मनुष्य मर जाते हैं, किन्तु मैं ही क्यों जी रहा हूँ ?

"फिर-फिर यही विचार मेरे मन में क्यों आते हैं ? जब मैं अपनी बीमारी से उठा, तब मुझे लगा था कि मेरे जीवन का गया हुआ रस फिर लौट आया है परन्तु नहीं, एक वर्ष तो बीत भी चुका है, फिर भी मैं ज्यों-का-त्यों हूँ। मेरा और संसार का क्या सम्बन्ध रह गया है ? कुछ भी नहीं। मुझे संसार ने क्रूरता से दुःख दिया है। मुझे किसलिए यहाँ अधिक जीना चाहिए ? 'हेमलेट' में शेक्सपियर नायक से कहलाता है कि ईश्वर ने आत्मघात न करने की आज्ञा दी है। परन्तु नहीं, ईश्वर ने कभी ऐसा नहीं कहा। यह तो हम लोग ही कहा करते हैं। मृत्यु मुझसे दूर भाग जाती है। प्लेग भी मुझसे दूर भागता है। रोग भी मुझे मृत्यु के समीप नहीं ले जाता। मैं कहाँ घसीटा जा रहा हूँ ? शक्ति-धारा के चुक जाने पर मृत्यु को निमन्त्रण दे सकूँगा, यह आशा नहीं रही। जान पड़ता है, मेरे जन्म के समय किसी ने मुझे शाप दिया था कि—'प्रत्येक सुख से वंचित होकर तू दुखी जीवन व्यतीत करेगा।'

"इस जीवन-व्यवहार का हेतु क्या है ? तुच्छ विजय को प्राप्त करना ? लोकप्रियता पाना ? नहीं, नहीं। मृत्यु की शरण में जाना ही श्रेयस्कर है।

"किसलिए तड़पते हुए रहा जाए ? निराश होकर बीमार की तरह घूमने की अपेक्षा समय पर आत्मघात कर लेना क्या बुरा है ?"

१८-१०-१९०८

१९०९ के उद्धरण पुनः-पुनः शक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं—

"इस विशाल संसार में मेरा कौन है ? मैं किसका हूँ ? पृथ्वी की दिशाएँ उत्तर देती हैं—कोई नहीं !

"यह दुःख का भार कब तक वहन किया जाए ? जब मैं दूसरों को प्रवृत्तिपरायण, सुख और सुयोगों का भोग करते देखता हूँ, तब मुझे विचार होता है कि मौत क्यों नहीं आती ?

"इस अरण्य-समान पृथ्वी के लिए मेरे मन में मोह नहीं रहा। प्रतिकूल लोगों से मैत्री मुझे शान्ति नहीं देती। क्या मुझे अन्त तक दुःख-ग्रस्त और अकेला रहना पड़ेगा ?

"अपनी उमड़ती हुई अभिलाषाओं का मुझे गला घोंट देना पड़ता है। अपनी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा को भी मुझे दबा देना पड़ता है। अपने क्रांतिकारी हृदय को भी कुचल देना पड़ता है। मुझे हिम की तरह कठोर संयम धारण करना पड़ता है और करना पड़ेगा—कुछ दिनों के लिए नहीं, कुछ वर्षों के लिए नहीं, वरन् दस, बीस या पचास वर्षों के लिए।

"मैं अपने-आपको निष्प्राण यंत्र की तरह क्यों नहीं बना सकता ? इसके बिना मेरा उद्धार नहीं है। मेरे पास सब-कुछ है, पर एक वस्तु नहीं है, और क्योंकि यही एक वस्तु नहीं हैं, इसलिए कुछ भी नहीं है। 'सुख' शब्द मुझे कितना कर्कश मालूम देता है ! मेरे लिए सुख है ही कहाँ ? सब दुःख का रूप धरकर आते हैं। परन्तु क्या मुझे इनसे डरना चाहिए ? नहीं, चाहे श्रम से मैं मर जाऊँ, पर हार स्वीकार न करके कठोर श्रम को ही अपना साथी बनाऊँगा। मुझे किसी मनुष्य की सहायता नहीं चाहिए। जिस संसार ने मेरे सुख-स्वप्न अधूरे रख दिए और आज मुझे इस दशा तक पहुँचा दिया, उसकी मुझे क्या परवाह हो सकती है ?

"मूर्ख आत्मा ! सुख के विचार छोड़, मेहनत कर ! अन्त में तेरी क्षीण होती हुई शक्तियों को मृत्यु और विनाश के सामने हार ही जाना है।" २६-३-१६०६

'देवी' के संस्मरणों से शक्ति प्राप्त करने का नुस्खा भी चल रहा है:

"यह मैं कैसे जाल में फंस गया हूं! श्रम करने की शक्ति भी नहीं रही। व्यायाम छोड़ दिया, पढ़ना छोड़ दिया, हाथ-पर-हाथ रखकर बैठना शुरू कर दिया। यह मूर्खता है। जब तक श्वास है, तब तक बहादुरी से क्यों न जीवित रहा जाए ?

"यह नशा कब उतरेगा ? प्रयत्न न करना और अधमता में पड़े रहना ! कायर ! तू मरने की आशा कर रहा है, पर मृत्यु के बदले रोग लग गया, तो ? तेरा कोई मित्र नहीं है, कोई अभिन्न नहीं है जो प्रेम से तेरी मदद करेगा। जब तेरी बुद्धि क्षीण होगी, तेरी शक्तियां विनष्ट होंगी तब क्या संसार तेरी ओर देखकर हँसेगा नहीं ?और यह तुझे कभी अच्छा लगेगा ?

"नहीं...कभी नहीं। मुझे स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए, विजय मिलने तक प्रयत्न जारी रखना चाहिए, मरना तो है ही, फिर जब तक जीवित हूँ—जब तक देह-यंत्र टूटता नहीं, तब तक वीर की तरह डटे रहना चाहिए।

"देवी ! मैं तेरे योग्य बनने के लिए जीऊँगा। एक भी ऐसा काम नहीं करूंगा जो तेरे योग्य नहीं होगा, और कुछ नहीं तो तेरी याद के सहारे ही जिऊँगा।' २१-४-१६०६

कुछ महीनों बाद का एक दूसरा उद्धरण पुनः मेरी विह्वलता की ओर इशारा करता है—

"अकेले जीवन में रिक्तता भर गई है। हृदय थक गया है। ईश्वर ने जैसी सृष्टि रची है, मेरे लिए वह वैसी नहीं रही। सम्पूर्ण प्रवृत्तियों पर अन्धकार छा गया है। उस धन्य क्षण की मैंने बड़ी प्रतीक्षा की, जब दूर से आती हुई किरण मेरे सूने हृदय में प्रकाश डालेगी और जहाँ रात है,

वहाँ दिन उदय कर देगी। परन्तु, प्रेम की दैवी उमंगों का मैंने कभी अनुभव नहीं किया। क्रूर शिशिर ने विनाश फैला दिया है। मैं थका हुआ, हारा हुआ, अभागा मनुष्य जीवन के पथ पर बढ़ रहा हूँ। जीवन से प्रेम ओझल हो गया है। आत्मा में शान्ति नहीं है। बिना साथी का मेरा दृष्टि-पथ धुँधला हो रहा है। कोई प्रियजन मेरे टपकते आँसुओं को नहीं पोंछता। शोक और भय मेरे सूने हृदय को कुचल रहे हैं। मेरे थके हुए मन के विश्राम के लिए कोई सुकोमल स्थान नहीं है। किसी मधुर मुख से निकला संगीत मुझे शान्त होने की प्रेरणा नहीं देता। मेरी आत्मा के साथ किसी आत्मा ने उल्लासमय सम्बन्ध नहीं बाँधा। किसी प्रियतमा से मैंने नहीं कहा—'तू मेरी है, और मैं तेरा हूँ।'' १८-६-१६०६

रक्त से लिखे हुए मेरे अनुभूत भावों का यहाँ साक्षात्कार होता है। यह कहना कठिन है कि यह महत्वाकांक्षी, निर्जीव और एकाकीपन से अधीर हो रहे कल्पना-विलासी युवक की रुग्ण मनोदशा थी, अपनी शक्ति का जिसे भान नहीं—ऐसे साहित्यकार की यह सृजनवृत्ति थी अथवा आचार में संयमी युवक के हृदय में से इस प्रकार जातीय-वृत्ति झाँक रही थी। धीरे-धीरे ये भाव प्रचुर मात्रा में कल्पना-विलासी बनते जाते हैं:

''स्वप्न-सृष्टि के प्रकाश में, जहाँ संस्मरण हलकी छाया के समान फैलते हैं, वहाँ एक स्वरूप दीख पड़ता है—प्रकाशमय, दैवी और मोहक, आ रही ऊषा के समान तेजस्वी और लजाते हुए सौंदर्य से सुशोभित। मेरे जीवन पर शासन करती हुई यह तारिका है। उल्लास से वह मेरी नौका को खे रही है। वही मेरा आश्वासन है और वही मेरी प्रेरणा। अन्धकार और अरण्य से निकालकर ले जाती हुई वही मेरी ज्योति-शिखा है।

''भाव-भरी मृदुलता से वह मुझे बुलाती है—हमारी आत्माओं को जुदा रखने वाली भयंकर और निःसीम अनन्तता के उस-पार से। मेरी स्मरण-शक्ति उसकी स्मृति की रेखाओं को स्पष्ट करती है और सदैव के लिए बीत गए उन दिनों की सुरम्यता का मैं फिर से अनुभव करता हूँ।

''वह मेरे लिए तरसती है। मैं अनन्तकाल की अवहेलना करता हूँ।

वियोग के दुस्तर सागर को पार करता हूँ। हम मिलते हैं—कभी न बिछुड़ने के लिए।

"हम साथ-साथ रहते हैं। प्रत्येक स्थान पर—स्वर्ग के सौंदर्य-प्रासादों में, किसी भव्य विश्व-खण्ड में, किसी दूर चमकते तारे पर, और हम प्रलयकाल में साथ-ही-साथ एकरूपता पा जाते हैं।" ६-६-१६१०

पागल युवक की यह अदम्य कामना क्या कभी पूर्ण होने के लिए उत्पन्न हुई थी ?

अक्तूबर, १६१० में जब मैं ऐडवोकेट की टर्म में भरती होने आया, तब हृदय-व्यथा से कुछ अंशों में छुटकारा पा चुका था, उसका साक्षी एक उद्धरण इस प्रकार है—

"व्यथा का एक वर्ष बीत गया। काल के आमने-सामने के तटों पर हम लगातार खड़े रहे।

"देवी ! तेरे निमंत्रण का तिरस्कार करके, सांसारिक बंधनों में बँधते हुए क्या मैं उचित कर रहा हूँ ? तेरी निर्दोषिता, पवित्रता, त्याग, भक्ति के क्या मैं योग्य हूँ ?

मुझसे उत्तर देते नहीं बनता।

"इस एकाकी और दम घोंटने वाले विग्रह में यदि मैं किसी अन्य की सहायता लूं, तो मुझे क्षमा करना।"

चार वर्षों के पश्चात् यह सम्पूर्ण अनुभव 'वेरनी वसूलात' (प्रति-शोध) में नया रूप धारण करता है और मैं अपनी अस्वस्थ मनोदशा पर बड़ी कठिनाई से काबू पाता हूँ। परन्तु 'देवी' की कल्पना-मूर्त्ति मेरे और संसार की अन्य स्त्रियों के बीच में एक पर्दा खड़ा कर देती है—पीछे से जब उसका भेदन हो जाता है तब तक।

छः

मनु काका को मैंने 'आधे रास्ते'[1] में नाना भाई के नाम से परिचित

१. 'आधे रास्ते' पृष्ठ २१४।

कराया था। उनके पिता माधुभाई साहब शंभूनाथ कोतवाल[1] के भतीजे बड़ौदा की सरदार कोर्ट के भूतपूर्व जज, पिताजी के समधी और जाति में उनके प्रतिस्पर्धी थे। जहाँ तक याद है, जब मनु काका का और मेरा जनेऊ हुआ था, तब हम बाल-ब्रह्मचारी बनकर साथ घूमे थे। उनके भतीजे शिवप्रसाद उनसे एक वर्ष बड़े थे। वे मेरी भान्जी के पति होते थे। छुट्टी के दिनों में जाति के जिन लड़कों के मंडल में मैं सम्मिलित होता, उनमें मनु काका और शिवप्रसाद भी थे। इन दोनों से निकट परिचय तो तभी हुआ, जब ये १९०६ में बड़ौदा कॉलेज के बोर्डिंग में रहने के लिए आये।

मनु काका के प्रति मुझे पहले से ही बड़ा आकर्षण था। मुझमें जो चीज़ नहीं थी, वह उनमें थी। मैं पढ़ने में लीन, गम्भीर, डरपोक, खेल खेलने में अशक्त, आयु के हिसाब से अधिक पढ़ने वाला था। मनु काका खिलाड़ी, बहादुर, वाचाल, स्नेही, हंसमुख, मौजी, छिछोरे और प्रत्येक खेल में बेजोड़ थे, केवल पढ़ने के समय उनकी गरदन नहीं झुकती थी। १९०६ में हुआ हमारा परिचय आगे वर्णित है।[2]

१९०७ के पश्चात्, जब बम्बई के कॉलेज में मुझे छुट्टी होती थी, तब, जब तक मनु काका और शिवप्रसाद कॉलेज बोर्डिंग में रहते तब तक, मैं वहाँ रहता, और जब वे घर चले जाते तब मैं भी उनके घर जाकर रहता था। जब वे भड़ौंच आते, तब हम दोनों और पिताजी के परम-मित्र रा० बा० मोतीलाल के पुत्र रामलाल भाई, सारा दिन साथ ही होते थे—गप्पें लड़ाते, गाने गाते, घूमने जाते, टेनिस खेलते और नदी-तट पर बैठकर मुरमुरे-सेव खाया करते थे।

धीरे-धीरे मनु काका के साथ मेरी मैत्री प्रगाढ़ हुई। मुझे प्रतीत हुआ कि उन्हें शिक्षा देकर, प्रेरणा देकर महान् बनाने का कर्तव्य मेरे सिर पर आ पड़ा है। मनु काका को मेरी बुद्धि और शक्ति में इतना

१. आधे रास्ते, पृष्ठ २३।
२. आधे रास्ते, पृष्ठ २१६।

विश्वास उत्पन्न हुआ कि उससे मुझमें भी आत्मविश्वास आ गया। संयुक्त कुटुम्ब में इस मातृहीन बालक को जो अकेलापन मालूम होता था, वह मेरी संगति से दूर हो गया।

धीरे-धीरे हम एक-दूसरे के आगे दिल खोलने लगे। वे अपनी माँ का दुःख रोते, मैं अपना रोता। 'देवी' की प्रणय-कथा, जो मेरा दम घोट रही थी, मैंने उन्हें कह सुनाई, और उस कल्पना-मंदिर में मुझे भक्ति करते देखने का उन्हें अधिकार मिल गया। इस प्रकार अपने दुःख को हम मसल-मसलकर चिकना करने लगे।

बढ़ते हुए युवकों को शोभा न देने वाली इस प्रकार की रोती मनोदशा का पोषण करने में हम शक्ति और समय का अपव्यय करने लगे। बालकों की तरह हम अनेक बार लड़ते और फिर मनाते, इस आश्वासन पर कि मैं उन्हें शिक्षा देता हूँ। मैं दो बार एल-एल० बी० में फेल हुआ, वर्ष खराब किये और मेरा विकास चार वर्ष के लिए रुक गया। मेरे सहवास में मनु काका ने जिस भाव-विह्वलता का पोषण किया, वह उनसे न सही गई। इनके लाड़लेपन को पोषण मिला और अन्त में छः वर्ष बाद उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया। फिर भी हमारे बीच मैत्री का सम्बन्ध स्थिर ही रहा।

१६०७ से १६११ तक जब हम साथ-साथ नहीं थे, तब पत्र-व्यवहार किया करते थे। मेरे इन पत्रों में भाषण, टीकाएँ, गप्पें और हृदय की आकुलताएँ, सब आ जाती हैं :

पीपलवाड़ी, बम्बई (तारीख नहीं लिखी)

"पत्र मिला। तुम्हारा यह विश्वास देखकर कि मैं बम्बई कुशलपूर्वक पहुँचूँगा, मुझे आनन्द हुआ। इस विश्वास के लिए मेरी ओर से बधाई। मुझे तो जान पड़ता था कि गाड़ी चर्नी रोड पहुँचेगी ही नहीं और पहुँचेगी भी तो मैं उसमें नहीं हूँगा। बड़ा आश्चर्य हुआ कि अन्त में आ ही पहुँचा।

"प्रो० घोष का चित्र यदि सुन्दर हो तो एक मेरे लिए ले लेना।

बिलियर्ड टेबल, कार्क और हॉकी से महाराजा साहब कॉलेज को बिगाड़ डालेंगे, उसे जिमखाना बना देंगे। हरे राम !

"'समालोचक' के जनवरी के अंक में प्राणलाल भाई का 'जापान' के विषय में लेख प्रकाशित हुआ है। गुजरात के इस उगते हुए तारे के प्रथम दर्शन पर मैं उसे नमस्कार करता हूँ।"

● ● ●

बम्बई, १३-६-१९०७

"आप भड़ौंच में विहार कर रहे हैं, यह जाना। संतोष हुआ या असंतोष, यह कैसे कहा जा सकता है। लोग बातें करते हैं कि भाई साहब शाला में जाकर सरस्वती-पूजा करने की अपेक्षा, उससे भी अधिक पूज्य, जो देवी घर में उपस्थित हैं, उनकी पूजा करना अधिक पसन्द करते हैं—बेचारों ने एल्फिन्स्टन कॉलेज जाना बन्द कर दिया। उनका ध्यान और कहीं था। स्वयं फेल होने पर कभी आत्मघात करने को तैयार थे और अब फेल होने का कलंक लगने पर भी भड़ौंच में संक्रान्ति का आनंद मना रहे हैं....

"अभी मैं यहाँ स्वस्थ नहीं हुआ। मेरे पास सब कुछ है, परन्तु एक चीज नहीं है, इससे कुछ भी नहीं है। मेरे दुःख की सीमा नहीं है। जाने दो यह बात। मैं मूर्ख हूँ।"

● ● ●

५-३-१९०८

"मेरी बात तुम से भिन्न है। मैं हूँ एकाकी और स्नेहविहीन। मनुष्यवत् नहीं परन्तु यंत्रवत् भटकना ही मेरे लिए बदा हुआ है। यदि मुझमें कुछ मनुष्यत्व है तो वह स्नेह करने की और उसे निभाने की मेरी शक्ति में समाविष्ट है...

"प्लेग की छुट्टियाँ मिलीं। प्रसन्नता हुई और खेद भी हुआ। खेद इसलिए हुआ कि अपने कमरे के एकान्त में बैठकर चिन्ता से तड़प-तड़प-कर मरना होगा। प्रसन्नता इसलिए हुई कि बड़ौदा आकर तुम्हारा

भावपूर्ण साहचर्य पाने का सौभाग्य मिलेगा।"

छुट्टी खत्म हुई और मैं बम्बई लौट गया। अरविंद घोष पर उस समय मुकदमा चल रहा था। मैंने एक पत्र में पूछा—

"घोष-कोष के लिए क्या किया ? मैं बड़ी मुश्किल से पचास रुपये भिजवा सका हूँ। घोष साहब की बहन अधिक पैसे मँगा रही हैं। यदि कोष में पैसे न इकट्ठे हों तो एकत्र कराकर भेज देना। जान पड़ता है, बेचारे अरविंद को वे कुचल डालेंगे। उनकी बहन कहती हैं कि निर्दोष हैं। बड़ा बुरा समय है। अंतिम सप्ताह में बड़ी उथल-पुथल मची। भारत की स्थिति देखते हुए प्रत्येक को स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ कर जाना चाहिए।"

● ● ●

हिन्दू लॉज, बम्बई
१२-७-१९०८
रात के बारह बजे

"बारह दिनों के तुम्हारे मौन ने आज मुझे अत्यन्त दुःखी कर डाला है। अपने ढंग का कटाक्ष और आक्षेप से भरपूर एक पत्र तुम्हें लिखने की तैयारी कर रहा था कि आज सुबह तुम्हारा पत्र मिल गया। इसलिए अब उलाहना देने की हिम्मत नहीं रही। पहली बार तुम्हारा पत्र दिल खोलकर लिखा गया था। तुम्हारा दुःख पढ़कर मैं भी उतना ही दुःखी हूँ। मरीज के बिना दर्द को कौन समझ सकता है? क्षण-भर के लिए सोचा कि समय और स्थान के बन्धन काटकर मानो मैं तुम्हारे पास पहुँच रहा हूँ।

"तुम दुःखी हो, कारण कि संसार को देखने वाली तुम्हारी दृष्टि छोटी है। तुम अभी बालक हो। स्वावलम्बी मनुष्य की दृष्टि से तुम अपने आपको नहीं देख सकते। कृपा करके यह भूल जाओ कि तुम्हें किसी की सहायता की आवश्यकता है। तुम पुरुष हो, इस दृष्टि से देखना सीखो। संसार तुम्हारे आगे पड़ा है, आक्रमण करने और जीतने

के लिए। बिना माँ के जीना दुःख की बात तो ज़रूर है, पर इसके लिए आँसू बहाने से क्या मिलता है ? माता के लिए रोते हो या सोची हुई बात पूरी न होने के कारण, अथवा इच्छित सुविधाएँ कोई नहीं देता, इस स्वार्थ से रोते हो ? यह स्वार्थ ही हुआ न ! अपनी माता के लिए स्नेह रखो, परन्तु विशुद्ध और निःस्वार्थ ! क्यों नहीं मान लेते कि वह तुम्हारी आँखों के आगे है—तुम्हारी हिम्मत बढ़ाती, दुःख में तुम्हें आश्वासन देती, तुम्हें उच्च आदर्शों के लिए प्रेरित करती, उसके योग्य बनने के लिए प्रोत्साहन देती। निर्बलता से किसलिए हार मानते हो ? अपने स्नेह को शक्तिशाली वीर के स्नेह का रूप दो, मूर्ख बालक के रुदन का नहीं ! यह रोग तुम्हारे मन में कहाँ से आ घुसा ? उपवास करने से तुम स्वतन्त्र होगे ? कैसी मूर्खता है ! तुम कभी ऐसी स्थिति में पहुँच सकते हो, जब अन्न के बिना बिलकुल काम चला सको ? यदि थोड़ा-सा खा लिया, तो भर-पेट क्यों न खा लिया जाए ?

"यह सब कारण अर्थहीन हैं। केवल नाममात्र को खाओगे, तो शक्ति जायेगी, क्षीणता आयेगी, और साथ ही अनेक दुःख और कठिनाइयाँ आयेंगी। एक चुल्लू पानी के लिए भी किसी स्नेह-हीन सम्बन्धी की कृपा पर अवलम्बित होना पड़ेगा—ऐसी मूर्खता न करना। आज जो निराश्रयता-सी मालूम होती है, कल वह चली जायेगी। ज़रा हिम्मत रखो। जब कुछ वर्ष बीत जाएँगे और प्रेम-विह्वल हाथों से भोजन करते हुए इन दिनों को स्मरण करोगे, तब अपनी इस मूर्खता पर हँसी आयेगी। कहावत है कि 'रोटी खानी शक्कर से, दुनिया जीतो टक्कर से।'

"हिम्मत रखो। दूसरों के दोषों के लिए कहीं अपने को दण्ड दिया जाता है ? प्रिय भाई ! सब तुम्हारा तिरस्कार करते हैं, यह विचार तुम्हारे मस्तिष्क में व्यर्थ ही घुस बैठा है। लोग चाहते हैं या नहीं, इसकी तुम्हें क्यों चिन्ता है ? मैं अपने अनुभव से कहता हूँ, जितने लोग हमारे आस-पास होते हैं, उन सबको किस कारण हम पर स्नेह रखना चाहिए ? हमारी अवगणना करने, तिरस्कार करने के लिए भी तो कोई होना चाहिए। इसके

बिना हम अपने स्नेहियों का मूल्य नहीं आँक सकते। सूर्य का ताप प्रखरता से जलाता न हो, तो हम शीत से विरक्त हो जाएँगे।

"तुम मरने की इच्छा करते हो! कैसी उदार इच्छा है! संसार में सबके लिए अप्रिय हो गए। यदि यह समझते हो कि कोई स्नेही नहीं है, तो बेचारी मेरी भाभी का क्या होगा? दूर गांव में, बाप के घर के दुःखों में, वह तुम्हारी ओर प्रेम-भरी, उमंग-भरी आतुर आँखों से देख रही है। उसका क्या होगा? दिन-रात वह तुम्हारे सुख की कामना करती है, उसका क्या होगा?

"पत्र बहुत लम्बा हो गया। पढ़ते हुए थक जाओगे, परन्तु अपने दुःख के समय पर दौड़कर न पहुँचने वाले को क्षमा करना। पत्र शुष्क या समझदारी या ढिठाई से पूर्ण जान पड़े, तो भी उसका मनन करना। यदि उसका शब्द-शब्द ध्यान में लाओगे और हृदय में धारण करोगे, तो मैं कृतार्थ होऊँगा।

"पुनश्च—कुछ ज़्यादा-कम लिखा गया हो तो क्षमा करना। तिलक महाराज का मामला कल शुरू हो रहा है।"

● ● ●

२७ जुलाई, १९०८

"पत्र मिला। बड़ौदा कॉलेज ने आन नहीं खोई, यह जानकर आनंद हुआ। तुम्हारे दण्ड का क्या हुआ, यह तुरन्त लिखना। मुझे तो ऐसा लगता है कि दण्ड पाये बिना ही महाराजा साहब तक पहुँचा जाए। यहाँ उपद्रव मचा हुआ है।[१] समाचार-पत्र डरकर चल रहे हैं, सच्ची खबरें नहीं छापते। यदि कोई सैनिक मर जाए, तो यह भी नहीं छापते। उड़ती खबरें तो बहुत-सी आ रही हैं। कपड़े के व्यापारी पक्का निश्चय करने वाले हैं कि विदेशी कपड़ा छः महीने तक न मँगाया जाए। यदि ऐसा हुआ तो बम्बई कलकत्ता से बढ़ जाएगा और अधिकारियों के दिमागों को धक्का

१. तिलक महाराज को दिये गए दण्ड के सम्बन्ध में उपद्रव शुरू हो गया था।

पहुँचेगा।"

हिन्दू लॉज, बम्बई, ३० जुलाई, १९०८

"पत्र मिला। कर्त्तव्य-पालन करते हुए तुम्हें दण्डित होना पड़ा। खैर, यदि सबने साथ दिया होता, तो तुम्हारी अवश्य विजय होती। जब तिलक महाराज को दण्ड मिला, तब हम सब भी आपस में निश्चय करके लॉ-क्लास से अनुपस्थित रहे थे। केवल गिने-चुने विद्यार्थी ही क्लास में गये थे। प्रिंसिपल के गुस्से की सीमा नहीं थी। परन्तु बेचारे क्या करते! कॉलेज के विद्यार्थियों की अपेक्षा हम अधिक स्वतन्त्रता का आनन्द उठाते हैं। कानपुर की खून-खराबी की खबर मिली होगी। बम्बई की स्थिति पुनः कल से पूर्ववत् हो गई है। फिर भी सिपाही अधिक संख्या में इधर-उधर घूमते रहते हैं और निःशस्त्र मजदूरों पर विजय प्राप्त करने की खुशी जाहिर करते हैं।"

अश्रुओं से सिंचित, स्वानुभूति की वेदना से भरपूर, एक पत्र आज भी हृदय की व्यथा व्यक्त करता है :

बड़ौदा, २–११–१९०८

"प्रिय मित्र,

अपने स्वस्थ क्षणों में तुम मुझे पागल समझोगे और कभी-कभी तो मुझे भी ऐसा लगने लगता है कि मैं पागल ही हूँ; परन्तु मुझसे रहा नहीं जाता। मुझ पर जो कुछ बीतती है, वह मुझे कह डालनी चाहिए। यदि ऐसा न करूँ तो मैं दम घुटकर मर जाऊँ। इस समय रात को यदि मुझे कुछ पढ़ना हो, तो मुझे अपनी भावनाएँ यहाँ व्यक्त कर देनी चाहिएँ। बड़ा प्रयत्न करने पर भी वे रोकी नहीं जातीं। तुम्हें इतने जोर से 'अपना' कहता हूँ, इसके लिए क्षमा करना। अन्य कई लोगों का तुम पर अधिकार है, यह मैं जानता हूँ। परन्तु मैं तो आश्रयहीन हूँ।

"तुम जानते हो कि हमारे कवि-गण 'कौमुदी' पर किस तरह न्यौछा-

वर हैं ! अनेकों ने इसे 'प्रणयवाहिनी' बनाया है। इस समय मुझे भी इच्छा होती है कि मैं भी इसे वैसा ही बना लूँ। इस सुन्दर प्रकाश को अपने भावों का वाहन किस प्रकार बनाऊँ ? इसके द्वारा काल के दूसरे तट पर बसी हुई अपनी प्रेयसी के साथ किस प्रकार एक रूप हो जाऊँ ?

"एक-दूसरे का दुःख बाँटते हुए हमने अनेक चाँदनी रातें बिताई हैं, और दुःख भुलाए हैं। इस समय यह चाँदनी मुझसे सहन नहीं होती, देखता हूँ, और मुझे वेदना होती है। यह वेदना मैं किससे कहूँ ? और उसके कारण टपकते हुए इन आँसुओं को कौन पोंछे ? लॉन की ओर मुझसे देखा नहीं जाता। मैं काँपता हूँ और अपने अकेलेपन के भान से मुझे रोना आता है···Single Cursedness...कल रात तीन बजे तक मुझे नींद नहीं आयी। मेरा गला सूख गया और आँखों में आँसू भर आए, जब रोया तब नींद आयी, और वह भी स्वप्न-भरी। सारा दिन वह मधुर आवाज़ सुनाई देती रहती है।

'मने भूली गयो छे मारो छेलड़ो रे,
जूठी-जूठी कानुडा तारी प्रीत, मारा राज!'[१]

"सारा दिन मैं पागलों की तरह भटकता रहा। मेरा हृदय स्त्री का-सा है। वह मेरे वश में नहीं रहता। तुम्हारी संगति में मैं इससे वश में कर लेना चाहता था, पर ऐसा हुआ नहीं। मैं पागल हूँ, क्या नहीं ? यह पत्र भी क्यों लिख रहा हूँ ? न लिखने योग्य सब इसमें लिखा है। तुम्हें हँसी आयेगी। तुम हँसो···हँसो···तुम तो व्यावहारिक हो। अपनी तिरस्कार-पूर्ण हँसी हँसो। परन्तु, ऐसा एक हास्य, विडम्बनापूर्ण एक शब्द मेरा हृदय चीर डालेगा। मैंने बहुत सहा है, अब और नहीं सहा जाता। मैं तो इन पंक्तियों को बार-बार दुहराऊँगा।

'वन वगडामाँ भूली पडी त्यां अमृत प्यालो पीधो रे,
पीधो, लीधो सार सृष्टिनो, कोल अमर त्यां दीधो रे,

---

१. मेरा प्रियतम मुझे भूल गया है। ओ मेरे कन्हैया, तेरी प्रीति झूठी है।

हुँ गाँडी के दुनिया गाँडी, आप करी ल्यो गणती रे।'[1]

सात

जब मैं भावों और कल्पनाओं की तरंगों में डुबकियाँ लगा रहा था, तब भड़ौंच में जीजी-माँ और लक्ष्मी, मेरा नाम स्मरण करके जीवन बिता रही थीं। जीजी-माँ आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ती थीं और सरल-हृदया लक्ष्मी सास के स्नेह और शिक्षा के नये साँचे में ढल रही थी।

जीजी-माँ ने लिखा है—

"मैं हिंडोले पर बैठी हुई झूल रही थी। घर में कोई नहीं था। मैंने गाना आरम्भ किया। मुझे एक ही बोल आता था, वह इस प्रकार था—

'तमे पोढोने सारंगपाणि
तारी अखिया में निंद भराणी।'

"इस पर से विचार आया कि व्यर्थ समय नहीं खोना चाहिए। कुछ ऐसा काम करना चाहिए जिससे कुछ नई जानकारी हो और कुछ ज्ञान बढ़े। मैं पुराण, आख्यान आदि जानती—समझती हूँ, परन्तु गीता मुझे ज़रा भी समझ में नहीं आती। एकाएक उपर्युक्त भजन के बोल की स्फुरणा से शब्द निकले। 'ब्रह्मतरंग' नामक वह भजन जब धीरे-धीरे गाया जाने लगा, तब पेन्सिल लेकर उसे कागज़ पर अंकित करने लगी।"

२-७-१९०८

इस प्रकार जीजी-माँ ने पंचीकरण, योगवाशिष्ठ और गीता का अध्ययन आरम्भ किया। परन्तु, ज्ञानयोग की अपेक्षा उनका कर्मयोग सबल था।

---

१. मैं निर्जन वन में रास्ता भूल गई हूँ, वहाँ मैंने अमृत का प्याला पीकर सृष्टि का सार पा लिया है। वहीं मैंने अमर वचन दे दिया। हे मेरे स्वामी, मैं पागल हूँ या दुनिया पागल है, इसका निर्णय आप ही कर लें।

सारे घर में केवल दो बड़ी थीं; ननद और भाभी। परन्तु रुखीबा[1] ने अभी अपनी चुप्पी नहीं छोड़ी थी। वे सुबह-शाम चबूतरे पर आकर बैठतीं, जाति की आने-जाने वाली स्त्रियों को इकट्ठा करके पञ्चायत करतीं और जीजी-माँ का दिल दुखाने वाले ताने सुनाया करतीं। जीजी-माँ का भी निःशब्द असहयोग चल रहा था।

एक दिन सवेरे जब वे चबूतरे पर नहीं आयीं, तब जीजी-माँ को चिन्ता हुई। 'दोपहर हो गई, फिर भी वे नीचे उतरती नहीं दीख पड़ीं। क्या बात हुई? इतने वर्षों के वैर के पश्चात्, बिना बुलाये उनके कमरे में जाना चाहिए या नहीं? जाने पर अपमान किया तो?' इस प्रकार के संकल्प-विकल्प करती हुई जीजी-माँ अन्त में बीच का दरवाज़ा खोलकर ऊपर गयीं। वहाँ रुखीबा अपने कमरे में अचेत अवस्था में पड़ी थीं। उन्हें बड़ा तेज़ बुखार था।

जीजी-माँ ने वैद्य बुलाया और रुखीबा की सेवा आरम्भ की। जब वे चेत हुईं, तब अप्रिय भाभी को देखकर जरा हिचकिचाईं, परन्तु अनिच्छा से उनकी सेवा स्वीकार करनी पड़ी। तीन महीने तक पैरों खड़े जीजी-माँ ने अपंग-सी बनी हुई रुखीबा की अकेले सेवा-सुश्रूषा की। सुविधाहीन उस जमाने में जीजी-माँ ही खाना पकातीं, बिस्तर बिछातीं और उनके शरीर की सारी क्रियाएँ करती थीं।

पहले तो जीजी-माँ की सेवा-सुश्रूषा से रुखीबा का गर्व उबल उठा—'हाय हाय, यह भी मेरे भाग्य में था!' परन्तु अन्त में दुर्जेय रुखीबा विजित होकर बिस्तर से उठीं। छुटपन में तेजस्विनी ननद को जितना मान मिलता था, उतना ही जीजी-माँ उन्हें देती रहीं। बीस वर्ष का विष उतर गया। पहले रुखीबा मुझे आता हुआ देखते ही खटाक-से दरवाजा बन्द करके अपना क्रोध शान्त करती थीं, परन्तु अब मुझे भी सत्कार मिलने लगा। जब मैं भड़ौंच जाता, तब पाक-कला की वे अद्वितीय निष्णात, कई वर्षों से भूली हुई अपनी इस कला को ताजा करके जीजी-माँ के लड़के

१. 'आधे रास्ते' पृष्ठ ७१, २००।

के आगे उपहार धरा करतीं। भयंकर रुखीबा को, जिनके गर्जन से सारी जाति त्रस्त होती और घर सुलग उठते थे, अपनी मुख्य वैरिन 'चिमन मुन्शी की लड़की'[1] के वशीभूत हुआ देखकर सभी विस्मित हुए।

मैं जीजी-माँ के जीवन के इस विजय-प्रसंग को महान् समझता हूँ।

वर्षों पश्चात् जब रुखीबा फिर बहुत बीमार पड़ीं, तब इलाज करवाने के लिए उन्होंने मेरे पास बम्बई आना स्वीकार किया। उस समय वे एकदम मृत्यु के किनारे पर थीं। एक दिन शाम को हम उनकी बिलकुल आशा छोड़ बैठे। जीजी-माँ भड़ौंच में थीं। लक्ष्मी ने परिवार की अन्य स्त्रियों को बुलाकर यह निश्चय किया कि देव-पूजन कैसे किया जाए और इस काम के लिए हर ब्राह्मण पीछे एक आना दक्षिणा देने का निश्चय किया।

आधी रात के बाद रुखीबा की तबीयत में सुधार हुआ। दूसरे दिन उन्होंने आँखें खोलीं। उठकर बैठते ही उन्होंने लक्ष्मी को धमकाया।

"क्यों री, तू समझती क्या है? मैं नरभेराम मुन्शी की लड़की, तेरे राजा के समान पति की बुआ, और मेरे मृत्यु के समय आये ब्राह्मणों को केवल एक-एक आना दक्षिणा! अपने पति से पूछ लेना था!"

लक्ष्मी दंग रह गई। मरती हुई रुखीबा ने यह भला कैसे सुन लिया? रुखीबा ने आगे कहा—

"मेरा प्राण उठ गया था। मेरी जीभ नहीं हिलती थी, परन्तु तू जो योजना बना रही थी, वह सब मैं सुन रही थी।"

मैंने लक्ष्मी से कहा—

"देख ले, यह तो मरती हुई भी शेरनी हैं। एक गर्जन करेंगी तो पर्वत फट जाएँगे।"

उसके बाद रुखीबा स्वस्थ होकर भड़ौंच गयीं। दो-एक वर्ष के बाद उन्होंने मुझे विशेष रूप से भड़ौंच बुलाया और कहा—

"देख भाई, अब मेरा कुछ ठीक नहीं है। मेरे पास जो कुछ जेवर हैं, वे तेरे सिवा किसी और को दूँगी, तो मेरी सोची हुई बात पूरी नहीं

---

१. आधे रास्ते, पृष्ठ २००।

होगी। इन्हें तू रख! सारी ज़िन्दगी मैंने भार्गव की जाति का खूब खाया है। मेरे मर जाने पर तू इसमें से भार्गवों को खूब खिलाना।''

मैंने वचन दिया और रुखीबा की मृत्यु के पश्चात् उनकी इच्छानुसार जीजी-माँ ने श्राद्धादि खूब ठाठ से किया—प्रेमानन्द की तरह घी की नालियाँ नहीं बहाईं, परन्तु वह मेरे दोष से नहीं, वरन् भार्गवों की रस-वृत्ति भिन्न हो गई थी, इससे। इस प्रकार अप्रिय भाई की स्त्री और पुत्र के हाथों ही, जिन्हें दुःख देने में रुखीबा ने अपनी ज़िन्दगी बरबाद की थी, सद्गति प्राप्त की।

आठ

भड़ौंच उस समय विचित्र-सी नगरी थी। वह न शहर था, न गाँव, इसलिए दोनों की असुविधाएँ वहाँ थीं। कलक्टर उसके सामुदायिक जीवन में बड़े-से-बड़ा व्यक्ति था। कलक्टर अर्थात् मुग़ल बादशाह का बादशाह। भड़ौंचियों ने इस गोरे अधिकारी को खुश करने का धर्म स्वीकार किया था। इस धर्म की आड़ में जो खुशामदें होती थीं, उसके कई प्रसंग मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' में वर्णित किये हैं।

एक पारसी भाई का सूत्र था—'साहब के पेट में घुसें, तो सोने के बनकर निकलें।'

अनेक वर्ष हुए, भड़ौंच में राय बहादुर चुनीलाल वेणीलाल सी॰ आई॰ ई॰ कलक्टर के दाहिने हाथ थे। उनके पुत्र रा॰ ब॰ मोतीलाल पिताजी के परम मित्र थे। उस समय मोतीलाल काका म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष थे। वे मिलनसार, हँसमुख, उदार हृदय के और बहुत भले आदमी थे। उनसे सभी लाभ उठाते और अनेक पहुँचे हुए लोग उन्हें शहर वालों से गालियाँ भी दिलवाते थे।

मोतीलाल काका के पुत्र रामलाल भाई, मनु काका और मैं—हम तीनों की निराली मित्र-त्रिपुटी थी। मोतीलाल काका मुझे अपने पुत्र के समान मानते थे और मैंने भी उनके परिवार को अपना समझा था।

जब कोई अँग्रेज़ी पुस्तकों का सेट बेचने वाला आता, तब वे मुझसे पूछते और मेरे 'हाँ' करने पर उसे खरीद लेते। अन्त में उसे पढ़ने वाला भी मैं अकेला ही होता।

उनके कारण मैं शहर की प्रकट हलचलों में भाग लेने लगा। म्युनिसिपैलिटी में और कलक्टर के यहाँ उनकी चलती थी, इससे मोतीलाल काका की आरती उतारने वाले शहर में बहुत थे। और अँग्रेज़ी में भाषण, प्रार्थनाएं या मानपत्र लिख देने का काम सदा मेरे सिर पड़ता था।

हमारे एक नगर-निवासी ने कलक्टर को अपने घर चाय पर बुलाया। उन्होंने मुझ से अँग्रेज़ी में भाषण लिखवाया। कारण कि वे मजिस्ट्रेट बनना चाहते थे। मैंने अपनी आडम्बरयुक्त शैली में लिखा—My tongue is not eloquent enough to express. etc... भाषण करने वाले सज्जन प्रत्येक अँग्रेज़ी शब्द के नीचे गुजराती उच्चारण भी लिखवा ले गए, कारण कि अँग्रेज़ी लिपि में शब्द पढ़ने की अपेक्षा स्वदेशी लिपि में पढ़ने की देशभक्ति उन्हें प्रिय थी, परन्तु उनके दुर्भाग्य से मैंने eloquent शब्द को दो भिन्न लाइनों में लिख दिया था—'माई टंग इज़ नॉट ए-लोक्वेंट इनफ़···आदि।

चाय-पानी शुरू हुआ। वे सज्जन भाषण देने के लिए खड़े हुए। पढ़ते-पढ़ते 'माई टंग इज़ नॉट ए–, कह कर रुके, 'ए', फिर से उच्चारण किया। उलझन में पड़ गए, इससे पुनः 'ए' का दीर्घ उच्चारण किया। जब लोग हँस पड़े तब घबराकर उन्होंने जल्दी से 'लोक्वेंट' इनफ़ कहकर पढ़ डाला।

एक बार एक गोरे कलक्टर की स्त्री प्रसूति के लिए विलायत जाने वाली थी। उसे गाँव के अनेक लोगों ने मानपत्र दिया। बड़ी उम्र में साहब को पुत्र प्राप्ति हुई, इसके लिए उन्हें बधाइयाँ दी गईं। खुशामदों के ग्रासों से सर्वदा अतृप्त रहने वाला कलक्टर भी खुशामद के इस एक ग्रास से अति तृप्त हो गया।

उसने कहा—"मैंने अनेक अवसरों पर मानपत्र लिये हैं, परन्तु मान-

पत्रों के इतिहास में इस मानपत्र का स्थान निराला ही है।"

कांग्रेस द्वारा स्वाभिमान का संचार करने से पहले प्रत्येक ज़िले का मुख्य शहर अधिकतर कलक्टर के ख़ुशामदियों का अखाड़ा बना हुआ था। भड़ौंच की इस अधम मनोदशा के अन्धकार में एक उज्ज्वल व्यक्ति थे—अम्बाशंकर उत्तमराम मलजी अथवा सबके मत से 'छोटू भाई'।

जब मैं कॉलेज में था, तब बहुत छोटी अवस्था में उन्होंने डिस्ट्रिक्ट प्लीडर की परीक्षा पास करके वकीलों में और गाँव के बड़े लोगों में अग्रस्थान प्राप्त किया था। छोटू भाई वकील थे, राजनीतिज्ञ थे, परन्तु इससे भी अधिक जीवन में जिन कलाकारों की मैत्री का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, उनमें वे अग्रगण्य थे। भड़ौंच में वे 'व्यक्ति' नहीं थे—'संस्था' थे। छोटू भाई के जीवन में अस्वास्थ्य, उत्पात या अविचार जैसी कोई चीज़ नहीं थी। गौरवपूर्ण स्वास्थ्य से वे अपने हाथों अपना मार्ग तय करते रहे। छोटू भाई ने बहुत किया, परन्तु उनकी विशिष्टता 'करने' की अपेक्षा 'होने' में अधिक थी।

उनकी दिनचर्या निश्चित् थी। उसमें वे कभी परिवर्तन नहीं होने देते थे। जिसे उस दिनचर्या के अनुकूल होना होता, हो सकता था। सवेरे ब्रह्म-मुहूर्त्त में वे उठते, सन्ध्या करते, फिर गाड़ी में बैठकर दशाश्वमेध पर स्थित अपने महादेवजी के दर्शन करते। शाम को भी सन्ध्या और महादेव के दर्शन निश्चित् थे। सुना था कि कोई पाठ भी रोज़ किया करते थे।

मुवक्किलों के आने से पहले वे घर लौटकर, उचित तैयारी करते थे। उनके गुमाश्ते और उनके अधीन काम करने वाले वकील सब व्यवस्था कर दिया करते थे। उनकी बहियाँ दीपक की तरह स्पष्ट थीं। मुवक्किल के साथ बात संक्षिप्त और काम की करते थे। फीस निश्चित् ही थी। यदि कोई मित्र हो, तो उससे फीस न लेने का नियम था। कोर्ट में उनकी बुद्धि से जितनी विजय मिलती, उतनी ही उनकी व्यवस्थित तैयारी से मिलती थी। वे साफ़-साफ़ और थोड़ा बोलते थे। उनकी

कानूनी दृष्टि सूक्ष्म थी। हिसाब में वे बेजोड़ थे। दृढ़ता उनकी वकालत का मुख्य लक्षण था। न्यायाधीश भी उनसे डरते थे। हाईकोर्ट में जब उनकी ओर से अपील दाखिल होती थी, तब साथ में उनकी टिप्पणी भी अवश्य होती थी। वकील के रूप में वे बुद्धिमान् और मनुष्य के रूप में महान् थे।

१६०४ या १६०५ में वे कांग्रेस में सम्मिलित हुए। सूरत कांग्रेस के पश्चात् जब उग्र पक्ष का जोर बढ़ गया, तब वे धीरे-से खिसक गए। उन्होंने इसका कारण बताते हुए कहा, "मुझे इसमें रास्ता नहीं दीख पड़ता।"

भड़ौंच में प्रायः गड़बड़ी ही रहती थी, परन्तु छोटू भाई इस सब से अलग रहते। म्युनिसिपैलिटी के लिए एक वकील ने नया पक्ष खड़ा किया और उनको उसका पहला प्रमुख बनाया। परन्तु वहाँ द्वेप का वातावरण फैलते देखकर वे वहाँ से भी हट गए।

स्वदेशी आन्दोलन के जमाने में उन्होंने भड़ौंच में मिल खोलकर बहुत समय तक उसे चलाया। अनेक संस्थाओं को दान भी दिये। बाद में वे 'सहकारी मंडलों' के काम में लग गए और सारे गुजरात में वर्षों तक उसकी व्यवस्था की। आगे बढ़ती हुई राजकीय मनोवृत्ति उन्हें भली न लगती, पर उन्होंने कभी उसका विरोध नहीं किया। अधिकारियों के साथ वे विवेकपूर्ण व्यवहार करते, उसमें खुशामद की गन्ध तक न होती।

एक गोरे कलक्टर की ऐसी आदत थी कि जब वकील मुकदमा दायर करने के लिए आते, तब वह अपने हाथ में कहानी की पुस्तक लेकर बैठ जाता। एक दिन शाम को छोटू भाई एक फौजदारी केस के लिए उसके बँगले पर गये।

"मि० मलजी, यह आपकी कुरसी है, आप यहाँ से केस चलाएँ।"

इस प्रकार कहकर 'साहब बहादुर' वहाँ से दूसरे छोर पर जाकर आराम कुरसी पर लेट गए और हाथ में कहानी की पुस्तक ले ली।

"मि० मलजी, अब आप वहाँ से बोलिये, मैं यहाँ सुन रहा हूँ।"

छोटू भाई ने कागज़-पत्र बन्द कर दिए।

"मैं आपको समझाने आया हूँ, केवल बोलने नहीं।"

इतना कहकर वे चल दिए। यह बात हाईकोर्ट में भी पहुँची थी, ऐसा कुछ धुँधला-सा स्मरण है।

छोटू भाई कभी किसी के आगे अपना दिल नहीं खोलते थे। गप्पें हाँकने के लिए उनका एक भी मित्र नहीं था, कारण कि वे अकारण किसी से नहीं मिलते थे और गप्पें नहीं लड़ाते थे। मानव-व्यवहार को भी उन्होंने अपूर्व कला से व्यवस्थित बनाया था। प्रत्येक पत्र का दूसरे दिन उत्तर दे देते थे। सामाजिक अवसरों पर शहर में जो चाहता था, उन्हें निमन्त्रित करता, और छोटू भाई अधिक नहीं, तो दो मिनट के लिए अवश्य वहाँ उपस्थित होते। वे एक भिश्ती की बारात में गये थे, इससे भड़ौंच के गर्व को आघात पहुँचा था। जब वे म्युनिसिपैलटी में थे, तब वहाँ के काम के और अपने व्यवसाय के घण्टे उन्होंने व्यवस्थित रूप से बाँट दिये थे। परन्तु एक के समय में दूसरे के विषय की चर्चा तक नहीं करते थे। जब मिल चलाते थे, तब भी यही बात थी। किस कोर्ट में कब जाना है, यह भी निश्चित होता था।

हमारा तीन पीढ़ियों का सम्बन्ध था। पिताजी की मृत्यु के पश्चात् अनेक लोग हमें भूल गए, पर छोटू भाई ने हमारी खबर लेते रहना अपना कर्त्तव्य समझा। इसमें स्वार्थ नहीं था। व्यावहारिकता की अपूर्व भावना से वे ओतप्रोत थे। स्वयं गाँव का नेतृत्व करते थे, परन्तु प्रीवियस से लेकर एडवोकेट तक की परीक्षा में मैं जब-जब पास हुआ, तब-तब वे स्वयं उसके दूसरे दिन बधाई देने पहुँचते रहे। जब मैं उन्हें कोई काम सौंपने जाता, तब वे तुरन्त मीठेपन से 'हाँ' करते और किसी प्रकार का बड़प्पन नहीं दिखलाते थे। काम कर देने के बाद वे कभी उसकी चर्चा नहीं करते थे। जब मैं पास हुआ, तब पहले वर्ष ही बिना कहे उन्होंने मुझे दो-तीन अपीलें भेज दीं। कहीं मैं पर्याप्त फीस न लूँ, इसलिए उन्होंने

इसे भी स्वयं निश्चित् करके साथ ही भेज दिया।

यह सब विचारशील व्यवस्था-शक्ति का परिणाम था, परन्तु इसमें शुष्कता नहीं थी। उनकी हँसी सदा स्नेहयुक्त होती थी। उनसे मिलने जाओ, तो वे सब की खबर पूछा करते थे। अपनी उलझनों को सहृदयता से सुलझाते, परन्तु स्वयं सदा दुर्भेद्य रहते थे। जब ईश्वर ने उन पर पारिवारिक दुःख का असह्य भार डाल दिया, तब भी जो लोग आँसू पोंछने के लिए आते, उनसे वे पूर्ण स्वस्थता से मिलते थे।

एक बार बम्बई के प्रखर धारा-शास्त्रियों को छोटू भाई की उलट-पलटकर जाँच-पड़ताल करते मैंने देखा था। उन सबका जोश, पानी की उछलती हुई लहरों की तरह छोटू भाई के धैर्य के साथ टकराता और फिर लौट जाता था। उनका स्वभाव उग्र था, मूर्खों के साथ उनमें अधीरता आ जाती, परन्तु उसे विचित्र संयम से स्वस्थ रखने की शक्ति उन्होंने प्राप्त की थी।

१९४२ में, जब मैं यह लिख रहा हूँ, कुछ महीनों पहले ही उनका देहान्त हो गया। अन्त तक उनका कार्य-क्रम ज्यों-का-त्यों अखण्ड रहा।

आज मुझे यह पता नहीं लगता कि भडौंच में इस महत्ता को आँकने की या उसकी कद्र करने की शक्ति है या नहीं। इस युग में गुजरात में मानवता का मूल्य केवल गांधीजी की निकटता से आँका जाता है, जब कि छोटू भाई व्यवहार में उनसे दूर थे। सच्ची महत्ता आत्मविकास में है, यह समझने की शक्ति या उदारता किसमें है? परन्तु, यदि कठोर संयम से जीवन की व्यवस्था करना 'योग' हो, अपनी दृष्टि में जो सत्य दिखे, उसका अनुसरण करने में ही मनुष्यत्व का मूल्य हो, चंचल रागद्वेष से दूर रहकर स्वास्थ्य की सिद्धि प्राप्त करने के अनवरत प्रयत्न में महत्ता हो, तो छोटू भाई महान् गुजराती थे। 'आत्मन्येवात्मनाः तुष्टः' उक्ति पर उन्होंने अपना मनुष्यत्व निर्मित करने का प्रयत्न किया था और छोटे-से कार्यक्षेत्र और मर्यादित शिक्षा में विघ्नों के रहते हुए भी उन्होंने सफलता प्राप्त की थी।

नौ

समाज-सुधार करने की मेरी लगन छोटी-मोटी प्रवृत्तियों में कुछ-न-कुछ कार्य करती रही। मैंने शिक्षा छोड़ दी और दूसरों से छुड़वाई। मैंने 'पीताम्बर' पहनना छोड़ दिया और अपने मित्रों को भी धोती पहनकर खाना सिखाया। अनेकों में मुक्त कंठ से नाटक के गायन गाने की आदत डाली। अनेकों को अपनी स्त्रियों को पढ़ाने-लिखाने वाला बना दिया। एक मित्र को 'डम्बेल्स' घुमाना सिखाया। उसकी बुआ ने विरोध-प्रदर्शित किया—"मूर्खो, देवों के समान गोल शरीरों को मछुओं की तरह गठीला क्यों बनाते हो?" इस प्रकार मैंने अपनी जाति में युवकों को बिगाड़ने वाले के रूप में थोड़ी ख्याति प्राप्त की।

सीमान्त के जाति-भोज के लिए भड़ौंच के भार्गव सुविख्यात थे। घर बेचकर भी इसे किये बिना उनका काम नहीं चलता था। इस प्रकार कई परिवार गृह-हीन हो गए थे। १९०६ से मैंने इसके विरुद्ध जूझना शुरू किया। कई लोगों से प्रार्थना की, अनेकों को समझाया, कई बार कसमें खिलाईं, परन्तु जब तक १९१३ में इस रिवाज़ का खात्मा नहीं हो गया, तब तक भार्गवों की जाति सीमान्त का जाति-भोज पेट भर-भरकर खाती रही।

१९०४ में हम कई मित्रों ने अरविन्द घोष के 'वंदेमातरम्' और अन्य राष्ट्रीय पत्र पढ़ने के लिए 'मुफ्त पुस्तकालय' खोला। वहाँ हम मिलते और देश-भक्ति के भाषण करते। ज्यों-त्यों करके हम उसका खर्च चलाते थे। १९०७ में जब मैं बम्बई आया, तब सेठ गोरधनदास चन्दनवाले से मिला और उनकी उदारता से भड़ौंच में 'दादाभाई नौरोजी फ्री लायब्रेरी' की इमारत खड़ी हुई।

यह मेरा पहला प्रकट रचनात्मक कार्य था।

हम लोगों ने निर्णय किया कि इस लायब्रेरी की इमारत का उद्घाटन-कार्य देशभक्त गोखले के शुभ हाथों से कराया जाए। मैं उन्हें निमन्त्रित करने पहली बार पूना में 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' के उनके

निवास-स्थान पर गया। उन्होंने स्वीकृति दे दी। परन्तु ठीक समय पर कोई काम आ जाने से सर फिरोजशाह ने उनकी जगह सर गोकुलदास पारिख को भेज दिया। इससे हमारा मन खट्टा हो गया। हमारा समारोह फीका रहा। काका आकर चले गए और गोखले आये ही नहीं, इससे मेरे सहयोगी मुझे दोष देने लगे।

उस समय की अविस्मरणीय घटना है टेकरे (टीला) का 'जाजरू (पाखाना) पुराण'। यदि कोई महाकवि मिल जाए, तो उसकी कीर्ति-गाथा महाकाव्य में वर्णित करने योग्य है। उस सौजन्यपूर्ण ज़माने में, जबकि अभी दुष्ट अँग्रेज़ी शिक्षा ने बुरी आदतें नहीं डाली थीं, मुन्शी के टेकरे का एक भाग, दीवारों से संवृत, सामुदायिक रूप से शरीर-सुख की रक्षा के लिए अलग ही रखा गया था। १८९५ में जब हमारे संयुक्त कुटुम्ब की विभक्ति हुई, तब पिताजी और अधुभाई काका अर्वाचीन विचारों के वशीभूत हुए। उन्होंने पुरानी व्यवस्था को बदलकर टेकरे के लोगों के लिए दो पाखाने बनवाए और शर्त करके, पीछे से हमारे तबेले में जाने के लिए खाड़ी की दीवार में खिड़की बनाकर दरवाज़ा लगा दिया। यूनानी कवि होमर के इलियड में ट्राय के गर्वपूर्ण कंगूरों (Proud Towers of Troy) का जो स्थान है, वही स्थान इस महाकाव्य में इन दो गृहस्थापत्य की कलाकृति के अनिवार्य अंग पा सकते हैं।

टेकरे (टीले) पर उस समय एक वीर कूटनीतिज्ञ रहता था। हमारी जाति के जिन पटवारियों ने सूरत और भड़ौंच ज़िले के गाँवों में सरकारी मालगुज़ारी वसूल करने के भगीरथ पराक्रम किये हैं, उनमें वे अग्रगण्य और कालाग्नि के समान दुःसह माने जाते थे। हमारे ये पड़ौसी इस महाकाव्य के नायक हैं। उनके क्रोध का कोई पार नहीं था। वे लड़ते, तो वायु भी पीछे हट जाती। भड़ौंच ज़िले की चौपाल में बैठे-बैठे उन्होंने भीषण प्रतिज्ञा की—

"मुन्शियों से टेकरा छीन लिया जाएगा।"

हिटलर के जगत्-विजेता होने का संकल्प करने से पहले यदि किसी

ने उसी परिमाण में महत्त्वाकांक्षा प्रदर्शित की थी, तो हमारे इस पड़ोसी ने। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि संकल्प की सीमा किसी वस्तु की इच्छा रखने पर ही नहीं, चाहे जगत् ऊपर हो या टीले की खाड़ी के नीचे हो—उसका वास्तविक मूल्य संकल्प की दृढ़ता पर है। संकल्प सिद्ध करने में वे कुशल थे। 'माणका मुन्शी' भड़ौंच में डिप्टी कलक्टर—पटवारियों के मुखिया थे। उन्हें खुश रखने में ही भलाई थी। और वे थे भोले। उन्हें खुश होते देर नहीं लगती थी—वे मित्रों के आगे अकेले में कारण भी बताते थे—'माणका मुन्शी लायक न होते, तो मैं कभी झुक सकता था? कभी नहीं।'

'माणका मुन्शी' स्वर्गवासी हुए और टीले के मुन्शियों का तेज नष्ट हुआ। मुन्शियों में बड़ी उम्र का योग्य पुरुष कोई नहीं था। स्त्रियों को सीधा करने में कितनी देर लगती थी! उस कूटनीतिज्ञ ने समझा कि उनकी भीषण प्रतिज्ञा को पूर्ण करने का समय अब आ पहुँचा।

उन कृतनिश्चय महारथी को इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं था कि वे सत्यनिष्ठ थे। काफ़ी पूछ-ताछ करके, अनेक दस्तावेजों की खोज-बीन करके उन्हें विश्वास हो गया था कि सन् १८०० ई० के लगभग जब पेशवा ने पेशवाई नहीं खोई थी और नेपोलियन यूरोप को कँपा रहा था, तब टीला मुन्शियों का नहीं, वरन् उनके अपने पूर्वज जगुभाई देसाई का था। उन्हें यह भी विश्वास हो चुका था कि करसनदास मुन्शी ने अनुचित तरीके से वह टीला जगुसेठ से छीनकर, मुन्शियों का बना लिया था। वरसाई[1] के इकरारनामे की तरह इस इकरारनामे को फाड़ फेंककर, जगुदेसाई के टीले को उन्हीं के वंशजों का टीला बनाकर, दुष्कृतों का विनाश करके धर्मसंस्थापन करना ही उनका जीवन-मंत्र बन गया।

पिताजी के स्वर्गवास के बाद सातवें या आठवें दिन आक्रमण की दुन्दुभि बज उठी। इलियड का वीर नायक एकिलीस जिस प्रकार तम्बू से निकला, था, उसी प्रकार हमारे पड़ोसी निकले—कहाँ से यह बार-बार

१. Versailles.

कहने की आवश्यकता नहीं—और आँखें फाड़कर, छाती तानकर, पैसे वाले जो कुछ पचा बैठे थे, उनके प्रति गुर्राहट-भरा गर्जन किया।

मैं था डरपोक। अपने शिरच्छत्र को हाल ही में खो चुका था। अपमान कभी सहा नहीं था। मैं थर-थर काँपने लगा। नीचे उतरा, तो जीजी-माँ को अपशब्दों से पीड़ित और आँसू बहाते देखा।

इस कथा के नायक 'तन्तुविग्रह' में प्रवीण थे। मुझे कहना चाहिए कि हिटलर को जो इस प्रकार का विग्रह खोज निकालने का यश प्रदान किया जाता है, वह अज्ञानता की पराकाष्ठा है। इस 'तंतुविग्रह' का पहला स्वरूप इस प्रकार का था। आते-जाते छत की ओर दृष्टि जमाकर वे महारथी कहते—'टीला जगुदेसाई का है' या 'पाखाना, खिड़की मेरे हैं, या 'पैसेवालों की खाकर पचाई हुई जमीन उनके रोम-रोम से फूटकर निकलेगी।' इस स्वगत संभाषण में अपशब्दों की भरमार तो होती ही थी, साथ-साथ वे छाती ठोककर मुहल्ले को गुँजा देते थे। उसे सुनकर मुहल्ले के बच्चे और उनके सगे-सम्बन्धी बाहर निकल आते। हम तो उस समय घर में घुसकर ही बैठे रहते थे।

थोड़े दिनों, आठ-नौ बजे तक अपमान सहन करने के लिए हम लोग कान लगाए बैठे रहते। कभी-कभी यह विचार भी आता था कि इससे तो घर छोड़कर चले जाएँ, तो अच्छा।

इस अनुभव की एक विशेषता यह थी कि हमारे उन पड़ोसी का पुत्र मेरा मित्र था और जब वैसा अवसर आता, तब वह तुरन्त मेरे पास आकर अपना दुखड़ा रोने लगता था।

आरम्भ किये हुए को पूर्ण करना बुद्धिमानों का दूसरा लक्षण है और इसके अनुसार हमारे पड़ोसी ने 'तंतुविग्रह' के साथ आक्रमण आरम्भ किया। कभी वे वीर हमारे 'ट्राय के गर्वपूर्ण कंगूरे' को ताला लगा देते और मुहल्ले वाले तड़प उठते, और कभी लकड़ियों का गट्ठा खाड़ी की खुली ज़मीन पर डलवाकर नया मोरचा खड़ा करते। मुहल्ले में तुमुल-ध्वनि होती, वीर कुपित होता, सब काँपने लगते। कभी उन्हें कूटनीति की हवा

लगती और वे जीजी-माँ से आकर मिल जाते। 'मैं कनुभाई को कभी दुःख नहीं दूँगा' इस प्रकार आश्वासन देते और जाते-जाते यह धमकी भी दे जाते, 'पर देखना, मैं बड़ा खराब आदमी हूँ।' फिर पन्द्रह दिन बीतते कि पुनः 'तंतुविग्रह' आरम्भ हो जाता।

इस विग्रह के लिए मैं बिलकुल अयोग्य था। बचपन से कभी गाली नहीं दी थी। कभी किसी से वादविवाद शायद ही किया हो। बड़ी इच्छा होती थी कि कमर कसकर निकल पड़ूँ, पर जैसे ही इच्छा होती थी, वैसे ही मर जाती थी। 'मारा केसर भीना कंथ हो, सिधावो जी रणबाट' गाकर, कोई जोश दिलाने वाला भी नहीं था, इससे हिनहिनाता हुआ घोड़ा आगे बढ़ने की अपेक्षा सामान्य रूप से जहाँ होता था, वहीं बैठ जाता था।

जीजी-माँ को 'तन्तुविग्रह' से कठोर आघात पहुँचा। उन्होंने ठाकुर मामा से सलाह ली। मृत पति की प्रतिष्ठा के लिए और बालक-पुत्र के अधिकार के लिए उन्होंने निश्चय किया कि झुका न जाए। उन्होंने भगवान् त्रिपुरारि से सहायता माँगी। मैंने पुस्तकों की खोज-बीन की, प्लुटार्क के जीवन-चरित्र में, कार्लाईल की प्रोत्साहन जीवन-कथाओं में, देश-विदेश के महाकाव्यों में गढ़ की रक्षा के लिए बाहर निकले हुए अनेक बहादुरों के उल्लेख थे, परन्तु इस प्रकार के गढ़ के लिए क्या किया जाए, यह किसी स्थान पर भी नहीं मिला। इस प्रकार की वीरता के उदाहरण के अभाव में मैं जैसा था, वैसा ही रहा।

अन्त में हमारे पड़ोसी ने युद्ध आरम्भ किया। उन्होंने तीन-चार दिनों तक सवेरे आते-जाते छत पर आँखें गड़ाकर ऊँचे स्वर में सिंहनाद किया—'यह जगुदेसाई का टीला है, जिसे न रहना हो, वह यहाँ से चला जाए।' फिर पिछली खिड़की के द्वार पर हमारे ताले के ऊपर अपना ताला जड़कर अपने गाँव चले गए।

हमारी छावनी में घबराहट फैल गई। अर्जुन के पराक्रम को स्मरण करके, मैं साइकिल पर सवार होकर गाँव के बाहर, जहाँ मेरे मामा रहते

थे, वहाँ उन्हें बुलाने के लिए गया—जिस प्रकार कौन्तेय श्रीकृष्ण को निमन्त्रण देने गया था उसी प्रकार। जाते हुए रास्ते में एक-दो लड़के भी साइकिल से टकराए और कुचले, मरे नहीं।

ठाकुर मामा कटिबद्ध होकर इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित हुए। द्वार पर लटकता हुआ शत्रु का ताला हमने तोड़ डाला। 'हमने' का मतलब मामा के हाथ और मेरी उपस्थिति से है।

दुश्मन की सेना आई। उसमें से एक महारथी डंडा लेकर आये और मामा को द्वार के साथ दबा दिया। वीर भार्गव के रुधिर की सरिता सरलता से बहती रुक गई। हमारा ताला टूट गया। जिस प्रकार 'ट्राय के गर्वपूर्ण कंगूरे' के आगे यूनानी और ट्रोजन वीरों के भाले और ढाल बिखर गए थे, जिस प्रकार लंकागढ़ के भव्य-कोट के आगे द्वापर युग के महारथियों के शस्त्रास्त्र बिखर गए थे, उसी प्रकार मुन्शी के टेकरे के स्थापत्य की इस अविस्मरणीय कलाकृति के आगे दो-दो तालों के टुकड़े भूमि पर बिखरे पड़े थे। अब यह विग्रह क्षुद्र, अर्वाचीन शौर्य-विहीन हो गया, वह महाकाव्य की वस्तु बनने से रह गया। देव-दानवों के महावीर सहचरों से हम वकील के गुमाश्ते के गुलाम बन गए। शाम को हमारी 'बारात' फौजदार के घर गई। हमने दावा किया, हमारे पड़ोसी ने 'तन्तुविग्रह' जारी रखने के प्रयत्न किये। 'खिड़की खाली करनी पड़ेगी, हवेलियाँ उठवाकर रहूँगा!' हमारे पड़ोसी ने कहा। जीजी-माँ ने घर-घर जाकर दस्तावेज़ इकट्ठे किये। अपने हाथ से उनकी नकल की। वृद्धों में से कौन गवाही देगा, यह निश्चित् किया। 'पाखाना पुराण' की सुनवाई होने की तैयारी हुई, अतः हम गवाहों के लिए दौड़-धूप करने लगे। मैं तो लाड़ला और सुकोमल था, किसी से विनती करना मुझे आता नहीं था। और दबाव कैसे डाला जा सकता था! कोई 'नहीं' कह देता, तो मुझे सिर कटने के सदृश दुःख होता। यदि मामा मुझे किसी के घर ले जाते, तो उसी रात को हमारे पड़ोसी वहाँ जा पहुँचते, मिन्नतें करते, सिफारिशें करवाते। 'पैसे वालों ने मुझे मार डाला—तुम क्यों हम गरीबों

को मार रहे हो ?' दूसरे दिन गवाह अदालत में आने से इन्कार कर देता और हम पुनः शिकारी कुत्ते की तरह उसके पीछे पड़ जाते।

डॉक्टर बरजोरजी गाँव के बड़े ही प्रतिष्ठित सज्जन थे। पिताजी के समय म्युनिसिपैलिटी में साथ थे। अनेक बार वे अहाते के द्वार से आये और गये थे। उन्होंने हमें गवाही देने के लिए आने की स्वीकृति दे दी। दूसरे दिन हमारे पड़ोसी एक सम्बन्धी को लेकर उनसे मिल आये। डॉक्टर बरजोरजी ने गवाही देने की अनिच्छा प्रकट करते हुए मुझे पत्र लिखा। मामा ने कहा—"कोई बात नहीं, हम इसे ठीक कर लेंगे।"

डॉक्टर बरजोरजी के अस्सी वर्षीय पिता सोराबशा सेठ, बड़े काका के पुराने मित्र, शहर के बाहर रहते थे। हम उनके पास पहुँचे। उन्होंने 'माणका के भाई' के पुत्र का प्रेम से स्वागत किया। 'कौनसा अहाता ? कौनसा गैरेज ? कौनसी खाड़ी ?' हमने उन्हें याद दिलाई। हमने बात की और सेठ को गुस्सा आ गया। "बरजोर इन्कार करता है ? 'माणका भाई' के लड़के की मदद नहीं करेगा, तो किसकी करेगा ? मैं कहूँगा उससे बेटा, घबराना मत।"

दूसरे दिन डॉक्टर बरजोरजी हमारे घर आये—"अरे, तुम बाबाजी से क्यों कहने गए ? मैं गवाही दूँगा। इसमें बात ही क्या है ?"

मुकदमा चला। तीन दिन मुझसे उलट-पलटकर जिरह की गई। दीवानी अदालत का, अभियुक्त के रूप में मुझे यह पहला अनुभव हुआ।

जीजी-माँ घर बैठकर नकलें करतीं। मिलने योग्य गवाहों से मिलतीं। 'पाखाना पुराण' से भार्गवों के टीलों में ज़ोरदार चर्चाएँ चल पड़ीं। हमारे पड़ोसी के मित्र कहने लगे—"अब टीला जगुसेठ का हो जाएगा।"

जीजी-माँ विचार करतीं—'हार गए, तो क्या होगा ?' मुझे हारने का दुःख नहीं था। हारने से भी अधिक दुःख तो इस बात से होता था कि अपने पड़ोसी के समान मेरी जीभ नहीं चलती थी। मैं अपने-आपको इसके लिए धिक्कारता था कि उसके समान उद्दण्डता से मुझसे बोला नहीं जाता था।

अन्त में हम जीत गए। यह फैसला हुआ कि अहाता पाखाना सबके, और द्वार हमारा। पड़ोसी ने अपील की और वहाँ भी हारा!

यह 'पाखाना-पुराण' १६१३ में हाईकोर्ट में समाप्त हुआ। मुन्शियों का स्थान टीले पर निर्भय और अचल रहा। इस प्रकार टीले का अन्तिम-विग्रह समाप्त हुआ। देवताओं ने पुष्पवृष्टि की या नहीं, यह तो ज्ञात नहीं, पर विपक्षियों के मुख से तो वह लगातार होती ही रही।

दस

नन्ही, सरल हृदया, विश्वासी लक्ष्मी, जीजी-माँ की योजना में शामिल हो गई थीं। केवल यह प्रश्न सास को उलझन में डालता था कि उसका अविकसित मानस पुत्रवधू बनने के योग्य कब होगा। परन्तु मैं मित्र के समीप हृदय खोलने का अवसर मिलने से घर में स्वस्थ और सन्तुष्ट रह सकता था। और लक्ष्मी के मूक आत्म-समर्पण में ऐसा प्रभाव था कि उसके प्रति असन्तोष व्यक्त करना बड़े अपराध के सदृश प्रतीत होता था।

१६०६ के अप्रैल में सत्र पूरा हो गया, इसलिए मुझे बम्बई में रहने की आवश्यकता न रही। उस समय मेरा स्वास्थ्य अधिक खराब हो रहा था, इससे डॉक्टर ने मुझे पढ़ना छोड़ देने के लिए कहा। परिणामस्वरूप मैंने हारमोनियम मंगवाया। मनु काका और रामलाल भाई थे ही। अतः हम तीनों ने एक ही शिक्षक रख लिया, जिसका वाचाल और विनोदी स्वभाव हमें संगीत से भी अधिक आनन्द देता था।

हमारे शिक्षक संगीत में बड़े निष्णात थे। उनके छोटे लड़के बहुत सुन्दर गाते और तबला तथा हारमोनियम बजाते। शहर के लोग इस शिक्षक से बड़े खुश रहते थे। उन्हें शिक्षा देने के लिए घर बुलाना तो भड़ौंच में प्रतिष्ठित नागरिक का लक्षण बन गया था। हमारे मास्टर आते, चुटकुले सुनाते, और जैसे शिष्य थे, वैसी ही शिक्षा देते।

एक शिष्य ने महीनों तक उन्हें पढ़ाने के लिए रख छोड़ा। वे आते, उनका लड़का गाता, खुद बजाते, घर संगीत से गूँज उठता और उन्हें

प्रतिमास वेतन मिल जाता।

मैंने पूछा—"इस शिष्य ने क्या सीखा ?"

मास्टर बोले—"बहुत-कुछ। आठ महीनों में मैंने उसे 'छोरी बामन की अंगिया पे अतर लगा के चली' सिखाया है। रोज़ ही 'छोरी बामन की' चिल्लाता रहता है। अभी 'छोरी' बनिये की नहीं हुई।"

मुझे स्वर का ज्ञान नहीं था, इसलिए मैंने 'हारमोनियम शिक्षिका' मँगाई और केवल स्मरण-शक्ति की सहायता से सैकड़ों गायन फटाफट बजाने शुरू कर दिए। इस यान्त्रिक अभ्यास के बदले स्वर परखना सीखा होता, तो आज वास्तविक संगीत से जिस प्रकार अछूता रहा हूँ, उस प्रकार न रहता।

भड़ौंच उस समय श्रद्धावान् शहर था। किसी भी धार्मिक ढोंग करने वाले नये आदमी को हमारे शहर में सुविधा मिल जाती थी। यज्ञ, सत्संग, कथा-वार्त्ता आदि जारी रहते थे। शंकराचार्य आते और जटाधारी योगी आते। कोई नागा महात्मा आकर गाँव के बाहर ठहरते। उनके दर्शन करने के लिए स्त्री-पुरुषों का ठट्ट जमा होता। किसी के घर कोई योगीन्द्र पधारते तो उनके लिए द्वार से लेकर घर के भीतर तक भूमि पर कपड़े बिछाए जाते। वे आते, पीताम्बर और नकली वर्क का मुकुट पहनकर। गली के सामने पहुँचने पर उनके साथ आयी हुई तीन-चार स्त्रियाँ बारी-बारी से चार पैरों पर घोड़ा बनतीं और योगीन्द्र उस घोड़े पर विराजमान होकर आते।

एक बार शहर में खबर फैली कि भागेकोट के घाट पर एक मंदिर में महादेव के शिव-लिंग की 'ओम् प्रतिष्ठा' की ज़रूरत है। सारा शहर उमड़ पड़ा। मन्दिर के पुनरुद्धार के लिए चन्दा किया गया। अच्छे-अच्छे लोग कहने लगे कि उस लिंग से गम्भीर शब्द निकलते हैं। 'ओम् प्रतिष्ठा' के प्रण किये गए। मैं भी देखने गया। 'हुँ···अ···हुँ···अ' का वाद अवश्य हो रहा था, यह उस भीड़ के बीच में से मैंने भी सुना। कुछ दिनों बाद आवाज़ बन्द हो गई। लोगों ने समझा कि अब चन्दे की रकम से

भगवान् शंकर सन्तुष्ट हो गए हैं।

जब मन्दिर बनने लगा, तब पानी निकलने के छिद्र में-से एक मरे हुए मेंढक का शव मिला।

प्रतिवर्ष एक योगिराज अपने शिष्यों-सहित नर्मदा-स्नान करने भड़ौंच आते और एक महीना रहा करते थे। नगर-निवासी उनका आतिथ्य करते और वे प्रवचन करते थे। वे प्रवचन मुझे सुन्दर, गम्भीर और प्रेरणा-मूलक जान पड़े। शिष्य बनने वालों को वे योग सिखाते थे। 'वर्ण-व्यवस्था ईश्वर की बनाई कैसे हो सकती है?' इस विषय में शंका उठाने मैं एक बार उनके पास गया था।

जीजी-माँ और चार अधेड़ आयु की विधवाओं का एक भक्त-मंडल था। वह रोज़ गीता पढ़ता और आपस में उसका विवेचन करता था। जीजी-माँ ने एक दिन मुझसे कहा—"योगिराज की एक शिष्या नर्मदा-स्नान करने भड़ौंच आई है, उसने भक्तमंडल में गीता पर बड़ा सुन्दर प्रवचन किया है।"

तीन-चार दिनों बाद बड़े ही भक्तिभाव से जीजी-माँ इस 'महात्मा' के नाम से परिचित होने वाली योगिराज की शिष्या को घर ले आईं।

'महात्मा' लम्बी, सत्ताईस वर्ष के लगभग, और रूपवान् न होने पर भी यौवन से प्रदीप्त महिला थीं। शरीर पर उन्होंने केवल सफेद वस्त्र पहन रखा था। उनकी बड़ी और तेजस्वी आँखों में केवल आध्यात्मिक तेज ही था, यह नहीं कहा जा सकता था। तीसरी मंज़िल के अपने बड़े कमरे में बैठकर मैं तबला बजा रहा था, तभी वहाँ 'महात्मा' आईं। मैं भी गीता और योग-सूत्र का रसिक था, अतः मैंने पूज्यभाव से नमस्कार किया।

मेरे तीसरी मंजिल के कमरे के पीछे छत थी। उसके पीछे एक हवा और रोशनी वाली कोठरी थी, जिसमें पुराना सामान पड़ा रहता था। सारा घर देखने के बाद 'महात्मा' को वह कोठरी पसन्द आई। जीजी-माँ ने उन्हें वहाँ रहने के लिए निमन्त्रित किया।

दूसरे दिन 'महात्मा' भोजन करने आईं। वे तेल-मिर्च नहीं खाती थीं। उनके लिए जीजी-माँ ने अलग से पकाया। एक सेर दूध के बिना उनका काम नहीं चलता था। वह भी मँगाया गया। खाते-खाते मैंने योगाभ्यास की बात छेड़ी।

मैं उस समय 'त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' को समझने के प्रयत्न कर रहा था। योगसूत्र के अनेक सूत्रों को समझ सकने में मैं असमर्थ था। मैंने प्रश्न किये। 'महात्मा' ने केवल 'शब्दाडम्बरपूर्ण' उत्तर दिये। अन्त में उन्होंने यह प्रतिपादन करना शुरू किया कि सब योगों में 'प्रेम-लक्षण-भक्ति' का योग श्रेष्ठ है। मैं तत्त्वज्ञान और योग की प्रक्रियाएँ सीखने के लिए उत्सुक था, इससे मेरा समाधान नहीं हुआ, परन्तु जीजी-माँ और उनकी मण्डली को 'महात्मा' की सुमधुर वाणी ने मुग्ध कर लिया।

जो भी हो, मुझे एक बात तो मान ही लेनी चाहिए; इससे पहले ऐसी विदुषी और वाचाल स्त्री के साथ मैंने कभी बात नहीं की थी। इससे यह बात पक्की है कि मुझे बहुत आनन्द आया।

उस रात ऊपर की कोठरी साफ नहीं हुई थी, इसलिए 'महात्मा' जीजी-माँ के साथ पहली मंज़िल में ही सोईं।

सवेरे जल्दी उठकर, नर्मदा में नहाकर, मंदिर में संध्या करके, आठ बजे के लगभग 'महात्मा' तीसरी मंज़िल पर, जहाँ मैं तबला बजा रहा था, आईं। मैंने उनका हृष्ट-पुष्ट शरीर देखा, तेजस्वी आँखें देखीं, और हृदय सिहर उठा। श्रद्धालु माता, छोटी बालिका वहू, एक ही एक जवान लाड़ला बेटा, बड़ी हवेली, तीसरी मंज़िल पिछली कोठरी और महीने-भर तक नर्मदा में नहाना! पैर से लेकर सिर तक मेरे शरीर में सिहरन व्याप्त हो गई। हमने उल्टी-सीधी बातें कीं और मुझे घबराहट हुई—'कहीं इस देवी ने चीख मारी तो मेरी इज्ज़त मिट्टी में मिल जाएगी!' यह भय मेरे हृदय में समा गया।

कोई बहाना खोजकर मैं दीवानखाने में उतर आया और उन्हें भी

बुला लिया। वहाँ हमारी खिड़कियों के सामने पड़ोसी की खिड़कियाँ पड़ती थीं। महम्मद आता-जाता रहता था। लक्ष्मी भी आती थी। वहाँ मैं निर्भय हो गया।

मैंने पुनः 'महात्मा' से उनके अपने विषय में पूछा—'योगिराज को छोड़कर तुम अकेली क्यों आईं ?"

"मेरी उनके साथ नहीं बनती। इस पत्र का मुझे उनको कड़ा उत्तर देना है।"

उन्होंने मुझे पत्र दिया। उसमें पूज्यपाद श्री महाराज योगिराज की आज्ञा से शिष्या श्री···को आज्ञा दी गई थी कि एक वर्ष के लिए पूज्यपाद ने उनका बहिष्कार किया है। इसलिए उन्हें किसी तीर्थ-स्थान में रहकर, जप-तप करके प्रायश्चित्त करना चाहिए।

"यह तो दण्ड दिया गया है। तुमने कोई अपराध किया मालूम होता है।" मैंने कहा।

यह मेरी मूर्खता थी। 'महात्मा' ने समझा कि मैं उनमें दिलचस्पी ले रहा हूँ, इसलिए उन्होंने इस प्रकार बातें करनी शुरू कीं, जैसे मुझसे बहुत पुराना परिचय हो। "योगिराज योग के अभ्यासी हैं, साथ ही वैद्य भी हैं और वाममार्गी भी। जब मैं सात वर्ष की थी, तब मेरी विधवा माँ ने मुझे योगिराज को समर्पण कर दिया। उनके आश्रम में मैं पढ़ी, होशियार हुई। उन्होंने मुझे मुख्यशिष्या बनाया। मैं उनकी पटरानी भी थी— परन्तु नियमानुकूल, हठयोग के शासन के अनुसार। गए वर्ष योगिराज बम्बई गये। वहाँ किसी और को प्रिया बनाया। मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ हँसी-मज़ाक करने लगी। योगिराज कुपित हुए। मैंने उत्तर दिया— "तुम दूसरी को पसन्द कर सकते हो, तो मैं क्यों न करूँ ? अन्त में योगिराज ने इस प्रकार बहिष्कार की आज्ञा दी है।"

घर की स्त्रियों के सिवा मेरा अन्य किसी स्त्री से परिचय नहीं था। मेरी कल्पना में जो नारी चित्रित थी, उसकी सर्वगुण-सम्पन्नता मेरे मन में हमेशा छाई रहती थी। भ्रष्ट स्त्रियों के विषय में बहुत पढ़ा था, पर

उसे दृष्टि से आज पहली बार ही देखा। जिस प्रकार केकड़े को देखकर कँपकँपी आती है, उसी प्रकार मुझे कँपकँपी आई और वहाँ से भाग जाने को मेरा मन करने लगा।

"तब तो तुम्हें दण्ड मिला है, क्यों?" मैंने पूछा, "यह नर्मदा-स्नान के लिए आई हो, यह बात झूठी है न?"

"मुझे दण्ड कैसा? मुझे एक मुँहतोड़ उत्तर लिख दो। मैं उन्हें समझ लूँगी।"

'महात्मा' की आँखों में खून उतर आया। ज्यों-त्यों बात खत्म करके मैं भोजन करने गया, और महात्मा ने झूले पर बैठे-बैठे भावपूर्ण स्वर में 'कन्हैया क्या जाने मेरी प्रीत' (कानुडो शुंजाणें मारी प्रीत) यह गीत गाना आरम्भ कर दिया। किसी प्रकार खाना खत्म करके मैं ऊपर जा बैठा। जीजी-माँ से कहने की हिम्मत नहीं हुई, कहीं वे मुझे ही खराब समझ बैठीं, तो! यह स्त्री यदि मुकर गई, तो मुझ पर ही आ बनेगी।

शाम को चार बजे के लगभग 'महात्मा' फिर ऊपर पधारीं। मैंने स्पष्ट कहा—"इस घर में तुम्हारे लिए स्थान नहीं है।" जीजी-माँ से यदि यह सब कह दूँ, तो सारा भक्त-मण्डल दुत्कारेगा, यह निश्चित् था। मैंने आगे कहा—"सबसे अच्छा रास्ता यह है कि तुम चाँदोद-जैसी जगह पर जाकर रहो। वहाँ प्रायश्चित्त भी कर सकोगी और लोग जान भी नहीं पाएँगे।"

'महात्मा' को मेरी सलाह पसन्द न आई। उन्होंने ऐसी धृष्टता से, जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था, सीधी बातें कीं—"मैं योग करती हूँ और हमारा तो हठयोग है, इसमें स्त्री को पुरुष के संसर्ग की आवश्यकता होती है। तुम मेरी सहायता न करोगे?"

यह निर्लज्जता देखकर मैं दंग रह गया। मेरा बश चलता तो पास पड़ा हुआ तबला मैं उसके सिर पर दे मारता, परन्तु मेरे मन में यह डर घुस बैठा था कि तनिक-सी भी अवज्ञा करने से यह मेरी फजीहत कर सकती है, इसलिए मैं सावधान हो गया। "मुझे इस बात पर विचार

करना चाहिए, कारण कि मैं इतना संस्कारी नहीं हूँ।"

"नहीं, तुम तो सब तरह से योग्य हो।"

मैं रास्ता खोज रहा था और वह मुझे मिल गया—"अभी तुम चाँदोद चलो। मैं तुम्हें वहाँ छोड़ आऊँ। फिर तुम वहाँ रहना। इतने में मुझे विचार करने का समय भी मिल जाएगा।"

"मैं चाँदोद में किसी को नहीं जानती।"

"परन्तु मैं तो जानता हूँ न, मैं तुम्हारे लिए सब तरह की सुविधा करवा दूँगा।" मैंने कहा। 'महात्मा' खुश हो गईं और 'कन्हैया क्या जाने मेरी प्रीत' गाते हुए नीचे उतर गईं।

मैंने जीजी-माँ को तीसरी मंज़िल पर बुलाकर सारी बात कही। उन्हें भी दोपहर से इस स्त्री के तौर-तरीके अच्छे नहीं लग रहे थे।

जीजी-माँ से चाँदोद जाने की अनुमति मिलने पर रात को 'महात्मा' तैयारी में व्यस्त रहीं। मैं भी तैयारी करने लगा और फिर तीसरी मंज़िल की सीढ़ी का दरवाज़ा बन्द करके सो गया। सवेरे जल्दी उठा और साढ़े आठ बजे 'महात्मा' के नदी से नहाकर आने के पहले भड़ौंच के स्टेशन पर पहुँच गया और पौने नौ बजे बड़ौदा की ट्रेन में बैठकर नौ-दो-ग्यारह हुआ।

जब मैं मनु काका के घर पहुँचा, तब मेरा कलेजा ठिकाने आया।

मेरे जाने के बाद जीजी-माँ ने महात्मा से कहा, "भाई तो काम से परदेश गया है, तुम्हें चाँदोद पहुँचाने के लिए महम्मद सिपाही तैयारी है।"

'महात्मा' की आँखों में आँसू आ गए।

इतने में हमारी जाति के दो आदमी—इस स्त्री ने एक दूसरे गाँव में भी ऐसी ही लीला की थी—उसके विषय में बात करने जीजी-माँ के पास पहुँचे। जीजी-माँ ने 'महात्मा' से घर छोड़ने के लिए साफ शब्दों में कह दिया। हमारी जाति वालों ने पुलिस का डर दिखाकर उन्हें किसी दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया।

जाते-जाते 'महात्मा' लक्ष्मी से कहती गई—"इस जन्म में तो 'भाई' मिलेंगे नहीं, परन्तु उनसे कहना कि दूसरे जन्म में भेंट होगी।"

मैंने यह संदेश सुना और मैं निश्चित हो गया। इस जन्म में तो मैं निर्भय हो ही गया था, आगे की बात आगे देखी जाएगी।

यह अनुभव 'अपराधी कौन' के कई परिच्छेदों के लिए पर्याप्त हो गया।

ग्यारह

१९०९-१० में मैं अपने अध्ययन में शिथिल हो गया था। मेरा अधिक समय मित्रों के साथ आनन्द मनाने में, गायन और टेनिस में, शहर की और जाति की चौधराई करने में बीतता था। फिर भी मैं अंग्रेज़ी में लेख लिखता रहा था और उनमें से अनेक Hidustan Review, Indian Ladies Magazine और East and West में प्रकाशित भी हुए। अपने कमरे के एकान्त भाषण करने का अभ्यास भी जारी ही था।

उस समय सिविल सर्विस के लिए विलायत जाने के मैंने बड़े प्रयत्न किये। मेरे मित्र धीरजलाल नाणावटी[1] ने मेरे लिए वहाँ पढ़ने और रहने की सुविधा कर रखी थी। बड़ा प्रश्न केवल यह था कि खर्च के पैसे कहाँ से लाए जाएँ। इस विषय में मनुकाका के मामा मंछाशंकर वकील ने मुझे पूरा प्रोत्साहन दिया।

जब से मैं बम्बई में आया, तभी से मुझे उनका सहारा था। मुझ पर उस बुद्धिमान् और व्यवहार-कुशल ज्ञानी का बड़ा प्रभाव पड़ा। वे स्माल कॉज़ कोर्ट में प्रमुख वकील थे और पीछे जाकर वहाँ न्यायाधीश नियुक्त हुए। उनका मित्र-मंडल विस्तृत था और वे स्वयं उसके सलाहकार और सहायक थे। वे व्यवहार में कभी चूकते नहीं थे और छोटी-से-छोटी उलझनों को भी सुलझाने में समर्थ थे। भूलेश्वर में स्थित 'गुजरात क्लब'

---

१. आधे रास्ते, पृष्ठ १८५।

के वे प्राण थे। वे रोज़ शाम को वहाँ बिलियर्डस् और चौसर खेलने जाया करते थे। ज्योतिष का उन्हें अगाध ज्ञान था और सारे जीवन को उन्होंने वेदान्त की सहायता से एक-रस बनाया था। मुझसे उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी। जब जाता, तब हँसकर बात करते और मेरी मुश्किलों को हल किया करते थे।

१-३-१९०९ के पत्र में मैंने मनुकाका को लिखा—

"क्लार्क (बड़ौदा कॉलेज के प्रिंसिपल) ने अभी प्रमाणपत्र नहीं भेजा। उनसे मिलकर तुम उसे तुरन्त भेजने का प्रबन्ध करना। कल ही मैंने अरज़ी दी है। टाटा के ऑफिस में कोई बड़ा आदमी है, उसे तुम्हारे मामा से कहने के लिए तैयार किया है। परन्तु मुझे 'स्कॉलरशिप' पाने का सौभाग्य मिलेगा, ऐसा मालूम नहीं होता, कारण कि अनेक उम्मीदवार मुझसे कहीं अधिक छोटी आयु के और अधिक बुद्धिमान् हैं। परन्तु यह तो नहीं कहा जाएगा कि छोटेपन से मैंने अपनी आकांक्षा सिद्ध करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न नहीं किया। क्या तुम जानते नहीं कि सिविल सर्विस के लिए मैं कितना लालायित हूँ और यह ध्येय सिद्ध न होने पर मुझे कितनी निराशा होगी?

"सरोजिनी नायडू नाम की कवियित्री के अत्यन्त सुन्दर वाग्वैभवशाली और उत्साहप्रद व्याख्यान सुन रहा हूँ। वास्तव में यह स्त्री अद्भुत है।"

मेरा सोचा हुआ ठीक रहा। मंछाशंकर काका मुझे पादशाह के पास ले गए और उन्होंने मुझे आशा छोड़ देने को कहा।

अन्त में मैं जुलाई १९१० में एल-एल० बी० की परीक्षा में पास हुआ।

मनुकाका को मैंने ता० १७ जुलाई के पत्र में लिखा—

"पास होने का समाचार सुना और मुझे ज़रा खेद हुआ। सुख हो या दुःख, मुझसे अकेले नहीं रहा जाता। परन्तु अब ठीक है⋯ज़रा पागल हो गया हूँ और मेरे पागलपन में पागलों से भी अधिक उन्माद है।

"मैंने कहीं पर एक कहानी पढ़ी, थी, जिसमें विवाह से अगली रात

को वर खो जाता है। परिणामस्वरूप कन्या पागल हो जाती है और फिर किसी के भी पैरों की आहट सुनने पर उसे जान पड़ता है कि उसका वर आ रहा है। वह प्रतीक्षा करती बैठी रहती है—अनेक वर्षों तक, जब तक स्वयं अनन्त में विलीन नहीं हो जाती तब तक।

"मेरी स्थिति उस कन्या-जैसी ही हो गई है। प्रत्येक डाक में जब बधाई के पत्रों का ढेर आता है, तब मेरा हृदय अप्राप्य के लिए तरसता है। जो बधाइयाँ नहीं आतीं, उनको पाने की आशा रखता हूँ। जो पत्र कभी नहीं आता, उसकी प्रतीक्षा करता हूँ और वह नहीं आता, इससे दुःख में डूब जाता हूँ। मुझे वेदनारहित आनन्द कभी प्राप्त नहीं होता।

"यह आशाविहीन पगला स्वप्न है, मेरे रुग्ण मन की मूर्खतापूर्ण कल्पना है। परन्तु बिना इसके मैं कैसे जी सकता हूँ? यह सारी विजय नीरस है। सारा जगत् सूना जान पड़ता है। जाने दो। भले ही भूतकाल इसके शवों को दफना दे···

"कल दक्षिण अफ्रीका के मि० एच० एस० एल० पोलक आये हैं और हमारे यहाँ अतिथि बनकर ठहरे हैं। लगभग १५ दिन में हम दक्षिण अफ्रीका के विषय में एक सभा करेंगे। मोतीलाल काका सभापति का स्थान लेंगे।"

उस समय भारत में गांधीजी का नाम सुनाई पडने लगा था। पोलक और हम बैठकर भारत के महान् पुरुषों के गुणगान कर रहे थे, कारण कि वे अनेक से मिलकर आये थे। मैं अरविन्द का भक्त था। पोलक ने कहा—"मैंने तुम्हारे सब महापुरुष देखे हैं। पर उसमें गांधी के जूतों के फ़ीते बाँधने लायक भी कोई नहीं है।" मुझे इससे बहुत बुरा लगा था, ऐसा याद है।

मंछाशंकर काका मेरे विलायत जाने के लिए दो-तीन आदमियों से पाँच-सात हज़ार रुपये इकट्ठे करने की योजना बनाने लगे। लगभग पाँच हज़ार जेवरों और ज़मीन से इकट्ठे करने का मेरा विचार था। मेरी धारणा थी कि दस-बारह हज़ार में मैं सिविल सर्विस में पास हो जाऊँगा, या

बैरिस्टर बनकर आऊँगा। जिस स्टीमर में जाना है, यह भी मैंने निश्चित् कर लिया। मैंने जीजी-माँ से बात की। उन्होंने ठाकुर मामा से कहा। दूसरे दिन, ब्याज के साथ कितना खर्च होगा, यदि फ़ेल हो गया तो क्या दशा होगी, आदि का मसविदा लेकर वे भाई-बहन मेरे पास आये। हिसाब-पर-हिसाब लगे। भविष्य भयंकर प्रतीत हुआ और विलायत जाने के मेरे प्रयत्नों पर पानी फिर गया। बहुत दिन तक मैं टूटे हुए हृदय से भाग्य को दोष देता रहा।

मेरे जीवन में अनेक बार ऐसा हुआ है कि इच्छित वस्तु न मिलने से लाभ हुआ है। कई वर्ष बाद धीरजलाल नाणावटी सिविल सर्विस में पास होकर, रंगून में 'लीगल रिमेम्ब्रेन्सर' के पद पर पहुँचे। उससे तंग होकर वे छुट्टी लेकर बम्बई में वकालत करने आये। एक बार जब हम बीती बातों का स्मरण कर रहे थे, तब उन्होंने विलायत में मेरे लिए की हुई तैयारी की चर्चा की। मैं जा न सका, इसके लिए मैंने दुःख प्रकट किया।

"वही तुम्हारे लिए धन्य क्षण था।" उन्होंने कहा, "आज जो कुछ भी हो, उसी क्षण ने तुम्हें बनाया है।"

२२ जुलाई को मैं डिग्री लेने बम्बई गया। यह विचार करने के लिए मैं मंछाशंकर काका के पास गया कि अब क्या करना चाहिए। उनके भाई जमीयतराम काका ऊपर रहते थे। अंग्रेज़ी पोशाक पहने हुए एक सज्जन ऊपर से उतरे और उन्होंने अन्दर झाँका।

"क्यों, मंछाशंकर भाई! तबीयत तो ठीक है न?" कहकर वे हँसे। मंछाशंकर काका ने उनका स्वागत किया।

"नहीं, मैं अब जाऊँगा, Good Night." कहकर वे चले गए।

"देखा, इसी का नाम है ग्रहदशा। इनको पहचाना?"

"नहीं।"

"ये हैं भूलाभाई देसाई, एडवोकेट, अहमदाबाद में प्रोफ़ेसर थे। आज चार हज़ार रुपया महीना कमा रहे हैं। ये कोई विलायत गये थे? तुम भी एडवोकेट बन जाओ। जगुभाई से पूछ आओ।" मंछाशंकर काका ने कहा

और इस परीक्षा के विषय में मुझे सब समझाया ।

इस प्रकार मेरे भविष्य के निर्माण में भूलाभाई अकस्मात् ही सहायक बन गए। परन्तु क्या इसे अकस्मात् कहा जाएगा? भूलाभाई और मैं सदा एक-दूसरे के साथ गुंथे हुए रहे हैं, इच्छा से या अनिच्छा से, उन दो तारों के समान, जो, दूर होते हुए भी पास-पास ही अनन्त व्योम में फिरते रहते हैं, एक-दूसरे से भिन्न होने पर भी एक-दूसरे से आकर्षित ।

मनु काका को भड़ौंच से मैंने २६-७-१६१० को एक पत्र लिखा—

"तुम्हें सिर-दर्द होता है, यह जानकर खेद हुआ। डॉक्टर से मिल लेना। कसरत करते हो न? पढ़ाई कैसी चल रही है? मुझे लगता है कि तुम हमेशा की तरह फिर सुस्ती में पड़ गए हो।

"मैंने एडवोकेट की परीक्षा के विषय में मालूम किया है। इस विषय में अधिक फिर लिखूंगा। मेरे स्वास्थ्य के कारण सब मुझे निरुत्साहित कर रहे हैं। सबके विरोध के आगे मैं अकेला ही दृढ़ और अटल हूँ। मुझे निरुत्साहित करने के इस प्रकार के प्रयत्नों से मेरा मन व्यग्र हो उठता है।

"ऐसे कार्यकलाप का क्या अर्थ है, जिसमें किसी की महत्त्वाकांक्षा को पोषण न मिले? सारा संसार मुझे उलटा घूमता नजर आता है।

"तुम्हारे नरूभाई ने मेरे आगे लम्बा भाषण किया। उन्होंने कहा कि यह व्यवसाय बहुत अच्छा है, इसमें पैसा भी खूब मिलता है, परन्तु उन्होंने इस विषय में सन्देह प्रकट किया कि इस व्यवसाय के लिए जितनी बुद्धि की आवश्यकता है, उतनी मुझमें है।

"मुझे तुम्हारे प्रतापी मामा की भव्य-उपस्थिति में भी दो क्षण बिताने का सम्मान प्राप्त हुआ। सच पूछो तो मैं ही वहाँ जा घुसा। मैंने उनसे प्रश्न किया कि मुझे क्या करना चाहिए? जवाब में वे दर्प के साथ कुछ क्षण मेरी ओर देखते रहे। फिर मानो प्रत्येक शब्द के लिए मुझे पचास रुपये का बिल देना हो इस प्रकार गंभीर आवाज़ में बोले— 'हाँ, अभी दो वर्ष और।'

"ऐसे सुन्दर भाषण के पश्चात् मुझे जितनी भी जल्दी हो सके भाग आना चाहिए था। मैंने वही किया।

"मुझसे अब बड़ौदा नहीं आया जाएगा। डिग्री प्राप्त करने के 'प्रहसन' के लिए बम्बई आया, इससे तबीयत खराब हो गई है। बीमार होकर पड़ा हूँ। दवाई पीता रहता हूँ। लायब्रेरी के लिए भी कुछ करना है। मि० पोलक फिर आने वाले हैं।"

नरूभाई थे नर्मदाशंकर सॉलिसिटर, मंछाशंकर काका के स्वर्गीय बड़े भाई के पुत्र, बाद में मेरे परम मित्र। मामा थे-मंछाशंकर काका के भाई जमीयतराम काका, जिनके साथ बाद में मेरा सम्बन्ध पिता-पुत्र की तरह हो गया। परन्तु उस समय उनको यह धारणा थी कि मैं शौकीन और ढीठ लड़का हूँ, और रत्न के समान उनके मनु को बिगाड़ रहा हूँ। मुझे ऐसा खयाल होता था कि उनका तेज स्वभाव पैसे के गर्व के कारण है। इस प्रकार हमारा सम्बन्ध Pride and Prejudice से आरम्भ हुआ।

उन्हीं दिनों मैं सख्त बीमार पड़ा।

"दवा और खूराक घड़ी की तरह नियमित चल रहे हैं। दिल खोलकर बात करने के लिए कोई मित्र नहीं है, ध्येय-जैसी कोई वस्तु तो है ही नहीं। चारों ओर अनेक पुस्तकें पड़ी हैं, पर पढ़ने की मनाही है। निर्बल शरीर क्षीण हो गया है। घर से बाहर सिर नहीं निकाला जाता, परन्तु मन छटपटा रहा है, उछल रहा है, शक्ति-प्रदर्शन के क्षेत्र खोजता है। मैं जंजीर से बँधे जानवर की तरह हो गया हूँ, जैसे भूखा जंगली चीता पिंजरे में तड़प रहा हो। इस प्रकार, सर वाल्टर स्काट ने 'Talisman' में रिचर्ड को वर्णित किया है, वैसा; जब दूसरे लोग युद्ध में लगे हों, तब स्वयं शैयावश होकर चिल्लाता हुआ।" १४-८-१९१०

"आज सुबह से शाम के पाँच बजे तक पेट में बड़ा सख्त दर्द हुआ, और मैं अकेला बिना परिचर्या के पड़ा रहा। बुढ़िया-नौमी थी, इससे किसी को मेरी ओर देखने की फुरसत नहीं थी। शरीर को जब इतना कष्ट हो, तब मानसिक दुःख भी होता ही है। ओंठ चबाकर, वेदना की

चीख को दबाकर, अकेलापन सहन करना ही मेरे भाग्य में लिखा है।

"यदि मैं शेयर गिरवी रखूँ, तो मोतीलाल काका छः हज़ार रुपये दे सकते हैं। पाँच प्रतिशत ब्याज होगा। परन्तु इतना कर्ज़ सिर पर लेकर बैरिस्टर बनना तो बड़ा महँगा पड़ेगा और व्यवसाय जमाते हुए पाँच वर्ष जो प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, तब तक खाऊँगा क्या ?

"दूसरी बात, कोआपरेटिव सोसाइटी के ऑडिटर की जगह खाली है। मोतीलाल काका ने अरज़ी देने के लिए कहा है। उनकी सिफारिश से डेढ़ सौ रुपये की नौकरी मिलेगी। अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर के मिलकर पाँच सौ रुपये होंगे। वे जनवरी में सनद के लिए काम आएँगे। नौकरी अच्छी है और एडवोकेट की सत्र-फीस में बाधा नहीं पड़ेगी। अंत में 'नहीं' कहना भी तो मेरे हाथ में है।" २७-९-१९१०

सरकारी नौकरी के लिए इस प्रकार मैंने एक पूरी अरज़ी दी। मैं किससे सलाह लूँ, यह मेरी समझ में नहीं आया। बम्बई जाने से मेरा निर्बल स्वास्थ्य बिगड़ने का डर था। इसलिए जीजी-माँ विरुद्ध थीं। ठाकुर मामा मुझे मुन्सिफ बनाना चाहते थे। औरों को भी यह पसन्द था। हमारे यहाँ पहले से ही एक चपरासी आगे और एक पीछे रहते आए हैं। यदि तुम मुन्सिफ़ बन जाओ तो फिर 'टीले की साहबी कायम रहे।' कौन कहेगा कि चपरासियों का विश्व में स्थान नहीं है !

मेरे पक्ष के सलाहकारों में मनु काका और बाला (मेरी भानजी) थे। बाला खुले दिल की और बहादुर थी। जीजी-माँ की पाली हुई होने से वह मेरी छोटी बहन के अभाव की मूर्ति थी। उसने कहा—"मामा, तुम हाईकोर्ट में जुट जाओ। फिर इन सबका बोलना बन्द हो जाएगा।"

ता० ३-१०-१९१० की रात को मैं बम्बई के लिए चल पड़ा। सबसे कहा—"मैं सनद लेने जा रहा हूँ।" मनु काका और मेरी भानजी दोनों जानते थे कि महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित मैं मरने के समान होकर पैसे और आधार से हीन—परन्तु फिर भी आशा रखकर—एडवोकेट की परीक्षा की पढ़ाई के लिए जा रहा था। उनको मुझ पर विश्वास था। उनका

यह नया प्रयास है और इसे निभाना कठिन मालूम होता है। परन्तु हिम्मत रखे बिना छुटकारा नहीं है। मनु काका भी मुझे सुखी होने में मदद देंगे।"

तीसरी जनवरी १९११ के दिन से मुरारजी गोकुलदास की नई चाल में बीस रुपये के किरायेदार के रूप में मैंने बम्बई में रहना शुरू किया। लक्ष्मी को भी घर से बुला लिया। बम्बई की नई दुनिया और पति का साथ मिलने से उसके आनन्द का पार न रहा। फिर साथ में मनु काका भी थे।

वे हर साल फेल ही होते रहे, और उनके पिता ने हमारे हठ के कारण उन्हें डिस्ट्रिक्ट प्लीडर की परीक्षा की तैयारी करने को बम्बई भेज दिया। वे अपने मामाओं के घर रह सकते थे जो यह सोचते थे कि मेरे कारण ही मनु काका की पढ़ाई खराब हो रही है; उनके पिता को विश्वास था कि मेरे बिना वे आगे नहीं पढ़ सकते। हम दोनों को साथ रहने का अवसर मिला, इससे हम बहुत प्रसन्न हुए।

मकान नया था, कमरे हवा-रोशनी वाले थे और नये जीवन का उत्साह था। खर्च का तीसरा हिस्सा मनु काका देने वाले थे और मेरे दो हिस्से ईश्वर पूरे करेगा, ऐसा मुझे विश्वास था। भड़ौंच से थोड़ा पुराना फरनीचर, बरतन और गद्दे लाकर हमने घर-बार का श्रीगणेश किया।

ता० ९-१-११ को लिखा है—

"दलपतराम मेरे लिए जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। मेरा सौभाग्य है कि मुझे उनके-जैसा मित्र मिला है, अन्यथा यह घर आदि की सारी व्यवस्था मैं अकेला क्योंकर कर सकता था? दुनियादारी का ज्ञान न होना भी एक दोष है। मुझे इसे दूर कर देना चाहिए।"

जमीयतराम काका की मेरे प्रति अच्छी धारणा नहीं थी, इसलिए उन्होंने मनु काका से मेरी संगति छुड़ाने के प्रयत्न किए। काका का बोलने का तरीका सख्त था और पसन्द न आने वाले आदमी के साथ वे हेठी का

व्यवहार करते थे। मैं अपनी गरीबी और ग की भावना के साथ १२-१-१६११ को उनसे मिला और घर आकर मैंने लिखा—

"मनु काका के मामा से मिला। बड़े ही अभिमानी हैं। व्यवसाय में सफलता मिली है, इससे दिमाग चढ़ा हुआ है। मैं चाहता हूँ कि वे बीस वर्ष और जीवित रहें। तभी उन्हें पता लगेगा कि विजय प्राप्त करने का ठेका अकेले उनका नहीं है। मैं उनके शब्दों को भूल नहीं सकता। मनु काका में अकारण आवेश नहीं है, इससे मुझे बहुत-कुछ सहन करना पड़ रहा है।"

इन शब्दों में बेहद अभिमान था। इस अवसर की बलिहारी कि हम दोनों बीस वर्ष जीवित रहे और एक-दूसरे को समझ सके।

जब हम बम्बई आये, तब मनु काका की और मेरी मैत्री का नया अध्याय शुरू हुआ। 'देवी' का दुखड़ा रोने की अब मुझे ज़रूरत नहीं थी। मनु काका को सुशील और समझदार स्त्री का आसरा था, इसलिए माँ के लिए रोने की आदत अब उनमें भी नहीं रही थी। अब हममें बाल-बुद्धि भी नहीं रह गई थी। मेरे साथ रहने से मेरी पैसे की कठिनाइयों को वे जान गए, इससे मुझे ऐसा लगा कि उनमें मेरे प्रति कुछ तिरस्कार उत्पन्न हो गया है। प्रशंसक के स्थान पर वे आलोचक प्रतिस्पर्धी बनने लगे।

जब मैं जीवन-संग्राम में ज्यों-त्यों करके जूझ रहा था, तब मेरे प्रोत्साहन के लिए आवश्यक था कि कोई मुझ पर आत्मश्रद्धा रखे, किन्तु मनु काका की आलोचनाएँ मेरे इस भाव को ठेस पहुँचातीं; और मैं मानो निःसत्व हुआ जा रहा था। हमारा साथ-साथ रहने का मूलतः उद्देश्य तो यह था कि मैं उन्हें पढ़ा-लिखाकर होशिआर कर दूँ, किन्तु मनु काका को अब यह क्रम खलने लगा। इस प्रकार जिस शौक से हमने साथ-साथ रहना शुरू किया था, वह नष्ट हो गया। और मेरे संकटपूर्ण दिनों में एक नई वेदना उत्पन्न हो गई।

हम अलग ही हो जाएँ, ऐसा व्यवहार भी हम अपना नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त इस मित्रता को अपनी नई समझ के अनुरूप बनाने का

न तो मुझमें ही धीरज था, और न ही मनु काका में शक्ति। फलतः हमने ज़रा-ज़रा-सी बात पर एक-दूसरे में दोष देखना शुरू कर दिया। हमें एक-दूसरे की आदतों और बातों में वैमनस्य दीखने लगा। मैं उन्हें पढ़ाने बैठता, तो पढ़ाई हो न पाती। हाँ, हममें से एक कुछ कह देता, तो हम लड़ने बैठ जाते, और घण्टों बाद फिर मेल हो पाता। छोटी-छोटी बात में मुझे अपमान नज़र आता और बुरा लगता। मैं क्षुब्ध होता, व्याकुल हो-हो जाता और मित्र की कृतघ्नता से उद्वेलित होकर पत्रों, लेखों और डायरियों के पन्ने-के-पन्ने लिख जाता।

ता० २०-२-१९११ को मनु काका के पिता का स्वर्गवास हो गया और हम दोनों भड़ौंच जा पहुँचे। उस दिन मुझे कठोर आघात पहुँचा। मुझे लगा कि मनु काका मित्र के रूप में किसी के साथ मेरा परिचय कराने में शरमाते हैं। ऐसी आपत्ति के समय भी मैं उदार हृदय न रख सका। उन पर आयी हुई नई ज़िम्मेदारी को मैं न्याय की दृष्टि से न देख सका। वे बम्बई आये और मेरी आँखों ने देखा कि जैसे वे भिन्न हो गए हों।

१९-३-१९११ को मैंने लिखा—

"अधिक खींचा जाएगा तो प्यार का तंतु किसी भी समय टूट जाएगा। प्यार बनाए रहने में ही सुख है। चाहे कोई प्यार न दे परन्तु मेरी बुद्धि पर उन्होंने जिस प्रकार की गुलामी जड़ दी है, उससे मुझे मुक्त होना चाहिए।"

यह कहानी मनु काका की नहीं, मेरी है। जिस प्रकार की वृत्ति होती, उसी प्रकार वे बरतते। उनके आचरण और शब्द भले ही निर्दोष होंगे, पर मुझे उनसे चोट-पर-चोट पहुँचती। यदि मैं अधिक समझदार होता, तो मैत्री और शक्ति, दोनों को सुरक्षित रखता। परन्तु वह बल कहाँ से लाता!

"इस गुलामी की हद हो गई, इस प्रकार मैं बार-बार लिखता हूँ। मनु काका का पत्र आया—काम का, संक्षिप्त और दर्पपूर्ण।"

२९-३-१९११ को मैंने लिखा—

"जिसे मेरी आवश्यकता नहीं है, उसके लिए सहानुभूति रखने वाला भावुक गधा मैं क्यों बना हुआ हूँ ? इस प्यार की शृंखला से मुझे अलग होना है। क्यों मैं प्यार की खोज में निकला हूँ ?"

मेरे पत्रों और लेखों की सरिता बिना संयम के, आकुलता से छलकती और आक्षेपों का कीचड़ उछलाती बहती जा रही है। फिर भी हम एक-दूसरे के साथ इस प्रकार गुँथ गए थे कि अलग न हो सके।

मनु काका को शायद ही दोष दिया जा सकता है। पिता की मृत्यु से उन्हें आघात पहुँचा था, अपने कुटुम्बजाल में वे पहली ही बार फँसे थे और वहाँ मेरा स्थान नहीं था। मैं पढ़ने के लिए उन्हें बम्बई आने को लिखता रहता, यह उन्हें अच्छा न लगता। जब मैं लापरवाही के आक्षेप करता, तो यह उनकी समझ में न आता। मैं उन्हें अपने वास्तविक रूप में दिखलाई पड़ा—गरीब और अभिमानी, सर्वस्व माँगने वाला मित्र; जिसकी मैत्री की व्याख्या उन्हें जेल की दीवारों की तरह घुटी-सी जान पड़ी। वे उकता गए थे; परन्तु उससे निकल भागना उन्हें आता नहीं था। चुप रहने की मन में आती, पर मौन धारण करने की उनमें या मुझमें शक्ति नहीं थी। मुझे क्षण-क्षण में अपमान मालूम होता। मैं क्रोध और दुःख के मारे उद्विग्न हो जाता और मेरे शरीर और मन पर इसका बड़ा बुरा असर पड़ता।

मैंने गीता की शरण ली। 'यः सर्वत्रानभिस्नेहः' बोल-बोलकर मैं शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न करता। परन्तु यह सरल नहीं था।

"ये दुःख आ पड़े हैं। मेरी तो कमर टूट गई है।" १५-६-१६११

● ● ●

"मनुभाई के साथ मेरे झगड़े चल रहे हैं। स्थिति यह है कि एक शब्द भी बोले बिना मुझे सहना, अपने स्वभाव को जीतना और अपमान को पी जाना है।" ११-७-१६११

● ● ●

"दो दिन बड़े खराब बीते। मनु काका जो चाहें, कहते रहें। मैं

हड्डियों का पिंजर हो गया हूँ, कौन जाने मेरा क्या होने वाला है ?"

१६-७-१६११

"मैं समय, पैसे और शरीर को व्यर्थ गँवा रहा हूँ। अथवा व्यर्थ ही झगड़ा कर रहा हूँ या शोक मनाता हूँ। मनु काका अनेक प्रकार से मुझे दोष देते हैं और अपनी निर्बलता का मूल मेरी मैत्री में ढूंढ़ते हैं।"

३०-७-१६११

● ● ●

"मनु काका के साथ बात करते हुए मैं अकारण ही गुस्से में आ गया। इस प्रकार कब तक काम चलेगा ? मुझे रास्ता ढूंढ़ना चाहिए।"

४-८-१६११

● ● ●

"मैंने उनके लिए जो हो सका, किया; मैं हार गया; अब मुझ पर ज़िम्मेदारी नहीं है।"

२०-८-१६११

दिसम्बर में मेरे एक मित्र की माता सख्त बीमार थीं। उनके साथ मैं डुम्मस गया। मुझे वायु-परिवर्तन और शान्ति की आवश्यकता थी। लक्ष्मी बहन के सम्पर्क में मुझे खूब शान्ति मिली।

लक्ष्मी बहन छोटी आयु में विधवा हो गई थीं। केवल एक पुत्र ही उनका सहारा था।

सम्मिलित परिवार में उस असहाय विधवा ने अपार दुःख सहन करके लड़के को पढ़ाया। चक्की चलाकर, कपड़े धोकर, पराये बच्चों को पाल-कर उसने सबको लज्जित कर दिया। अब बड़ी आयु में जब लड़का वकील हो गया और सुख के दिन आये, तब प्राणघातक रोग ने उन्हें शैया पर डाल दिया है।

समाज ने उन पर इतना जुल्म किया था, फिर भी उनके स्वभाव पर उसका एक भी आघात नहीं लगा था। वे उदार, क्षमाशील और माधुर्य-पूर्ण ही बनी रही थीं। 'लक्ष्मी बहन अर्थात् बुद्धिमत्ता' ऐसा सब मानते थे। सच पूछो तो उनका मीठा, विशाल-हृदयी स्नेह छोटे-बड़े सबको

अपना बना लेता था। उन्होंने बहुत सहा था, सहा भी था प्रसन्न-मुख से, और इसी में उन्होंने शक्ति और प्यार के तत्त्वों को पा लिया था।

मैं एक महीना उनके साथ रहा। वे बिस्तर से उठ नहीं सकती थीं, इसलिए मैं उनके पास बैठकर विनोदपूर्ण बातें करता रहता। उन्होंने अपनी उदारता से मुझे छोटा भाई बनाया। मैंने उनको बड़ी बहन माना। उन्होंने मुझे अपने अनुभव सुनाए। मैंने अपने दुःख रोए। मैं रो पड़ा—उनकी उदारता से आकर्षित होकर। समाज के दिये दुःखों को जिस अटल धीरज से और मिठास से उन्होंने सहा था, उसके आगे मेरे दुःख—जिन्हें मैं नोच-नोचकर बड़ा कर लेता था—तुच्छ मालूम हुए। उन्होंने मुझे सान्त्वना दी; शब्दों से नहीं परन्तु सहृदयता से—मुझे समझाकर। उनके साहचर्य से मैं अपने मन की व्यथा को कुछ अंशों में भुला सका।

२४-५-१९१२ को लक्ष्मी बहन का देहान्त हो गया। मैंने लिखा—

"यह आत्म-समर्पण की मूर्ति—उदार, पवित्र और उन्नत भावों की स्रोत—मेरी गुरु थी। उन्होंने मुझे सुख-दुःखानुभव के गौरव की शिक्षा दी।"

शिष्य सीख नहीं सका, इसमें गुरु का दोष नहीं था।

लक्ष्मी बहन मानवता के जीवित पराग के समान थीं। अत्याचार और दुःख को उन्होंने माधुर्य और सहृदयता प्राप्त करने की सीढ़ियाँ बना लिया था। हिन्दू समाज की रची हुई फाँसी पर लटककर, वेदना सह कर जीते-जी मरकर, औदार्य मूर्ति के रूप में उन्होंने पुनर्जीवन पाया था। उनकी सहृदयता हरेक को मोह लेती, उसका उद्धार करती उसे उन्नत करती। यदि हम सहृदयता को स्त्रीत्व का प्रथम अंग मानें, तो लक्ष्मी बहन स्त्रियों में श्रेष्ठ थीं।

२० नवम्बर को मैंने डुम्मस से 'बड़े, स्वतन्त्र और लायक बने हुए मित्र मनु काका' को अपने मैत्री-सम्बन्ध में हुए परिवर्तन के विषय में स्पष्ट शब्दों में लिखा। वह पत्र कटु कटाक्ष से भरा हुआ और अन्यायपूर्ण भी था। उस पत्र में इस प्रकार के शब्द थे—"बीते सुख से मनुष्य व्यथित होता है, उसी प्रकार मेरा भी व्यथित होना स्वाभाविक है। सभी

की रगों में शीतल और नपा तुला लहू नहीं बहा करता···तुम्हारा जन्म-दिन है, इसलिए लिख दिया है···परदा उठा दिया, अब शायद ही उठेगा। माफ करना।"

१९११ में अपने जन्म-दिन पर हमेशा की तरह मैंने वर्ष का लेखा लिख डाला। उसमें दिल के अनेक गुबार निकाले। पिता नहीं थे। पैसे की कमी थी। 'पाखाना-पुराण' के कारण और मनु काका के साथ के सम्बन्ध के कारण अनेक अपमान सहन किये थे। दाम्पत्य-जीवन में अपूर्णता थी। जीजी-माँ के दुःख के प्रत्याघात हो रहे थे। मन और शरीर को निर्बलता खटक रही थी। असन्तुष्ट और आकुल महत्त्वाकांक्षा के शूल हृदय को छेद रहे थे।

जीवन की सीधी चढ़ान पर चढ़ते हुए असीम कठिनाइयाँ मुझे नीचे को खींच रही थीं।

१९१२ के आरम्भ में बड़े दिन की छुट्टियों के बाद हम पुनः बम्बई आये। 'मनु काका फिर मित्र-भाव बढ़ाना चाहते हैं', यह मैंने ३-१-१९१२ को लिखा।

सौभाग्य से आचार्य अपने पिता और पत्नी को लेकर हमारे यहाँ अतिथि के रूप में आये और तीन महीने ठहरे। इससे हमारा संघर्ष कुछ कम हुआ। जून में डिस्ट्रिक्ट प्लीडर की परीक्षा होती थी, इसलिए मनु काका को तैयार करने का कर्तव्य-पालन मैंने आरम्भ किया। शिक्षक बनने का धीरज मुझमें कभी नहीं था; तिस पर यह शिष्य कहाँ था—बेकाबू मित्र !

मैंने अपने स्वास्थ्य के लिए गरमियों की छुट्टियाँ हजीरा में बिताने का निश्चय किया। इस रमणीक स्थान के लिए मुझमें बचपन से ही आकर्षण था। जीजी-माँ, लक्ष्मी, मनु काका और मैं हजीरा के लिए रवाना हुए। सूरत में कोई मित्र न होने से, रांदेर में पिताजी के कोई पुराने परिचित थे—जिनका नाम जीजी-माँ को याद था—उनको पत्र लिखा। उन्होंने हमें निमन्त्रण दिया।

सूरत के स्टेशन पर कोई लेने नहीं आया था। रात को किराये की

गाड़ी में हम अपने परिचित को ढूँढ़ते हुए रांदेर पहुँचे। नौ बजे के लग-भग उनके घर का पता लगा। वहाँ सुनसान था, पर सामने के घर से कोई पड़ोसी जाकर उन्हें बुला लाया। उन्होंने कहा—

"आज मेरा एक सम्बन्धी मर गया है। घर में कोई नहीं है। जरा रुको, मैं छत का दरवाज़ा खोले देता हूँ। गाड़ी वाले के साथ मैंने बात पक्की कर रखी है।"

यह सत्कार देखकर हम ठंडे पड़ गए। मैं गाड़ी वाले से मिल आया। हम भूखे होंगे, यह बात हमारा परिचित भूल गया था, इसलिए छोटी छत पर डिब्बा खोलकर, खाने के लिए जो कुछ साथ लाए थे, उसीसे भूख मिटाई और जैसे-तैसे रात बिताई।

सुबह चार बजे हम गाड़ी में बैठकर चल दिये। गाड़ी वाला भी रास्ते से अनजान था, इसलिए वह दो-एक बार रास्ता भूला। फिर अक्षय तृतीया के ज्वार के कारण पैदा हुए कीचड़ में गाड़ी के पहिये धँसने लगे। धूप भी निकल रही थी। चारों तरफ मृगमरीचिका नज़र आने लगी। थोड़ी देर तक तो ऐसा मालूम होने लगा कि गाड़ी कीचड़ में ही समा जाएगी। अन्त में जैसे-तैसे भरी दोपहरी में हम हजीरा पहुँचे। दूसरे दिन मैंने लिखा—

"हजीरा एक रमणीक स्थान है। पर मनु काका को पढ़ने की इच्छा नहीं होती।" २५-४-१९१२

"मनु काका का मन घर की ओर ही लगा है, उनका व्यवहार असह्य है। गीता ही मेरा आश्वासन है।" ५-५-१९१२

"अन्त में छुटकारा मिला। घर के लिए पागल मनु काका चले गए। मेरे दूर होने से वे बिलकुल नहीं पढ़ेंगे।" ६-५-१९१२

और इस प्रकार हमारी मित्रता का पहला अध्याय समाप्त हो गया।

इस छुटकारे से मुझे लाभ हुआ। अपना शरीर सुधारने और आठ महीनों बाद होने वाली परीक्षा की ओर मैं ध्यान लगा सका। मैंने भगवद्गीता और योगसूत्र का पुनः-पुनः पारायण किया और स्वास्थ्य भी

प्राप्त किया। जब हमने हजीरा छोड़ा, तब अपरिचित-उल्लास का मुझे अनुभव हुआ।

"हजीरा छोड़ा; सुन्दर, मनोरम हजीरा! वहाँ का वातावरण जितना प्रेरणा-मूलक था, उससे कहीं अधिक प्रेरणा-मूलक उसके संस्मरण थे। बरसों पुरानी बाल्य-काल के सपनों से अंकित वेदना भावुकता के प्रवाह में फूट निकली।"

मनु काका और मैं अलग तो हुए, पर हमारा बंधन अटूट था। जून में जब वे फेल हुए तो मामा के ऑफ़िस में क्लर्क की नौकरी कर ली और मुरारजी चाल में, उसी मंजिल पर अलग कमरा लेकर रहने लगे। जिस प्रकार मित्र-भाव से हम पहले रोज़ मिलते और बातें करते थे, उसी प्रकार अब भी करते। परन्तु अपनी डायरी में मैं अमित्र-भाव से टीका करता; और वे बिरादरी के लोगों के पास जाकर करते। इस प्रकार मेरे संकट में वृद्धि होती रही।

ज्यों-ज्यों जीवन बीतता गया, त्यों-त्यों बीच का अंतर भी बढ़ता गया; परन्तु प्यार के बन्धन शिथिल न पड़े। हम एक-दूसरे का सम्पर्क न छोड़ सके। मैं हमेशा सोचा करता कि क्या कभी पहले-जैसा अच्छा सम्बन्ध फिर स्थापित होगा?

१९१८-१९ से मनु काका के दिल में मेरे प्रति फिर सद्भाव उत्पन्न होने लगा। मेरा हृदय इतना चोट खा चुका था कि फिर से पहले की अवस्था लौटाने में मुझे देर लगी।

जब हम दोनों अधेड़ आयु के हुए, तब छिछोरेपन से ऊपर उठकर, अपनी मैत्री के अमर तत्त्वों को परख सके।

तेरह

इस सारे समय में नन्ही लक्ष्मी निःशब्द सेवा से मुझ पर अधिकार किये जा रही थी। उसकी सारी प्रवृत्ति का केन्द्र मैं ही था। मेरे उठने से पहले वह उठती और मेरे लिए सारी तैयारी कर रखती। मेरी आदत

और रुचि के अनुरूप खाना बनाती। यह कोई सरल काम नहीं था। मैं तो था हमेशा का कमजोर। जब तरंग में आ जाता तो अनजाने ही एक-दो रोटी अधिक खा जाता और बदहज़मी हो जाती। इससे परोसने वाले पर गुस्सा होता। बिना बताए दो मेहमानों को साथ ले आता और उनके लिए भी तैयारी की आशा रखता। दिन-भर का थका-माँदा आता, तो दो-एक झिड़कियाँ भी सुना देता।

लक्ष्मी ने इन सबके लिए अपूर्व सहिष्णुता पाई थी। वह बोलती कम थी। मुझसे उसे बड़ा डर लगता था। वह कभी थकती नहीं थी और थकती, तो पता नहीं लगने देती थी। वह कभी रोती नहीं थी, शिकायत नहीं करती थी। उसकी कोई सहेली नहीं थी और पढ़ने का शौक भी उसे नहीं था। सारा दिन वह घर के कामों में लगी रहती और कब पतिदेव रीझते हैं, इसी की प्रतीक्षा करती रहती।

उसकी सेवा ने मुझ पर शासन जमाना आरम्भ किया। दिन-भर वह घर में अकेली रहती, इससे मैं जल्दी घर आ जाता। ट्राम से उतरकर, शाम को जब मैं घर की ओर कदम बढ़ाता, तब रसोई तयार करके, खिड़की से मुँह निकाले मेरी प्रतीक्षा करती हुई वह खड़ी रहती। मुझे भी ऊपर देखने की आदत पड़ गई थी। उसे देखकर मेरे पैरों में नई चेतना आ जाती और मैं तेज़ी से सीढ़ियाँ चढ़ता। अपने लिए उसे इतना अधिक करते देखकर मेरा मनस्वी और स्वार्थी हृदय उसके वश होकर उसकी ओर ममता से झुकने लगा।

१६१२ के जनवरी मास में आचार्य येनांगयोंग (ब्रह्मदेश) में थे। वहाँ से वे अपने वृद्ध पिता से मिलने भारत आये। इस भय से कि कहीं पिता पुनः ब्रह्मदेश न जाने दें, उन्होंने अपने पिता दयाशंकर भाई को कच्छ से बम्बई बुलाया।

हमारे दो कमरों में मनु काका, लक्ष्मी और मैं, आचार्य, कमला भाभी, दयाशंकर भाई और उनके वृद्ध नौकर ओधवजी, इस प्रकार सात आदमी रहने लगे। पकाने वाली अकेली लक्ष्मी थी।

आचार्य और मैं अनेक वर्षों से साथ नहीं रहे थे। वह आनन्द मुझे अब मिला। उन लोगों के कच्छी शिष्टाचार इतने नवीन मालूम हुए कि हम लोगों का बड़ा मनोरंजन हुआ।

ससुर और कमला भाभी को एक-दूसरे के साथ कोई बात करनी होती, तो ओधवजी बीच में चौखट पर बैठ जाते और उन्हें ही सम्बोधन करके भिन्न-भिन्न कमरों में बैठकर ससुर-बहू बातें करते!

रात को हम लोग इन दो वृद्धों को घर छोड़कर चौपाटी पर या नाटक-सिनेमा देखने जाते। कमला भाभी और आचार्य उस समय स्वतन्त्रता से बातें करते। उनकी संगति में लक्ष्मी और मैं भी खुलने लगे। मैं भी सारा दिन काम करके थकी हुई लक्ष्मी को खुश रखने के प्रयत्न करता।

इस प्रकार आचार्य और कमला भाभी के हमारे यहाँ रहने से हम उनके ऋणी हुए। हमारे बीच का अन्तर दूर हो गया। परन्तु हमारे इस सहचार को न समझ सकने वाले मेरे अनेक सगे-सम्बन्धी व्याकुल हो उठे और पूछने लगे—

"तुम्हारे मेहमान कब जा रहे हैं?"

"आचार्य तो मेरे भाई से भी अधिक हैं। घर उन्हीं का तो है," मैं उत्तर देता।

मेरे एक दूर के मामा गुस्से में आ गए—"कनुभाई, तू तो मूर्ख है। मैं उपाय बताऊँ?"

"क्या?"

"शाम को जब मेहमान घर आने वाले हों, तब चौखट पर खड़े हो जाना और उनके आने पर वे सुन सकें, इस प्रकार अपनी बहू से कहना—"अरी, यह क्या कहती है? जानती नहीं कि आचार्य मेरे भाई हैं?" यह सुनकर तेरे मेहमान तुरन्त पूछेंगे—"क्या है, क्या है?" तब माथा ठोककर जवाब देना—"अरे भाई, जाने दो। स्त्री की बुद्धि गुद्दी में होती है। यह मूर्ख समझती नहीं कि तुम मेरे भाई के समान हो। रोज मुझसे पूछती रहती है कि तुम कब जाने वाले हो, कब जाने वाले हो। स्त्री की जाति,

इतना भी नहीं समझती, क्या किया जाए ?" इस प्रकार कहकर तू निःश्वास छोड़ना। इससे तेरे मेहमान दूसरी गाड़ी से ही खिसक जाएंगे।"

अप्रैल में अदालत बन्द हुई, इसलिए मेहमानों को घर सौंपकर हम भड़ौंच चले गए।

इसके पश्चात् कई सप्ताह वहाँ रहकर आचार्य ब्रह्मदेव वापस चले गये। उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि मुझ पर खर्च का भार बढ़ गया होगा; अतः कुछ दिन बाद उन्होंने सोने की एक चेन किसी बहाने से मुझे भेंट में भेजी।

पहले तो मुझे गुस्से में चेन वापस भेजने की इच्छा हुई, परन्तु फिर लोभ-वृत्ति की विजय होने से मैंने चेन को वापस न भेजकर बेच डाला और इससे थोड़ा कर्ज़ चुकाया।

इन तीन-चार महीनों में हमने खूब मज़े किये। लक्ष्मी और मैंने साथ-साथ हँसना, बोलना और आनन्द करना शुरू कर दिया।

मेरे निर्बल शरीर की वह रक्षक बन गई थी। मेरी निर्धनता की वह हिस्सेदार, और मेरी समृद्धि थी। जब कभी मैं बाहर से जला-भुना, व्याकुल या अपमानित होकर आता, तब विश्वासपूर्वक वह मेरी टोपी पकड़ने के लिए आगे बढ़ती और जगत् से चोट खाया हुआ मैं एकदम स्वस्थ हो जाता। घर पहुँचते ही वह मेरा हँसते हुए स्वागत करती, इससे मुझमें आत्माभिमान जागृत हो जाता।

मेरे सौभाग्य से मेरी कसौटी के समय मुझे निर्धनता में लक्ष्मी मिली। उसने मेरी शक्ति में अपना सर्वस्व देखा। मुझे कवच से परिवेष्टित करने वाली वह मेरी अभेद्यता की सृजन-कर्तृ थी। वह न होती, तो मेरा शरीर कब का टूट चुका होता।

उन दिनों मेरे पास दो अच्छी गरम पतलूनें थीं। अदालत में जाते समय मैं उन्हें बारी-बारी से पहना करता। उनकी क्रीज़ें ठीक रखने के लिए रोज़ रात को जब हम दोनों अकेले होते, तब उन पर ब्रश करके, ठीक से तह लगाकर, तकिये के नीचे रख लेता। यह काम लक्ष्मी करती और मैं

पास बैठकर अगले दिन के लिए जूतों पर पॉलिश करता।

इस प्रकार के दैनिक नित्य-कर्मों से हमारी हिस्सेदारी नये तन्तु से बँधने लगी। मेरे जीवन में इस प्रकार आकर लक्ष्मी मेरी बन गई अपने आत्म-समर्पण के अद्भुत जादू से।

उसका खिड़की के साथ टिका हुआ गोल सुन्दर मुख, अधीर आँखों से नीचे मार्ग पर मुझे खोजता हुआ, आज भी मेरी आँखों के आगे घूम रहा है।

हम एक साथ रहे, एक-दूसरे से अभ्यस्त हो गए। कुछ हँसे, कुछ बोले, कभी किसी मित्र के साथ रात को चौपाटी पर बैठकर गँडेरियाँ चूसते। इस प्रकार १६११ और १६१२ गुज़र गए और वह मेरे जीवन की भागिनी बनती गई।

'प्रिंस ऑफ डेस्टिनी' (Prince of Destiny) पढ़ा। अच्छी पुस्तक है। परन्तु भारत की समस्या बिना सुलझे ही रह गई। इसे पौर्वात्य बनना है या पाश्चात्य? इस पुस्तक में पश्चिम को अच्छी चेतावनी दी गई है। १५-४-१६११

२५ जुलाई को मैं चन्द्रशंकर के मंडल में गया। कान्तिलाल पंड्या ने 'शिक्षित भारतीयों पर संस्कृत का दायित्व' (The Claim of Sanskrit on Educated Indians) विषय पर भाषण दिया। असल में देखा जाए तो उस समय तक सारा मंडल 'गोवर्धनराम मंडल' था। प्रत्येक बार 'सरस्वती चन्द्र' से उद्धरण दिये जाते। उनके विचार और सिद्धान्त वेदवाक्य माने जाते। दो-चार ने कान्तिलाल के विचारों की भी पुष्टि की। मैं इस सभा में बोलते हुए घबराता था। इसका मुझे ख़याल नहीं था कि मैं कैसे बोलूँगा। एकान्त कमरे में, शीशे के आगे, कॉलेज के हॉल में, नर्मदा के पुल के नीचे मैंने अनेक भाषण अकेले-अकेले पढ़े और दिये थे। किस अवसर पर क्या बोलना चाहिए, इस विषय पर सुन्दर वाक्य लिखकर रट रखे थे। बड़ौदा कॉलेज के 'वाद-विवाद-मंडल' में बोलने के लिए मैं प्रसिद्ध था, परन्तु बम्बई के इन वाग्शास्त्रियों के बीच मेरी ज़बान

नहीं खुलती थी। कोई सोच ही नहीं सकता था कि मैं भी कुछ अच्छा बोल सकता हूँ।

आज मेरा दिमाग काबू में नहीं। भारत का गरीब युवक स्त्री-बच्चों को पाले या संस्कृत पढ़े? और गोवर्धनराम भाई ने कह दिया तो क्या हुआ? मैं उठा। वर्षों की तैयारी ने मेरी मदद की। अपनी विचित्र अंग्रेज़ी में तीखे तमतमाते ढंग से मैंने कान्तिलाल की खबर ली। मैं पौन घण्टे के लगभग बोलता रहा। जब मैंने अपना वक्तव्य समाप्त किया, तब तालियाँ मेरे कानों में कह रही थीं कि मैंने अपनी असीम प्रगति कर ली थी। सबने मेरा अभिनन्दन किया। चन्द्रशंकर ने तो मुझे गले से ही लगा लिया। वकील भाजेकर सभापति थे। उन्होंने अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की। सभा समाप्त हुई। थोड़े दिनों बाद न्याय-मूर्ति चन्दावरकर के सभापतित्व में पुनर्विवाह कानून के वार्षिक समारोह में बोलने का मुझे निमन्त्रण मिला। मैंने उसी रात को लिखा—

"सबने मुझे बधाइयाँ दीं। बड़ी जीत हुई। परन्तु अपने आनन्द और विजय का भागी किसे बनाऊँ? देवी तेरे बिना यह सब किस काम का है?"

चन्द्रशंकर उस समय एल-एल० बी० में पढ़ रहे थे। उनके सौजन्य और शीलता का उस समय मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। रोज़ शाम को वे गप्पें लड़ाने बैठते। फुरसत वाले और मित्र भी आते। उनकी पहली पत्नी वसन्तबा सबको चाय देतीं और फिर साहित्य की तथा अन्य बहुत-सी चर्चाएँ होतीं।

चौदह

१९०७ या १९०८ में जब मैं लॉ-क्लास से ट्राम में बैठकर घर आ रहा था, तब एक भाई मेरे निकट आकर बैठे।

"क्या पढ़ रहे हो?" उन्होंने पूछा।

"Guizot's English Revolution," मैंने उत्तर दिया।

"तुम पढ़ने के लिए पढ़ रहे हो या लिखने के लिए पढ़ रहे हो ?"

इस प्रश्न से मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। "पढ़ने,—और इच्छा हो तो लिखने के लिए।" मैंने उत्तर दिया। इस प्रकार मेरा और चन्द्रशंकर पंड्या का परिचय हुआ।

१६११ में जब मुरारजी गोकुलदास की चाल में रहने के लिए आया, तब चन्द्रशंकर पंड्या भी उसी मालिक की साथ वाली चाल में रह रहे थे।

इन चालों में नड़ियाद के अनेक नागरिक रहते थे। तब सुखनराम त्रिपाठी भी चाइनाबाग के बंगले में रहते थे। इन सबमें चन्द्रशंकर गोवर्धनराम के साहित्यिक उत्तराधिकारी माने जाते थे। वे सेठ मुरारजी के पौत्र सेठ रतनशी धरमशी मुरारजी के शिक्षक थे, इसलिए इस रूप में भी उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

चन्द्रशंकर में मित्रता करने और निभाने की अच्छी आदत थी। जो उनके परिचय में आता, उसके वे संरक्षक बन जाते और उनका सच्चा आकर्षण तो यह था कि जो भी उनके संसर्ग में आता, उससे इतना मधुर बोलने की कला उन्हें आती थी कि उसकी आत्म-श्रद्धा उनके प्रति अधिक बढ़ जाती।

आर्यसमाज-मन्दिर में प्रति रविवार को चन्द्रशंकर का मित्र-मण्डल भाषण करने के लिए एकत्र होता; उत्तमलाल त्रिवेदी, नगीनदास मास्टर, मनसुखलाल मास्टर, कान्तिलाल पंड्या, अम्बालाल जानी, नृसिंहदास विभाकर आदि उनमें मुख्य थे।

१६११ की १५ जनवरी को आर्यसमाज-मन्दिर की उस सभा में मैं भी चन्द्रशंकर के साथ गया। उस समय उस सभा का नाम 'दि यूनियन' था। बाद में वह 'गुर्जर सभा' कहलाने लगी। इस सभा के विषय में मैंने लिखा—

"सभापति ने असंबद्ध, अहंकारपूर्ण और उकताने वाला भाषण दिया। अन्य लोग ठीक बोले। विभाकर ही अकेले अच्छे वक्ता थे। उनके मुकाबले में मैं कहाँ ? बम्बई अपनी शक्ति-परीक्षा का अच्छा क्षेत्र है।"

मैं देहाती कॉलेज का था। मुझे अँग्रेज़ी में बातचीत करना नहीं आता था, इससे मुझे लगा कि बम्बई कॉलेज के विद्यार्थियों से मैं बहुत पीछे हूँ, और इस हीन मनःस्थिति के कारण मुझे बड़ा संकोच होता।

मैंने यह संकल्प किया कि मुझे अँग्रेज़ी में बातचीत करना सीखना चाहिए।

मैं दूसरी बार सभा में गया—

"मणिशंकर रत्नजी भट्ट (कान्त) का भाषण सुना; अच्छा बोलते हैं, परन्तु अव्यवस्थित। फतहचन्द लालन अच्छे वक्ता हैं।"

परन्तु अपने-आपको इस मण्डल में शामिल होने लायक न समझकर मैं अलग रहता और उनकी गुजराती तथा अँग्रेज़ी बोलने की कला पर मुग्ध हो जाता। मेरे मन में रह-रहकर आता कि कब मुझे भी इस प्रकार बोलना आ जाएगा।

मेरा दूसरा मित्र-मंडल बड़ौदा कॉलेज के साथियों में से था। उसके प्रमुख थे विट्ठलदास अंकलेखरिया—जो आगे जाकर एलफिन्स्टन हाईस्कूल के प्रिंसिपल बन गए थे। २६ मार्च को इन मित्रों के साथ मैं दादाभाई नौरोजी के दर्शन करने बरसोवा गया—

"बरसोवा बड़ी सुन्दर जगह है। उन्होंने बड़े उत्साह से हमारा स्वागत किया। पचासी वर्ष के होने पर भी वे अभी सशक्त हैं, पर बोलते हुए हाँफने लगते हैं। वे सादा जीवन बिता रहे हैं। उनका निवास-स्थान बड़े कलात्मक रूप से सँवारा हुआ है। बिना आडम्बर के जीवित रहना उन्होंने जाना और अब विश्राम लेना भी जानते हैं। सार्थक जीवन और भव्य वृद्धत्व।"

सब पर गोवर्धनराम का गहरा प्रभाव था। सब 'सरस्वती चन्द्र' को धर्मशास्त्र मानते। 'गोवर्धनभाई' ने किस अवसर पर क्या कहा और कैसा बरताव किया, उसके संस्मरण वहाँ ताज़े होते। कभी-कभी वहाँ नरसिंहराव या बलवन्तराव ठाकुर भी आते। किसी ने कुछ लिखा होता, तो वह वहाँ पढ़कर सुनाया जाता।

चन्द्रशंकर उस समय 'समालोचक' का संचालन करते थे। अंबालाल जानी 'गुजराती' के उप-सम्पादक थे।

मुझे पहली बार ऐसा मंडल मिला, जो साहित्य को जीवन का प्रथम अंग मानता था। उत्तमलाल त्रिवेदी आयु में बड़े थे, पर इस मण्डल में विद्वत्ता की कमी पूरी करते थे। वे मुरारजी गोकुलदास की नयी चाल में पहली मंजिल पर रहते और वकालत करते थे। किसी समय उनके पास खूब पैसा था, परन्तु नये राष्ट्रीय उद्योग शुरू करने की लगन में उन्होंने पैसा खो दिया था। मुख्य रूप से वे सरस्वती के भक्त थे। उनका सारा कमरा पुस्तकों से भरा था। साहित्य, तत्त्वज्ञान, संस्कृत, अर्थशास्त्र और राजनीति के वे ज्ञाता थे।

उनका कोमल शान्त स्वभाव जिस प्रकार सबको आकर्षित करता था, उसी प्रकार उसने मुझे भी आकर्षित किया। सीढ़ियाँ उतरते या चढ़ते मेरी आवाज़ सुनकर वे मुझे बुलाते और हम लोग अनेक विषयों पर चर्चा करते। विपक्ष में बोलने की उनमें अच्छी शक्ति थी। अनेक विषयों में उन्होंने मुझे नये ढंग से विचार करने की प्रेरणा दी। उस समय वे तिलक महाराज के 'कर्मयोग' का गुजराती में अनुवाद कर रहे थे। कभी-कभी उसे भी पढ़कर सुनाते।

चन्द्रशंकर का दरबार रोज़ बड़ी गम्भीरता और ज़रा आडम्बर से दुनिया के प्रश्नों का निराकरण करने के प्रयत्न किया करता। पर उन सबके पीछे से ऐसी ध्वनि आती रहती थी कि हम शहरी लोग विशेषकर नड़ियाद के, अन्य सबसे भिन्न और बढ़कर हैं। और इसमें उनका दोष नहीं था। उनके रक्षक हुए, नड़ियाद के मनसुखराम, मणिलाल नभुभाई, गोवर्धनराम, बालाशंकर, दौलतराम पंड्या, छगनलाल पंड्या। इन सबके द्वारा गुजराती साहित्य में युग प्रवर्तित हुआ था। उन्होंने गुजराती साहित्य की एक पूर्ण प्रेरक महान् कृति 'सरस्वती चन्द्र' के द्वारा गुजरात का निर्माण किया था। मनसुखराम ने जीवनपर्यन्त काठियावाड़ के देशी नरेशों पर राज्य किया था। नड़ियाद ने पुराने विचारों को नया रूप देकर

गुजरात के संस्कारों की रक्षा की थी।

यह मण्डल इस सारी कीर्ति और सिद्धि का उत्तराधिकारी था। इसके संस्कारों का इन साहित्यकारों ने निर्माण किया, उन्हें प्रेरणा दी थी। साहित्यमय जीवन इसकी सृष्टि थी। उच्च अभिलाषाएँ रखना और भावनाओं का पोषण करना इसने अपना धर्म माना था। इसका रचा हुआ वातावरण हीनता या गँवारपन से कलुषित नहीं होता था। इसमें घुल-मिल जाना मेरा सौभाग्य था।

इस मण्डल में मैं तुरन्त मिल गया। गुजराती के सिवा अन्य साहित्य भी मैंने बहुत पढ़े थे। साहित्यिक जीवन मुझे प्रिय था। भावनाओं के अनुसार जीने के प्रयत्न तो मैं करता ही रहता था। संस्कारों की ओर मेरी बड़ी रुचि थी। जलमुर्गी को जल पाकर जैसा आनन्द आता है, वैसा ही आनन्द मुझे आया।

मैं भी अपने साथ कुछ नवीन तत्त्व लेकर आया। यूरोपीय साहित्य के अध्ययन से एकपक्षी बनी हुई मेरी दृष्टि, वाणी से झरते हुए विनोद, कटाक्ष और विचित्रता, कभी स्वच्छन्द और अनियन्त्रित, कभी सुरुचिहीन सर्व-ग्राही खण्डन-शक्ति, मेरा गुजराती का घोर अज्ञान और अरविन्द की राष्ट्रीयता—इन सबसे मैं भिन्नता उपस्थित करता।

सारा मण्डल, और विशेषकर चन्द्रशंकर जब बातों की गम्भीरतापूर्वक चर्चा करते तो मेरी विनोद-वृत्ति जाग उठती और मेरे मुँह से कुछ-न-कुछ भयंकर बात निकल जाती। इसमें मास्टर मेरे साथ होते थे। उनकी संयमी परन्तु तीक्ष्ण विनोद-वृत्ति भी मेरी तरह कभी-कभी उग्र हो जाती थी। सबकी स्वस्थ और गम्भीर आत्माएँ इस प्रकार की अरुचिकर बात से बेचैन हो उठती थीं। परन्तु फिर भी उन सबने अपने प्रेम और उदार-भाव से मुझे अपना बना लिया।

एक बार चन्द्रशंकर, नया कमरा किस प्रकार सजाया जाए, इस विषय में किसी मित्र से की हुई अपनी बातें सुना रहे थे। चारपाई कहाँ रखी जाए, अलमारी कहाँ खड़ी की जाए, मेज़ को कहाँ रखा जाए!

चन्द्रशंकर ने बढ़ा-चढ़ाकर सारे प्रश्नों की ऐसी चर्चा की कि मेरा सिर चकराने लगा।

"चन्द्रशंकर," मैंने कहा, "ये सब व्यर्थ की बातें हैं। घर की स्वामिनी नववधू, जिसमें अधिक-से-अधिक आकर्षण मालूम हो, वही सबसे अच्छी सजावट है।"

मण्डल के, जातीय विषयों को बहुत ही दूर से, यथासम्भव संस्कृत काव्य से या 'सरस्वती चन्द्र' की किन्हीं पंक्तियों से स्पर्श करना, इस नियम को मैंने तोड़ना आरम्भ कर दिया था।

चन्द्रशंकर ने एक कविता लिखी थी। उसमें 'गरम-गरम चुम्बन' ('ऊनाँ ऊनाँ चुंबनो') शब्दों का प्रयोग किया था। जब मैं पहुँचा, तब इन शब्दों के औचित्य के विषय में चर्चा चल रही थी। एक मित्र चुम्बनों के क्या-क्या विशेषण हो सकते हैं, इस विषय पर विद्वत्तापूर्ण विचार प्रकट कर रहे थे। मैंने कहा, "ये शब्द कविता में होने ही नहीं चाहिएँ। सारा वर्णन नीरस है। गरम-गरम चुम्बन तो अंग्रेज़ी कवियों के 'hot kisses' का अनुवाद है। ठंडे इंगलैंड में गरम चुम्बन आकर्षक लग सकते हैं, गरमी देने वाले हो सकते हैं, परन्तु गरम भारत में तो इनसे जलने का दाग बन जाएगा। यदि ये आकर्षक न हुए, तो फिर सरस तो हो ही कैसे सकते हैं? इसलिए ये कविता में शोभा नहीं दे सकते।"

एक और भी प्रसंग याद है; यद्यपि यह मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि उसमें भी मैंने सुरुचि को भंग किया था। एक बार चन्द्रशंकर मुझे किसी के यहाँ ले गए। वहाँ अनेक मित्र चाय पीने के लिए एकत्र हुए थे। चन्द्रशंकर का मैं मित्र था, इससे अनेक लोग मुझे भी नागर समझते थे। उस दिन मेरी आवाज़ बिलकुल बैठी हुई थी, इससे मैं बोल नहीं सकता था।

बातों-ही-बातों में किसी ने, 'नागर जाति की सुन्दरियों में ग्रीक-सौन्दर्य मिलता है', किसी पुरातत्ववेत्ता के इस कथन का प्रतिपादन करना शुरू कर दिया। दूसरे ने अनुमोदन किया। तीसरे ने नाक और आँखों के रंग का वर्णन किया। चन्द्रशंकर घबराहट से मेरी ओर देखते रहे; कहीं मैं न

कुछ कह बैठूं।

कुछेक को छोड़कर समस्त गुजराती जनता के शारीरिक सौन्दर्य के विषय में मेरा मत बहुत खराब था, और आज भी है। ग्रीक की सौन्दर्य-मूर्तियों पर तो मैं बचपन से ही मुग्ध था। कॉलेज के दिनों से ही मैंने 'वीनस डमिलो' के मुख के चित्र को फ्रेम करवाके रखा था। इसकी भी एक दिलचस्प कहानी है। एक नये परिचित आये, मुझसे बातचीत की और मेरे कमरे की तस्वीरें देखने लगे। टेबल पर वीनस का वह चित्र था। उन्होंने पूछा—

"ये कौन हैं ? श्रीमती मुन्शी ?"

By all the Gods of Olympus ! मुझे ऐसे लगा कि मैं अचेत हुआ जा रहा हूँ।

ग्रीक-सौन्दर्य के विषय में चन्द्रशंकर के इस मण्डल की आज़ादी से मेरा सिर भन्ना उठा। जैसे-तैसे आवाज़ निकालकर मैंने कहा—

"यदि तुम लोगों की बात सच है और हममें ग्रीक-सौन्दर्य का अंश है, तो हम जैसों को पैदा करने के लिए तो बेहद बदसूरती इकट्ठी की गई होगी।"

चन्द्रशंकर और उनके प्रिय मित्र मनसुखलाल मास्टर इस मित्र-मण्डल की धुरी थे। प्रेमी मास्टर को मित्र बनाना और सँभालना आता था। उन्होंने मुझे भी अपनाया। उनकी पत्नी तारा बहन मैट्रिक पास थीं। ऐसी स्त्री के साथ बातचीत करना उस समय का एक बहुत बड़ा आनन्द था, इसलिए पहली बार उनके यहाँ सांताक्रुज में बड़े शौक से गया। और फिर प्रत्येक शनिवार या रविवार को मास्टर के यहाँ जाना एक विशेष नियम बन गया। तारा बहन के पिता डॉक्टर खाँडवाला अपने समय के एक सुधारक और आर्यसमाजी थे। उनके परिवार का वातावरण स्वतन्त्र और खुश-मिजाज़ था। मास्टर के साथ का सम्बन्ध मेरे लिए नया अनुभव था।

मास्टर बड़ी गरीबी में पले थे। ट्यूशन करके पढ़े थे और १९११

में हाजीभाई लालजी के यहाँ नौकरी करते थे। आज वे भारत में बेजोड़ 'सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' के मुख्य संचालक-मंत्री हैं। समकालीन भारत के उद्योग-क्षेत्र में ज्वलंत सिद्धि प्राप्त करने वाले सेठ वालचन्द हीराचन्द के पीछे, इनकी प्रामाणिकता, व्यवस्था-शक्ति और निश्चयात्मकता सहायक-रूप बनी है। भारत के औद्योगिक विकास में इनका बहुत बड़ा हाथ है। इनका नाम अखबारों में नहीं चमकता, परन्तु काबिल गुजरातियों में इनका अग्रगण्य स्थान है।

१९१३ में चन्द्रशंकर के बड़े मण्डल में एक छोटा मित्र-मण्डल बना। उसका नाम मैंने 'षड्रिपुमण्डल' रखा था। उसमें मैं, चन्द्रशंकर, मास्टर, कान्तिलाल पंड्या, नृसिंह विभाकर और इन्दुलाल याज्ञिक थे। इन छहों में मास्टर का और मेरा विचित्र रूप से सम्बन्ध बँध गया। उद्योग में पड़कर मास्टर ने साहित्य छोड़ दिया, परन्तु उनकी रसिकता स्थिर रही। अनेक बार मैंने उन्हें अपने सुख-दुःख का भागी वनाया है और आज भी हम दोनों परम मित्र हैं। जीवन के एक धन्य क्षण में, जिसे वे भांजा मानते थे, उसके साथ भी उन्होंने ही परिचय कराया। आज हम दोनों समधी हैं।

उस समय न्यायमूर्त्ति नारायण चंदावरकर—शायद तब 'सर' नहीं बने थे—हर रविवार को 'स्टुडेंट्स ब्रदरहुड' में व्याख्यान दिया करते थे। विद्यार्थियों को उनसे प्रेरणा मिलती थी। वहाँ Social Reform Association का समारम्भ हुआ। मैं विधवाओं की दशा पर बोला और चन्दावरकर ने खुली सभा में मेरा अभिनन्दन किया। इसके बाद मुझमें कुछ आत्म-विश्वास उत्पन्न हुआ।

चन्द्रशंकर के मण्डल ने भी मुझे खूब प्रोत्साहन दिया। 'दि यूनियन' में होने वाले वाद-विवादों में मैं खूब दिलचस्पी लेने लगा। इस मण्डल में प्रगतिशील गुजराती साहित्य के प्रति मुझमें प्रेम जागृत होने लगा और मैंने गुजराती में पत्र-व्यवहार करना आरम्भ कर दिया।

१९१२ के शुरू में 'स्टुडेंट्स ब्रदरहुड' की ओर से 'Theory and

Practice of Social Service' विषय पर 'मोतीवाला पारितोषिक निबन्ध' की घोषणा हुई। दलपतराम मुझे मोतीवाला के पास ले गए और उन्होंने मुझे समाज-सेवा पर प्रकाशित हुई अनेक पुस्तकें दीं। मैंने निबन्ध लिखा। अन्तिम तारीख (३१-१-१२) को शाम के सात बजे मैं मंत्री के यहाँ गया और निबन्ध दे आया। पारितोषिक मुझे मिला। 'प्रेसिडेन्सी एसोसिएशन' लेडी रतन टाटा के हाथों प्रदान किया गया। चन्द्रशंकर और मास्टर को बड़ा हर्ष हुआ।

किसी ने मास्टर से पूछा कि मैं किस कॉलेज से आया हूँ। उन्होंने कहा—"बड़ौदा कॉलेज।"

पूछने वाले ने तिरस्कार प्रदर्शित किया।

"जब ये बोलें, तब सुनना और उसके बाद बड़ौदा कॉलेज का अन्दाज़ा करना," मास्टर ने भी चिढ़कर वैसे ही तिरस्कार से कहा।

एक दिन एक पत्र आया। किसी गुजराती पिता की शिक्षित लड़की मुग्ध हो गई है और मुझसे मिलना चाहती है। पहले तो मैं सोच में पड़ गया। फिर शब्दों से कुछ मज़ाक का आभास हुआ। विचार में डूबा हुआ मैं चन्द्रशंकर से मिला। वे भी गम्भीर सोच में पड़े थे।

"मुन्शी, भाषण खत्म होने पर हम साथ ही चले थे, नहीं?"

"हाँ।"

"कौन-कौन लड़कियाँ हमें मिली थीं, याद है?···बहन थीं?"

"मैं ठीक पहचानता नहीं हूँ।"

"वही होंगी। किसी से कहना मत। इसे पढ़ो।"

यह कहकर उन्होंने मेरे पत्र-जैसा ही दूसरा पत्र मुझे दिखाया। उसमें वह अज्ञात बाला चन्द्रशंकर के संस्कारयुक्त लेखों पर मुग्ध हो गई थी और उनसे मिलना चाहती थी।

मैं अपना पत्र ले आया। हमने दोनों पत्रों का मिलान किया और इस निश्चय पर आए कि यह मास्टर ने ही मज़ाक किया है। यह विश्वास होने पर हम दोनों में से किसका चेहरा उतर गया, यह मैं नहीं बता

सकता !

१६१२ में हमने सभा का पुर्निर्माण किया। उसका नाम 'गुर्जर सभा' रखा और जहाँ तक मुझे याद है, उसका एक मंत्री बनने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था।

साथ-ही-साथ भड़ौंच, सूरत और मांडवी के भार्गवों के तीन विभागों को एक करने के लिए हमने एक मण्डल स्थापित किया और मैं नरुभाई के साथ सह-मंत्री बना। अगस्त में 'भार्गव त्रैमासिक' निकला और मैं संपादक बना। संपादक बनने का यह मेरा पहला अनुभव था। कागज़ लाने, छपवाने और वन्द करने आदि का सारा काम दलपतराम और मैं करते। सब बिरादरियों के पत्रों के संपादकों की परिषद् स्थापित करने में भी मैंने हिस्सा लिया। 'समाज-सुधार कान्फ्रेंस' का भी एक वर्ष मन्त्री रहा। देवधर के साथ 'सोशल सर्विस लीग' के काम में भी सहायता दी—इसी वर्ष या अगले वर्ष, यह याद नहीं।

१६१० में भड़ौंच की बिरादरी में माधुभाई साहब और मैंने मिलकर जो 'शिक्षा फंड' खोला था, उसे सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न भी किये। इस प्रकार मैं चारों ओर तन्मयता दिखलाता गया। जातीय कर्तव्यों में अपनी सक्रियता के कारण मैं जमीयतराम काका के निकट सम्पर्क में आया। जाति-सुधार के प्रति मेरा उत्साह और प्रयास उन्हें जंचा और मेरे विषय में उनका पहला मत बदल गया।

"भाई," एक बार उन्होंने कहा, "यह बी० ए० की परीक्षा नहीं है कि उड़ते-उड़ते पास हो जाओगे। ध्यान रखना।"

पन्द्रह

१६१२ की दीपावली पर जीवन में नया उत्साह आता जान पड़ा।

"आज चढ़ता साल है। भविष्य अच्छा होता दीख रहा है। नये जीवन में नई आशाएँ संचरित हो रही हैं। यह दीवाली सारे परिवार के साथ सुख और शान्ति से बिताई।" १०-११-१६१२

१८ नवम्बर को परीक्षा की तैयारी करने के लिए लक्ष्मी और मैं मंछाशंकर काका के डुम्मस वाले बँगले पर गये। वहाँ कुछ पुरानी स्मृतियाँ ताज़ी हुईं। दो-एक दिन 'डायरी' रोती रही, व्याकुल होती रही और फिर पढ़ाई के बोझ से समझदार बन गई।

उस समय मैं 'नियतं कुरुकर्मत्वम्' का जाप सहसा बटोरा करता था।

उस समय की एडवोकेट की परीक्षा युवकों का जीवन नष्ट करने के लिए रखी गई थी। क्या पढ़ना चाहिए, इसकी कोई मर्यादा नहीं थी। किन विषयों के प्रश्न-पत्र साथ-साथ निकलेंगे, यह निश्चित् नहीं था। नम्बर का भी कुछ ठीक नहीं था। परीक्षा में बैठे विद्यार्थियों में से अच्छे-से-अच्छे एक-दो को परीक्षक चुन लेता था। पहले वर्ष कदाचित् ही कोई पास होता। दो-चार वर्ष बैठे रहना तो साधारण बात थी। मैंने अपनी तैयारी करने में कोई कसर न छोड़ी। एक महीना डुम्मस में रहा, दो महीने भड़ौंच में पढ़ा और २३ फरवरी को परीक्षा देने बम्बई आया। एक विद्यार्थी ने स्वागत किया।

"मिस्टर, पहली बार आये हो? जाओ, दो-चार वर्ष ठहरकर आना।" परीक्षा शुरू हुई।

"बहुत थोड़ी आशा है। कमज़ोर तबीयत और उससे भी अधिक कमज़ोर तैयारी।" २३-२-१९१३

पहली मार्च को परीक्षा खत्म हुई।

"प्रश्न अच्छे थे। ठीक उत्तर दिये हैं, परन्तु मुझसे ज़बरदस्त दबंग विद्यार्थी मुझे पटक देंगे।" मैंने लिखा। फिर मैं तुरन्त माथेरान गया।

"माथेरान पहुँच गया। यात्रा खूब मज़ेदार रही। प्राकृतिक सौन्दर्य मोहक है। निवास-स्थान सुविधाजनक है। करतारसिंह विनोदी संगी है। पेनोरमा-पाइंट भव्य है और वहाँ से अद्भुत दृश्य दिखाई देते हैं।"

५-३-१९१३

अपने जीवन में मैंने यहाँ पहली ही बार पर्वत देखा। उस पर के वृक्षों के जमघट, उसकी एकान्त झाड़ियाँ, उसकी गाती हुई चिड़ियाँ और

उसके जंगली पुष्पों ने मुझे हमेशा शान्ति और प्रेरणा प्रदान की है। उस पर घूमते-फिरते मैंने जीवन के अनेक महासंकल्प किये हैं। आज भी यह जीवन-कथा वहीं बैठकर लिख रहा हूँ।

करतारसिंह और मैं दोनों कंधे पर कोट डालकर स्वच्छन्दता से विहार करते, गाना गाते, खूब टहलते और खूब सोते थे।

११ मार्च को बधाई के पाँच-छः तार आये। मैं भाग्यवान् निकला। एक ही छलांग में इस दुरूह परीक्षा से पार हो गया।

मैं एडवोकेट बन गया। संशय, कठिनाई, घबराहट सब दूर हो गए। खुशी के मारे सारी रात नींद न आई।

जीवन के कठिन-से-कठिन छः वर्ष, १६०७ से १६१३, इस प्रकार समाप्त हुए।

गिरा, लड़खड़ाया और आघात सहे। अंत में सीधी चढ़ान वाली कठिन मंज़िल मैंने तय कर ही ली, किन्तु इससे भी अधिक कठिन अगली मंज़िल मेरी आँखों के सामने खड़ी थी।

१९१३ से १९२२

हाईकोर्ट

सन् १९१५ ई० की १२वीं मार्च को, जब मैं माथेरान से बम्बई के लिए चला, तब हर्षोन्मत्त-सा हो रहा था। 'सेकण्ड क्लास' में आया, मैंने नोट किया—"Hurrah for success !"

एडवोकेट की परीक्षा में उस समय बहुत कम लोग बैठते और उनमें से बहुत कम पास होते थे।

"बैरिस्टर बने बिना एडवोकेट बने, यह कैसे ?
क्यों, चिमनलाल सीतलवाड के जैसे !"

यह प्रश्नोत्तर प्रचलित होने से भड़ौंच-सूरत के लोगों में इस परीक्षा का बड़ा मान था। जीजी-माँ की अटल श्रद्धा और तपश्चर्या सफल हुई। उन्होंने खबर सुनते ही तुरन्त पत्र लिखा—

१२-३-१३

"चि० भाई कनुभाई,

तापी बहन का आशीर्वाद।...तूने तन और मन से जो परिश्रम किया, उसका फल तुझे पहले वर्ष ही मिला, इसके लिए तुझे बधाई। अब प्रत्येक कार्य में तुझे विजय मिले, यही मेरी कामना है।"

फिर माता का हृदय आनन्द-विभोर होकर अनायास ही पद्य में गा उठता है।

'अन्तर आशिष आपतां, हरखे उलटे मन,
जननी जठरे ऊपनी, सफल कर्यु जीवन।
कुलदीपक हो दीकरा, काला मारा कहान;
विद्याभोग तम भोगवो, पामो जग माँ मान।
तन मन धन सुख माँ रहो, करो परमारथ काम;
यश पामो आ जगत माँ, धरो सदा चित हाम।
राज-काज हाथे धरो, मलो आबरू अनन्त;
जोइ ठरे मुज आँखड़ी, भले मीचे लोचन।'[1]

इसके बाद सगे-सम्बन्धी और मित्रों की बधाइयाँ मिलीं। मेरे स्व-जातियों ने भी मेरी विजय में अपनी विजय देखी।

तीसरे दिन मेरे ही स्थापित किये हुए बम्बई के भार्गव-समाज ने मुझे मान-पत्र दिया। मेरे गुणों का—वे मुझमें थे या नहीं, इसका विचार किये बिना—वर्णन किया गया। 'तालियों की गड़गड़ाहट' के बीच मुझे सम्मानित किया गया। 'भड़ौंच के एडवोकेट का बम्बई में सम्मान' इस शीर्षक से 'मुंबई समाचार' ने टिप्पणी लिखी।

मुझ पर लक्ष्मी की कितनी कृपा थी, यह तो ईश्वर, जीजी-माँ और मैं ही जानता था; परन्तु 'हम हैं आपका उत्कर्ष चाहने वाले' ऐसे लोगों ने तो कालिदास के शब्दों में लिख डाला—

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थं अस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वतीश्च[2]

---

१. हृदय से आशीर्वाद देते हुए हर्ष से मन लोट रहा है; जननी ने जन्म देकर जीवन सफल किया है। मेरा बेटा, मेरा काला कृष्ण, कुलदीप हो और विद्या का उपभोग करके जगत् में मान पाए। तन, मन, धन से सुख भोगे, परमार्थ करे, संसार में यश पाए, चित्त में विश्वास रखे। राज-काज हाथ में रहे और अनन्त प्रतिष्ठा मिले; देखकर मेरी आँखें ठंडी हों और फिर भले ही वे मुँद जाएँ।

२. स्वाभाविक रूप से भिन्न स्थानों में निवास करने वाली लक्ष्मी और सरस्वती इनमें एक ही स्थान पर रहती हैं।

मैंने भड़ौंच जाकर नोट किया—

'२० मार्च को मैं भड़ौंच आया। स्टेशन पर साठ-सत्तर आदमी लेने आये···रंगीलदास सूरत स्टेशन पर मिलने आये···परन्तु जिससे मिलने के लिए तरसता हूँ, वह कहाँ है ?'

२० मार्च के 'भरुच समाचार' के अंक ने 'श्री भृगुपुरनिवासी ब्रह्म-कुलोत्पन्न मान्यवर मुन्शी-कुटुम्ब में उदित हुए प्रथम एडवोकेट मि० कन्या-लाल माणेकलाल मुन्शी बी० ए०, एल०-एल० बी० का अभिनन्दन' किया।

२१ को बड़ौदा में रहने वाले मित्रों और सम्बन्धियों ने समारंभ किया। २३ मार्च को दादा भाई नौरोजी 'फ्री लायब्रेरी' के सदस्य और सहायक भी मेरा 'उत्कर्ष चाहने वाले' बन गए और 'परम-कृपालु परमेश्वर' से प्रार्थना की कि श्री नानालाल कवि की आकांक्षा 'महान् उद्देश्य की कर्म-सिद्धि में जीवन की सार्थकता है; दिव्यता का उच्च प्रस्फुरण जीवन का उद्देश्य है,' यही मेरी भी आकांक्षा हो।

२४ मार्च को भृगुऋषि के वंशजों ने श्री भृगुभास्करेश्वर के पुराने 'नवा दहेरा' के सभामंडप में अँग्रेज़ी राज्य-कर्ताओं की भाषा में मान-पत्र प्रदान किया। अँग्रेज़ी का मेरा बेढंगा उपयोग उनकी दृष्टि में आया।

"All this testify to your masterly command over the English language, to the close intimacy which you have acquired over the Eastern and Western authors !"

आज अँग्रेज़ी पर मेरा कितना प्रभुत्व है, यह मेरा मन जानता है।

उस दिन भार्गव कवियों ने हद कर दी। हमारी जाति के संगीत-शिरोमणि एक मित्र ने रागिनी जौनपुरी में छेड़ी—

'हमरो उमंग न माय, कन्हैया'

और गाते-गाते अंतरे की एक पंक्ति गा डाली—'Godly son of a a Godly father' इस वाक्य की सिद्धि हुई।

मेरा कौनसा लक्षण 'godliness' में माना गया, यह मैं अब तक निश्चय नहीं कर सका हूँ।

एक दूसरे कवि ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए छेड़ा—

'थयो थयो प्यारो तुं,
एडवोकेट सारो तुं,
भृगुब्रह्म प्यारो तुं,
देशीजन भारो तुं,[1]

३० मार्च को आर्यसमाज मन्दिर में 'यूनियन' ने अभिनन्दन-समारम्भ किया। १९ मई को पिताजी के सूरतवासी मित्रों ने नगीनचन्द हॉल में मान-पत्र दिया। उन्होंने इस बात का गर्व किया—'तुम्हारी कॉलेज की कार्य-कुशलता की नींव ऐतिहासिक शहर सूरत में मज़बूती से पड़ी और सूरत की सन्तानों द्वारा पैदा किये गए बौद्धिक वातावरण का प्रभाव तुम्हारे कॉलेज-जीवन पर कुछ कम नहीं पड़ा है।'

मुझे क्या पता था कि खरसाड, दिहेव और वीरश्राव से सीधे बड़ौदा कॉलेज में आये हुए मेरे अनाविल मित्रों के प्रताप से मेरी कॉलेज की कार्य-कुशलता बढ़कर इतनी तेजस्विनी हो पाई थी !

मई मास में मांडवी के भार्गवों ने भी मुझे बुलाकर सम्मानित किया। वहाँ के कवियों ने भी कमाल किया। एक ने होरी बनाई—

'भार्गवनायक अंगित जीवन, जनी सुसुमणा सिरा,
कमल कंठ माँ माला अरोपुं प्रिय, स्वीकारो सुधीरा।

इन सब प्रथा के अनुसार किये गए समारम्भों और अतिशयोक्ति-पूर्ण मान-पत्रों में जाति का गर्व था और मेरे परिवार के प्रति सद्भाव व्यक्त किया गया था। उन सबमें समाई हुई विचित्रता पर आज मैं हँस सकता हूँ। प्रत्येक वस्तु के विनोदी स्वरूप को देखने की मुझे बान पड़ गई है; परन्तु उसमें समाया हुआ स्नेह, जो मेरे जीवन की सच्ची समृद्धि है, उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ ?

इन सब अभिनन्दनों और मान-पत्रों में कही गई बातों में एक ही

---

१. तुम सबके प्यारे बन गए हो, अच्छे एडवोकेट हो, भृगुब्रह्म के प्यारे हो और मेरे देश के मान्य वासी हो।

बात शब्दशः सच थी—यह सारा यश जीजी-माँ के प्रताप से था।

जाति विचित्र वस्तु है। इसके बन्धन टूट जाने पर भी इसकी शक्ति ओझल नहीं होती; आज वर्षों गुज़रे, मैं जाति के बन्धन त्यागकर बैठा हूँ, जाति से बाहर हूँ, मेरे मन से जातीयता की सीमाएँ मिट गई हैं। फिर भी मेरी समझ में जाति मेरी है; जाति की समझ में मैं उसका हूँ।

अन्त में मान-पत्रों का ताँता समाप्त हुआ। अभिनन्दनों से उपजने वाला गर्व भी चला गया और मैं डरते-डरते अपने व्यवसाय की ओर घूमा।

दो

१५ वीं मार्च को सवेरे साढ़े ग्यारह बजे मैं किसी का गाऊन और किसी के 'फर फरियाँ'[1] पहनकर कोर्ट में न्यायमूर्त्ति बीमन के साथ हाथ मिलाकर, एडवोकेट—ओ० एस०—[2] की पंक्ति में गया। वहाँ से अपनी लघुता और अपूर्णता से घबराया हुआ मैं बैरिस्टरों के बीच में जाकर बैठा और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे मैं डूब रहा हूँ।

शामराव, मिनोचहेर और हीरालाल सालिसिटर्ज़ की ओर से मुझे वहीं पहली 'ब्रीफ'[3] मिली।

सामान्य रूप से एडवोकेट को वर्षों बाद जाकर कहीं ब्रीफ मिलती थी। यह ब्रीफ मुझे नरुभाई की सिफारिश से मिली थी, परन्तु इसका

१. बैरिस्टर लोग कॉलर पर दो छोटी पट्टियाँ बाँधते हैं, उन 'बैंड्स' का मैंने यह नाम रखा था।

२. हाईकोर्ट में बम्बई शहर के झगड़े जिस विभाग में उपस्थित होते हैं, उसे 'ओरिजिनल साइड—ओ० एस०' कहा जाता है। उसमें वकीलों के दो विभाग होते हैं; सालिसिटर—जो मुकदमा तैयार करता है और एडवोकेट—(ओ० एस०) जो कोर्ट में काम करता है। अनेक छोटे कामों के अतिरिक्त सालिसिटर कोर्ट में मुकदमा नहीं चला सकता।

३. मुकदमे के वे कागज जो सालिसिटर बैरिस्टर को देता है।

बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। काका और नरुभाई के साथ मेरा सम्बन्ध देखते हुए पहले से ही यह माना जाता था कि जिन सालिसिटर्स ने भूला-भाई देसाई को आगे आने का अवसर दिया था, वे ही मेरे सहायक हैं।

कोर्ट में इस प्रकार श्रीगणेश करके, एक मित्र का कोट उधार लेकर मैंने फोटो खिचवाया। फोटो खिचवाए बिना बड़े कामों की पूर्णाहुति नहीं होती, इस अर्वाचीन मान्यता का मैंने इस प्रकार आदर किया।

जमीयतराय काका ने अपने ऑफ़िस के पास वाले सालिसिटर के ऑफ़िस में पन्द्रह रुपये महीना किराये का एक चेंबर[1] मुझे दिलवाया।

"देखो भाई, और जो जी चाहे करना," काका ने कहा, "परन्तु चेम्बर का किराया हर महीने ठीक समय पर सालिसिटर को दे देना चाहिए, वरना सम्बन्ध टिक नहीं सकता। चेम्बर का किराया फीस के बदले में देने का लोभ कभी न करना।"

काका की शिक्षा न मानने वाले अनेक एडवोकेटों को मैंने पीछे से पछताते देखा है।

मैं आगे जाकर बीजापुर जेल की जिस कोठरी में रहा था, मेरा यह चेम्बर उससे भी अधिक भद्दा था। बिना खिड़की के इस अँधेरे छोटे-से कमरे में, ऊपर छत में एक शीशे की छोटी-सी खिड़की थी, जिसमें से थोड़ी-सी रोशनी आती थी। बगल के हिस्से में पुरानी फ़ाइलें पड़ी रहती थीं। बरसात में उसमें से अनेक कीड़े-मकोड़े मेरे चेम्बर में आते और मेरे शरीर पर, सिर में और भवों में घुस जाते। इससे मुझे रात को बहुत ही खुजली होती और सारी रात बिना सोए बितानी पड़ती थी। कभी-कभी तो सोने से पहले फ़िनायल के पानी से मुझे नहाना पड़ जाता था।

इस गुफा में मैं अपने कठिन वर्षों की विकट तपश्चर्या करता और उसमें से भूखे भेड़िये की तरह 'ब्रीफों' की खोज में निकलता था।

मेरी असली दुर्दशा तो मेरे क्षुब्ध स्वभाव के कारण हुई। चारों ओर कलफ लगे कपड़े, चमकते हुए सफेद कॉलर, सीधी क्रीज वाली पतलूनें और

---

१. बैरिस्टर के ऑफ़िस के लिए 'चेम्बर' शब्द व्यवहृत होता है।

मुलायम रूमाल देखकर मुझे अपनी दरिद्रता का तीव्र भान होता था।

कपड़े हमारे व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग बन बैठे हैं। जब तक मन में यह खयाल होता है कि हमारी पोशाक दूसरे से मामूली है, तब तक हममें आत्मविश्वास उत्पन्न नहीं होता। मुझे देखकर पास बैठा हुआ बैरिस्टर मेरे विषय में क्या सोचेगा; ब्रीफ देने वाला सालिसिटर, मुवक्किल और न्यायाधीश क्या सोचेंगे, ये प्रश्न मेरे मन में उठते रहते। इससे मैं परेशान होता और जैसे ही हाथ में पैसे आते, अच्छे कपड़े बनाने की ओर ध्यान देता। सोने से पहले पतलून की तह लगाकर तकिये के नीचे रखने की और जूतों पर पॉलिश करने की क्रिया मैंने सावधानी से जारी रखी।

मेरी दूसरी कठिनाई थी मेरी अँग्रेज़ी की। मैं अच्छी अँग्रेज़ी लिखता और आलंकारिक अँग्रेज़ी में व्याख्यान देता था; परन्तु बड़ौदा कॉलेज में गुजराती में ही बोलने की आदत पड़ी होने से मैं अंग्रेज़ी में बातचीत नहीं कर सकता था। मेरा उच्चारण भी बेढंगा था और सामान्य सरल बात तो मैं कर ही नहीं सकता था।

१९११ में मैं न्यायमूर्ति बीमन के कोर्ट में अपनी हाज़िरी देने बैठा हुआ था। उस समय मेरे पास बैठे हुए एक पारसी युवक ने मुझसे पूछा—"तुम यह क्या लिख रहे हो ?"

"यह पक्की आढ़त का मुकदमा है, इसे नोट कर रहा हूँ।"

"क्यों ?"

"मैं एडवोकेट की परीक्षा की तैयारी कर रहा हूँ।" मैंने उत्तर दिया। उसने मेरा नाम और पता लिख लिया और रात को वह मेरे पास आया।

इस बरजोरजी रतनजी बामनजी के नाम सेंट लेजर की लॉटरी निकली थी। उस पैसे से इसने भगवानदास परशुराम की आढ़त के साथ अलसी का बड़ा सट्टा किया था। उसमें इसे बड़ा नुकसान हुआ। यह जानना चाहता था कि यदि आढ़तिया दावा करे, तो स्वयं मैंने सट्टा किया है इसे साबित करने के लिए कौन-कौनसे सबूत चाहिएँ।

बरजोरजी के हज़ारों टन के सौदे में, पक्के आढ़तिये ने पक्का व्यापार

साबित करने के लिए तीन सौ टन तैयार अलसी तोली थी। हमने योजना बनाई और मैंने बरजोरजी का 'प्रजामित्र' के संपादक रतनलाल शाह से परिचय कराया। योजना के अनुसार रतनलाल को परदे के पीछे बिठाकर, बरजोरजी ने भगवानदास परशुराम के मुनीम को बुलाया और बात करनी शुरू की।

"तुमने किस लिए तीन सौ टन माल लिया? मैंने कब कहा था? हमने तो सट्टा किया था। डिलीवरी न लेने की शर्त थी।"

"अदालत की कार्रवाई के लिए।" मुनीम ने कहा। पीछे बैठे रतनलाल ने सब लिख लिया।

बाद में भगवानदास परशुराम ने बरजोरजी पर दावा किया।

बरजोरजी के सालिसिटर मेसर्स मुल्ला और मुल्ला थे और उसके सहायक नसरवानजी इञ्जीनियर (आगे जाकर एडवोकेट और न्यायमूर्त्ति) मुकदमे का काम संभालते थे। मैं बरजोरजी के साथ दो-तीन बार उनसे मिलने गया।

१९११ की १२ अप्रैल को मैंने नोट किया—

'हाईकोर्ट बन्द हुआ। बी० आर० बी० के साथ मुल्ला और मुल्ला के यहाँ ईरानी और इञ्जीनियर से मिला। शान्ति के साथ और प्रभाव डालने वाले तरीके से मुझे बात करना नहीं आता। अपनी बातचीत करने की अयोग्यता से मैं तिरस्कृत-सा मालूम होता हूँ, शब्दों का मैंने बड़ा दुरुपयोग किया। मुझे शरमिंदा होना चाहिए।'

बरजोरजी के मुकदमे का १९१२ में न्यायमूर्त्ति बीमन ने फैसला सुनाया। रतनलाल के गवाही देने पर भी बीमन ने यह निर्णय किया कि ये सौदे पक्के हैं, सट्टे के नहीं।[1] अपील-कोर्ट में बरजोरजी की जीत हुई[2] और प्रिवी कौंसिल में भी।[3] मेरे परिश्रम के बदले में बरजोरजी ने मुझे

---

१. Bhagvandas Parashram v/s Barjorji, 15 Bombay Law Reporter 85.

२. Barjorji v/s Bhagvandas, ibid 617.

३. Bhagvandas v/s Barjorji, 45 Indian Appeals 29.

काफ़ी अच्छी रकम दी।

अपनी वक्तृत्व-शक्ति के अभाव का भान मुझे बहुत खटकने लगा। तलियारखाना, जिन्ना और स्ट्रैंगमेन-जैसे बैरिस्टरों के पीछे खड़े रहकर मैं उनके अँग्रेजी शब्दों के उच्चारण ध्यान में लाता और उनकी नकल करता। घर में बैठकर उपन्यास की पुस्तकों के संवाद ज़ोर से पढ़ता। छोटे-छोटे चुटकुले इकट्ठे करके उन्हें लिखता, फिर ज़बानी याद करता और उनमें कुछ परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न मित्रों को सुनाया करता। इस प्रकार मैंने अँग्रेज़ी बोलने का अभ्यास करना शुरू किया।

पहले जिस प्रकार छुट्टी के दिनों में नाटक पढ़ा करता, उसी प्रकार अब शीशे के सामने खड़े होकर प्रिवी-कौंसिल के निर्णय पढ़ता; और पुस्तक बन्द करके उसका सारांश अच्छे उच्चारण में बोलता। फिर भी उच्चारण में काफ़ी अरसे तक भूलें होती रहीं, विशेषकर उन शब्दों के उच्चारण में, जो कानून के शब्दकोश में नहीं थे।

छः वर्ष बाद एक बार जब हम दार्जिलिंग जा रहे थे, मैं Juice शब्द का उच्चारण बड़ौदा के ढंग पर 'जुइस' कर बैठा। भूलाभाई ज़रा हँसे, मेरे ढंग से 'जुइस' कहा और तीसरे आदमी ने आँख का इशारा किया। मुझे लगा कि मैंने कुछ भूल की है। रात को मैंने अँग्रेज़ी शब्द कोश में देखा, तो उच्चारण 'जूस' था। बहुत दिन तक यह बात मेरे मन में खटकती रही और इससे बात करने के लिए मुँह खोलने की हिम्मत नहीं पड़ती थी।

एक डायरी में मैं अनेक शब्दों का उच्चारण, कानून के शब्द और चुटकुलों की सूची लिखकर रख छोड़ता था। बैरिस्टरों में जो बड़ी सरसता से चुटकुले कहता, उसका तरीका सीखने का भी मैं प्रयत्न करता था।

अँग्रेज़ी भाषा हमारी पराधीनता की कठिन-से-कठिन बेड़ी है। दुर्दैव से अपनी भूमि में भी विदेशी भाषा के बिना प्रतिष्ठा नहीं मिलती। और इस बेड़ी को सुव्यवस्थित करने में मैंने अपने जीवन के अच्छे-से-अच्छे वर्ष बिताए हैं। इससे मुझे एक लाभ हुआ। इस विदेशी भाषा को सीखते हुए शैली और साहित्य-रचना, वाक्पटुता और वार्तालाप के अनेक सनातन

रहस्य मेरी समझ में आ गए और जगत् के साहित्य-सम्राटों का परिचय प्राप्त हुआ।

तीन

१९१४ के बाद नियमित रूप से डायरी लिखने की आदत मैंने छोड़ दी, परन्तु जब कोई बड़ी घटना घटती या मैं कोई आवश्यक संकल्प करता, तब उसे लिख लेता था। अँग्रेज़ी में भाषण देने का मेरा तरीका कृत्रिम होता था। जब भाषण देना होता, तब मैं अँग्रेज़ी में सारांश लिख लेता, उसे बार-बार ज़ोर से पढ़ डालता और फिर बोलते समय उन वाक्यों को अपने वक्तव्य में ज्यों-का-त्यों उतार लेता। कभी-कभी तो सारा भाषण रटकर सभा में बोल दिया करता था।

इस तरीके से मेरा व्याख्यान बढ़िया अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से शानदार बन जाता था और थोड़ी अँग्रेज़ी जानने वाले श्रोतावृन्द प्रभावित हो जाते थे। असल में देखा जाए तो यह तरीका शब्द-प्रदर्शन करना-मात्र था। इसमें सजीव वाक्पटुता का अंश नहीं था।

१९१२-१३ में 'यूनियन' में भवभूति पर विवाद था। उसमें बोलने के लिए तैयार किये हुए भाषण का सार मैंने लिख रखा था। इससे मेरी असम्बद्ध विचारधारा और शब्दाडम्बरपूर्ण शैली का परिचय मिलेगा—

"Gentlemen,

Tragedy has been recognised from ancient times as the highest province of poetry. It is the poetry of refinement, of noble motion and expression. Human passion can have no better field, human feelings no better theatre, human language no fitter vent than in the tragedy.

Literature begins with the epic, ends with the tragedy. The open-eyed wonder, the strength and fire of a rough age give place to the soft and subtle play of feelings. Homer ended in Euripides; Dante and Milton in Goethe and Hugo.

The vigorous majesty of Vyas and Valmiki saw its culmination in the sweet and ineffable poetry of Bhavabhuti.

Let us see where our poet is among these mighty sons of the Muse.

Greece war the first to develop the tragedy; and you find two of her poets who have retained their eminence through all the ages: Aeschyles and Euripides. Then came Bhavabhuti. The fifteenth centuri saw the great dramas of Shakespeare,

The nineteenth century saw the rise of two geniuses— at once the universal type and oracle of modern civilisation, Goethe, and the trumpet-voiced angel of freedom and love, Victor Hugo.

Gentlemen, there are tragedies of love and of other human emotion. Aeschyles best work PROMETHEUS treats of Freedom and Tyranny—a favourite theme with the Greeks.

Shakespeare is great in tragedies of both kinds. KING LEAR, MACBETH and HAMLET are not tragedies of love, but of other emotions which stir the human breast. Herein you find ADBHUTA, BHAYANAKA, and KARUNA Rasas, all blended. And when one reads of Saudamini's description of Mountains, forests and the terrible temple of Chamunda, where Kapalkundala presided, one hears the echo from the Caucasus where Prometheus lay bound by the fiat of Jove. One only wishes that Bhavabhuti had pursued this line more thoroughly.

But love tragedies are preferred to tragedies of the other sort. They touch the chords of every heart, the universal touch every man feels. This kind of tragedy

can also be divided into two classes. The first class deals with anti-nuptial love; of its disappointments, its failures. It is a touching theme, comparatively easy. ROMEO & JULIET is an instance. Another still better is HERNANI. Revenge, love and fiery heroism, all have their play in it by turns, carrying you to the highest intensity of experience. MALATI-MADHAVA is in this class, though the happy end mars the climax.

The other sort of love-tragedy is more difficult to write. You know, Gentlemen, that overwhelming love rarely survives the marriage tie, and our poets well knew it. Two only wrote such tragedies. Shakespeare wrote OTHELLO, Bhavbhuti UTTARRAMCHARITAM.

सज्जनो, पुरातन काल से दुःखान्त नाटकों ने काव्य के प्रदेश में उच्च स्थान प्राप्त किया है। यह संस्कार की कविता है, उत्तम भावों और उनके आविष्कार की कविता है। इस प्रकार की कृतियों के सिवा मानव रागोद्रेक के लिए अन्य अच्छा क्षेत्र नहीं है; मानव-अनुभूतियों के व्यक्त होने के लिए योग्य स्थान नहीं है; मानव-वाणी के लिए अधिक योग्य वाहन नहीं है।

महाकाव्य से आरम्भ होकर साहित्य दुःखान्त नाटकों में बदल जाता है। एक स्थूल युग के आश्चर्य, शक्ति और तेज के स्थान पर अनुभूतियों का सुकुमार और सूक्ष्म व्यापार शुरू होता है। इस सत्य की प्रतीति तब होती है, जब होमर से आरम्भ हुआ साहित्य-युग युरिपिड्स में बदलता है, जब दांते और मिल्टन का युग गेटे और ह्यूगो की कृतियों में उतरता है, जब व्यास और वाल्मीकि की भव्यता भवभूति की मधुर और अनिर्वचनीय कविता में परिवर्तित होती है।

अब हमें यह देखना है कि हमारा कवि, मयूरवाहिनी देवी सरस्वती के इन प्रतापी पुत्रों में अपने स्थान को किस प्रकार सुशोभित करता है।

सबसे पहले दुःखान्त नाटकों का विकास ग्रीस में हुआ और आप

से आलेखन के लिए कुछ सरल भी। 'रोमियो और जुलियट' इसका उदाहरण है। दूसरी कृति 'हरनानी' इससे भी अधिक सुन्दर है; इसमें वैर, प्रणय और ओजस्वी वीर-भावना का क्रमशः उल्लेखन है। 'मालती-माधव' को इस श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि इसका सुखान्त इसकी पराकाष्ठा के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

दूसरे विभाग की प्रणय-भाव की दुःखान्त कृति लिखना दुष्कर है। सज्जनो, आप जानते हैं कि उछलता हुआ प्रणय-भाव विवाह-बन्धन के बाद मुश्किल से ही टिक सकता है। हमारे कवि इस वस्तु से सुपरिचित थे। दो ही कवियों ने ऐसी दुःखांत कृतियों की रचना की है—शेक्सपियर ने 'ओथेलो' की और भवभूति ने 'उत्तररामचरित' की।

नोट के बाकी पृष्ठ खो गए हैं। रविवार के सवेरे लगभग तीस साहित्य-रसिक युवकों के सम्मुख इस प्रकार का व्याख्यान मोहक साबित होगा ही, इसमें कोई आश्चर्य नहीं था। वाग्-वैभव की सेवा में मैं निमग्न रहता था। परन्तु वाग्पटुता का उद्देश्य प्रशंसा प्राप्त करना नहीं, वरन् अभीष्ट कार्य कराना है, इसका ज्ञान तो मुझे तभी हुआ जब मैं हाईकोर्ट में गया। मेरा शब्दाडम्बरपूर्ण वाग्वैभव कानून के अभ्यस्त न्यायमूर्तियों के आगे व्यर्थ था।

मैंने नई पद्धति सीखनी शुरू की और उसके सूत्र लिखकर मेज पर सामने रखता :

१—भाषा की सादगी का अभ्यास करना; हमेशा सरल शब्द पसन्द करना।

२—छोटे वाक्य व्यवहार में लाना।

३—शुद्ध उच्चारण करना।

४—अपने ध्येय ठीक हैं या नहीं, इसकी पहले से जाँच करना; उसमें दूसरों द्वारा दोष निकाले जाने की प्रतीक्षा न करना।

५—विषय का इतना ज्ञान प्राप्त करना कि उसमें लीन हो सका जाए और इस प्रकार सिद्ध की हुई एकरूपता को अपने-आप ही शब्द प्रेरित करने देना और शब्दों की पहले से तैयारी न करना।

६—श्रोता का हृदय जीतना हो तो बोलने के तरीके की अपेक्षा इस बात का ध्यान रखना कि वह किस प्रकार जीता जा सकेगा।

७—श्रोता को थकने न देना; या तो उसके थकने से पहले बोलना बन्द कर देना, या ऐसी सामग्री उपस्थित करना, जिसमें उसे दिलचस्पी पैदा हो।

१९१७-१८ तक इन सूत्रों का मैंने अभ्यास किया, परन्तु पुरानी आदतें इससे उलटी थीं, वे एकदम जा न सकीं और नया तरीका पूर्णतया आ न सका।

चार

मंछाशंकर काका मुझमें पहले से ही दिलचस्पी ले रहे थे; अब जमीयतराम काका भी लेने लगे। उन्हें अपनी जाति के प्रति बहुत प्रेम था। कोई भी स्वजातीय उनसे सहायता माँगने आता, तो शायद ही खाली हाथ वापस जाता। फिर मैं तो उनकी जाति का, भड़ौंच की जाति के युवकों में अग्रणी और आशाप्रद, जाति का कार्यकर्ता और सामाजिक प्रतिष्ठा का स्वामी था।

भड़ौंच और सूरत के भार्गवों में 'कन्याव्यवहार' एकपक्षीय था। हम सूरत की कन्या ले लेते पर देते नहीं थे। इस रिवाज को दो-पक्षीय करके जाति का संगठन करने का मैं प्रयत्न कर रहा था। इस सुधार के विषय में दो वर्ष से हम परिचय में आए थे। इससे मेरे प्रति उनका आकर्षण बढ़ गया था और जब मुझे अचानक पहले ही प्रयत्न में पास हुआ देखा, तब तो उन्होंने मुझे अपना ही लिया।

वे मेरा भविष्य इस प्रकार बनाने लगे कि मुझे उसका पता न लग सके। पहली मई को जब उनकी ओर से पहली 'ब्रीफ' मिली, तब मैंने नोट किया—

'जमीयतराम काका की ममता मुझ पर बढ़ती जा रही है। आज 'ब्रीफ' भेजी। मुझे आशा नहीं थी।'

बात यह थी कि मैं उन्हें भली-भाँति पहचानता नहीं था। उन्होंने और नरुभाई ने छोटी-छोटी 'ब्रीफ' भेजनी शुरू की और यह निर्णय हुआ कि मैं भूलाभाई जीवनजी देसाई के चेम्बर में पढ़ा करूँ। मुझे मि० जिन्ना के प्रति बड़ा आकर्षण था। उनका नाम बड़ा, देखने में सुन्दर और उनके कपड़े मोहक थे। परन्तु काका टस-से-मस न हुए।

"भूलाभाई के पास अच्छी तरह सीख सकोगे," उन्होंने कहा।

विलायत में बैरिस्टरों की 'चेम्बरिंग-पद्धति' बड़ी सुन्दर है। जो नया बैरिस्टर बनता है, वह पुराने बैरिस्टर के चेम्बर में शामिल होता है, उसका 'डेविल', उसका 'भूत' बनता है; जब से वह शामिल होता है, तब से चेम्बर का अंग बनता और गुरु की वकालत की पद्धति सीखना शुरू करता है। चेम्बर गुरुकुल के समान बन जाता है। गुरु और शिष्य कुटुम्बी के समान हो जाते हैं। गुरु शिष्यों की प्रगति में दिलचस्पी लेता है; उनके समस्त जीवन में प्रवेश करता है। सहपाठी परस्पर बन्धु-भाव से व्यवहार करते हैं, गुरु के जाने पर भी गुरुकुल के महत्त्व और कीर्ति को व्यवसाय में कायम रखते हैं और अपना समय आने पर नये शिष्यों को यह उत्तराधिकार में सौंप जाते हैं। इस प्रथा का अधूरा अनुकरण हाईकोर्ट के एडवोकेट (ओ० एस०) भी करते हैं।

भूलाभाई विलायत से आये और १२ जून की शाम को काका मुझे हाईकोर्ट की तीसरी मंज़िल पर उनके चेम्बर में ले गए। काका ने मेरा परिचय कराया। भूलाभाई हँसे। छोटे बालक को गुरु के घर पढ़ने के लिए छोड़ आने पर उसकी जो मनोदशा होती है, वैसी ही कुछ-कुछ मेरी हुई। काका मुझे छोड़कर चले गए।

"देखो, लाउन्ड्रस ने (भूलाभाई सर जार्ज लाउन्ड्स के शिष्य थे) मुझसे पहले दिन जो कहा था, वही मैं तुमसे कहता हूँ—'यदि तुम मेरे लिए उपयोगी बनोगे, तो मैं तुम्हारे लिए उपयोगी बन जाऊँगा।' और देखो तुम साढ़े छः बजे के लगभग आना।" भूलाभाई ने कहा, और आगे बोले—"कान्फ्रेंस में किसी तीसरे का होना सालिसिटर लोग पसन्द नहीं

करते, इसलिए उन सबके जाने पर मुझसे मिलना। जाओ कल आना।"

बम्बई के हाईकोर्ट के नियम के अनुसार जब कोर्ट खतम हो जाता है, तब सालिसिटर एडवोकेट से सलाह लेने आते हैं, उस अवसर को 'कॉन्फ्रेंस' कहा जाता है।

भूलाभाई के 'गुरुकुल' में उस समय 'कॉन्फ्रेंस' में 'भूतों' को न बैठने देने का नियम था। दूसरे गुरुकुलों में ऐसा नियम नहीं था। रात को मैंने डायरी में लिखा—

'भूलाभाई के यहाँ काम करना आरम्भ किया; देखना चाहिए, मुझे क्या लाभ होता है! ऐसा चपल और चंचल मनुष्य मेरे लिए कुछ करेगा कि नहीं, इस विषय में मुझे सचमुच बड़ा सन्देह होता है।'

दूसरे दिन से मेरे जीवन की कठिन तपश्चर्या आरम्भ हुई। मैं सुबह दस बजे घर से निकलता, सारा दिन हाईकोर्ट की लाइब्रेरी में पढ़ता, कोर्ट उठने पर अपने चेम्बर में बैठता और साढ़े छः बजे भूलाभाई के चेम्बर के बाहर उपस्थित हो जाता। उनकी कॉन्फ्रेंस सात-आठ बजे तक चलती रहती। कभी-कभी तो जब आठ बजे उनकी गाड़ी उन्हें लेने आती, तब तक वे फँसे रहते। इसके बाद मैं चेम्बर में जाता; एक-दो साधारण प्रश्न पूछकर उनका ध्यान खींचने का निष्फल प्रयत्न करता। वे हैट उठा लेते—"अच्छा मुंशी, अब कल आना, कुछ दूँगा।"

सवा आठ पर मैं टावर पर से ट्राम पकड़ता और थका-माँदा ब्रीफ की राह देख-देखकर अकुलाया हुआ, चोट खाये हुए अभिमान से रुआँसा होकर घर पहुँचता। रोज़-रोज़ इस प्रकार के अनुभव से मैं क्षुब्ध हो उठा।

भूलाभाई के चेम्बर में जाना छोड़ देने की रोज़ इच्छा होती, फिर भी मैं जाता। उनकी शिक्षा बिना मुझसे हाईकोर्ट में वकालत नहीं हो सकती थी, इसलिए इस घानी में पेरे बिना छुटकारा कहाँ था! रोज़ शाम को जब मैं उनके चेम्बर में जाता, तब मन समझाने के लिए विचार करता—'किसलिए भूलाभाई को मुझसे बात करनी चाहिए? किसलिए

मेरे प्रति दिलचस्पी लेनी चाहिए ? वे तो अब वकालत के शिखर पर पहुँच गए हैं। हज़ारों रुपये कमाते हैं। मैं उनके किस काम आता हूँ, जो वे मेरी परवा करें ? काका का वे लिहाज़ करते हैं, इसके सिवा उन पर क्या अधिकार है ?' इस प्रकार अपने जीवन को सान्त्वना देकर, ठीक साढ़े छः बजे मैं पहरेदार की तरह उपस्थित हो जाता।

रात को अपने आकुल हृदय के भाव मैं डायरी में अंकित करता। परन्तु गुरु के मुझे दिये हुए दान के आगे इन अंकनों का क्या मूल्य है ? वे तो विसर्जन करने के ही योग्य हैं।

थोड़े दिनों बाद भूलाभाई ने अरज़ी दावा का जवाब तैयार करने की एक ब्रीफ मुझे दी। मैंने अपनी आडम्बरपूर्ण अँग्रेज़ी में पहले जवाब मसविदा तैयार कर दिया। तीसरे दिन भूलाभाई ने कहा—"इस प्रकार की अँग्रेज़ी काम नहीं देगी।" हताश होकर मैंने पन्द्रह घण्टों की मेहनत से तैयार किये हुए मसविदे को अन्त में रद्दी की टोकरी में पड़ा हुआ देखा।

उस समय भूलाभाई मुझे प्रगति का मार्ग दिखलाने में दिलचस्पी नहीं लेते थे, इसलिए मैंने अपने तरीके पर तैयारी करनी शुरू की। मैंने बड़े बैरिस्टरों और भूलाभाई के लिखे जितने भी मसविदे मिल सके, उन्हें इकट्ठा किया, उनकी नकलें कीं, और उनकी भाषा का अनुकरण करना शुरू किया, उनमें कौनसी फरियाद किन शब्दों में की गई थी, इसकी डायरी बनाई। साथ-ही-साथ भूलाभाई के लिए भी बार-बार मसविदे तैयार करता रहा। इस परिश्रम में मुझे तीन बेजोड़ पुस्तकों[1] से बड़ी सहायता मिली। और बाद में मैंने नियम बनाया कि किसी विषय का मसविदा तैयार करना है तो उस पुस्तक में से उक्त विषय के सम्बन्ध में लिखा हुआ सब पढ़ जाना, उसे नोट करना और फिर चीज़ तैयार करने का काम आरम्भ करना।

---

१. Roscoe, Nisi Prius; Daniell, Chancery Practice, Seton, Decrees.

हाईकोर्ट के क्षितिज पर भूलाभाई नवोदित सूर्य की ज्योति की तरह चमकते थे। बड़े-बड़े बैरिस्टर उनसे ईर्ष्या करते थे। गुजराती सालिसिटर तो उनके सिवा अन्य किसी को देख ही नहीं सकते थे। पारसियों में वे पारसी तुल्य बन गए थे और 'भूला' का प्रेम-भरा उपनाम उन्होंने पाया था। न्यायाधीश भी उनकी मीठी वकालत से पानी-पानी हो जाते थे।

हाईकोर्ट की सारी दुनिया को किसी अन्य धारा-शास्त्री पर इस प्रकार पागल होते मैंने नहीं देखा। विजय-प्राप्ति के इस शिखर से एक काँपते हुए निर्जीव नौसिखिये की ओर वे अधिक ध्यान से देखें, मेरी यह आशा दो वर्ष तक तो बिलकुल निष्फल रही। दूसरे व्यक्ति के भावों को सहानुभूतिपूर्वक समझने की शक्ति, उनकी अन्य शक्तियों के मुकाबले मर्यादित थी।

सर बेसिल स्कॉट उस समय मुख्य न्यायाधीश थे। वे थोड़ा बोलते थे और वह भी गम्भीरता से। ज़रा उकताने पर धारा-शास्त्री की टीका-टिप्पणी करने बैठ जाते। परन्तु नये धारा-शास्त्री की ओर वे धैर्यपूर्ण और प्रोत्साहक प्रवृत्ति दिखलाते थे। बड़े धारा-शास्त्रियों के पलड़े में बैठने की वृत्ति अनेक न्यायाधीशों में देखने को मिलती है। परन्तु स्कॉट इसके विपरीत थे। बड़ों को छोटों पर वे ज़रा भी आक्रमण नहीं करने देते थे।

८ जुलाई को थाना-कोर्ट की एक अपील में मैं पहली बार उनके कोर्ट में उपस्थित हुआ। बहुत दिन से मैंने तैयारी की थी। कई नोट तैयार करके मैंने फाड़ डाले थे। घबराहट के कारण पिछली रात को नींद भी नहीं आयी थी। जब मैं कोर्ट में खड़ा हुआ, तब मैंने जाना कि मेरे सामने एडवोकेट-जनरल स्ट्रैंगमेन खड़े हैं।

स्ट्रैंगमेन (बाद में सर टॉमस) उस समय सारे कोर्ट को कँपाते थे। वे पतलून की जेब में हाथ डालकर उसमें रखी हुई चाबियाँ खनखनाते, जोर से हँसकर बीच में बोल पड़ते और विपक्षी की ज़रा-सी भूल पर

उसकी सख्ती से खबर लेते थे। अनेक न्यायाधीश भी उनसे डरते थे। उन्हें अपने सामने आया देखकर मेरे होश उड़ गए।

जब मैं अपील चलाने के लिए खड़ा हुआ, तब मेरी दृष्टि के आगे कोर्ट घूमता मालूम होता था। मेरी आवाज़ गले से बाहर नहीं निकल सकती थी। कानों में जोर से घण्टे का नाद-सा सुनाई दे रहा था। पन्द्रह-बीस मिनट के बाद मुझे होश आया और मैं ठीक-ठीक बोलने लगा।

सम्भवतः मैं कुछ गलत बोल गया हूँगा, इससे स्ट्रैंगमेन कूदकर बीच में बोल उठे। स्कॉट कठोरता से स्ट्रैंगमेन की ओर देखते रहे।

"Mr. Advocate-General, your innings are still to come."[१]

उन्होंने निश्चयात्मक आवाज़ में स्ट्रैंगमेन की वाग्धारा को काट दिया। वे ज़रा उलझन में पड़कर वाक्य अधूरा छोड़कर बैठ गए।

"Mr. Munshi, you may now proceed."[२]

स्कॉट ने मुझे आगे बढ़ने की अनुमति दी और नोट लेना शुरू किया।

मेरे पैरों में ज़ोर आ गया और मैं आगे बढ़ा। स्ट्रैंगमेन ने फिर बोलने की हिम्मत नहीं की।

स्कॉट के साथ न्यायाधीश बेचलर थे। वे बड़े मितवादी थे। मैं अपनी दलीलों के सिलसिले में कह बैठा—"There is almost no evidence."[३]

बेचलर ने तुरन्त कहा—"There is no 'almost' in evidence; either there is or there is not."[४]

---

१. मि० एडवोकेट जनरल, आपके बोलने की बारी अभी आने वाली है।

२. मि० मुन्शी, अब आप आगे बोल सकते हैं।

३. सबूत तकरीबन है ही नहीं।

४. सबूत में 'तकरीबन' हो ही नहीं सकता, सबूत या तो होता है, या नहीं होता।

मेरे अनिश्चित बोलने के तरीके को इससे चाँटा लगा।

मैंने उसे समाप्त करते हुए हिम्मत से कहा—

"My lord, this is my first appearance before your Lordship. As I felt nervous while placing my first point, may I have your Lordship's Permission to repeat it ?"[१]

स्कॉट ने अपने शान्त और शुद्ध उच्चारण में कहा—

"You may repeat."[२]

मैंने अपना पहला आशय पुनः दुहराया।

उसके जवाब में स्ट्रैंगमेन ने फिर उछल-उछलकर अपना दृष्टि-बिन्दु उपस्थित किया। रात को मैंने अंकित किया—

'मैंने अपील चलाई; थाना से आयी थी—जीत गया। मैं कितना घबराने वाला हूँ! यह क्षोभ कब दूर होगा? मुझे इसे जीत लेना चाहिए।'

थोड़े दिनों बाद कांगा (अब सर जमशेदजी) मुझे लाइब्रेरी में मिले।

"आप मि० मुंशी हैं?"

"जी हाँ।"

"कुछ दिनों पहले स्कॉट के सम्मुख आपने ही केस चलाया था?"

"जी हाँ।"

"आपके लिए उनका अच्छा मत बन गया है, कल क्लब में उन्होंने मुझसे बात की। लॉ कॉलेज में जब प्रोफ़ेसरों की नियुक्ति करनी थी, तब आप उन्हें याद आए थे, परन्तु आप एकदम नये हैं।"

---

१. माननीय महोदय, आज मैं आपके सामने पहली ही बार खड़ा हुआ हूँ, इसलिए घबराहट के कारण मैं अपना पहला आशय ठीक-ठीक उपस्थित नहीं कर सका। यदि माननीय अनुमति दें, तो मैं उसे फिर से उपस्थित करूँ।

२. आप उसे दुहरा सकते हैं।

मैं बड़ा खुश हुआ और जब शाम को मैं भूलाभाई के चेम्बर में गया, तब अपने गुरु को अपनी प्रसन्नता का समभागी बनाने के लिए अधीर हो रहा था। मौका देखकर मैंने बात की।

भूलाभाई अनमने-से सुनते रहे और बोले—"These fellows always talk like that."[1]

मुझे जो अभिमान-ज्वर चढ़ गया था, वह उतर गया।

इसके बाद मैं अनेक बार स्कॉट के कोर्ट में छोटी-छोटी अपीलों के लिए उपस्थित होता था। धारा-शास्त्रियों के बीच-बीच में गुर्राने न देने की उनकी आदत से मुझे संकोच को जीतने के अनेक अवसर मिले।

दूसरे न्यायाधीश जो मेरी मदद को आते थे, वे थे सर दीनशा दावर। उनका मिज़ाज बड़ा तेज़ था। उनके कोर्ट में बड़े-बड़े काँपते थे, परन्तु मेरे-जैसे घबराने वाले को देखते ही, वे तुरन्त उसकी मदद करते थे। एक सज्जन विलायत से हाल में ही आये थे। वे करारदाद (Consent Decree) लेने के लिए रोब के साथ खड़े हुए। बस बहुत हो गया। दावर तनकर खड़े हुए, ऐनक ठीक से लगाया और उन्हें झाड़ दिया।

"जाओ, तैयार होकर फिर आना।"

एक बार स्ट्रैंगमेन ने चाबियाँ खनखनाकर, कूद-कूदकर एक साक्षी से असभ्यता से जिरह करना शुरू कर दिया। दोपहर की छुट्टी के बाद जब न्यायाधीश दावर आये, तब ऐनक साफ करके उसे ठीक तरह लगाकर, उन्होंने ओंठ पीसकर कहा—

"मि० एडवोकेट जनरल, सुबह से मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि केस चलाने का यह तरीका कुछ गलत है। मेरी बीमारी के कारण मेरा स्वभाव खराब हो गया है या आपके इस जिरह करने के तरीके से, इसका मुझे अब तक पता नहीं लगा था; पर अब मुझे निश्चय हो गया है कि आपका यह तरीका ही इसके लिए ज़िम्मेदार है। जिरह के इस ढंग से आपकी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती और आपके 'बार' (Bar) को भी इससे गर्वित

---

१. इन लोगों के बात करने का ढंग हमेशा ऐसा ही हुआ करता है।

होने का आधार नहीं मिलता।"*

मैंने अपनी डायरी में लिखा—

'दूसरों की अपेक्षा मैं अधिक सौभाग्यशाली हूँ, परन्तु कुछ भी कमाए बिना रोज़-रोज़ बैठे रहने से मुझे बहुत दुःख होता है। और कितनी अधिक बातों में मैं अभी पिछड़ा हुआ हूँ! मुझे अधिक योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। मैं ज्यादा परिश्रम नहीं करता। मैं मूर्ख हूँ। मुझे जल्दी-जल्दी सब सीख लेना चाहिए; परन्तु मैं क्या करूँ? मेरे साथ बात करने वाला भी कोई नहीं है। मेरी मुसीबत का अन्त नहीं है।'

१८-७-१९१३

अक्तूबर में छुट्टी आई। मुझे माथेरान जाना था, पर पास पैसे नहीं थे। मेरी फ़ीस के लगभग डेढ़ सौ रुपये काका की फ़र्म में जमा थे; उन्हें लेने मैं काका के पास गया। काका ने सदा की तरह त्रस्त करने वाले रौब से मेरी ओर देखा और बोले—

"देखो भाई, मेरे फ़र्म से अगले महीने की दस तारीख को फ़ीस मिलेगी। सालिसिटर्स से समय से पहले फ़ीस नहीं माँगी जाती।"

मुझे बहुत बुरा लगा और जैसे-तैसे अपने रोष को काबू में करके वहाँ से चल पड़ा। मुझे इस व्यवहार से कठोर आघात पहुँचा। इसे सहन करने की अपेक्षा भूखों मरना अच्छा, ऐसा संकल्प करके मैंने काका के नाम एक कठोर पत्र लिखकर डाक में डाल दिया।

एक मित्र से थोड़े रुपये उधार लेकर दूसरे दिन मैं माथेरान चल दिया।

सारे समय मैं अपना प्रिय श्लोक गुनगुनाता रहा—

अम्भोजिनीवन निवासविलासमेव हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः॥[1]

---

१. हंस पर कुपित ब्रह्मा, उससे कमलवन में रहने के सुख को अवश्य छीन सकते हैं, परन्तु दूध और जल को भिन्न करने में प्रसिद्ध हंस के चातुर्य की कीर्ति को वे नहीं छीन सकते।

भर्तृहरि नीतिशतक, १८

दूसरे दिन काका का उत्तर मिला। उन्होंने लिखा कि आवेश में आकर पत्र लिखकर डाक में डालने की इच्छा यदि मैंने एक रात के लिए रोक ली होती, तो ठीक होता। उनकी कही बात में पैसे का सवाल नहीं था; पैसे तो वे जितने चाहिए, देने को तैयार थे। परन्तु वे मुझे यह पाठ पढ़ाना चाहते थे कि सालिसिटर से फ़ीस माँगने जाना, बैरिस्टर के लिए अनुचित कहा जाता है। इससे मेरी मान-हानि होती है। इतने सम्बन्ध के बाद हम लोगों के बीच अपमान का सवाल पैदा होना सम्भव ही नहीं है। अन्त में उन्होंने थोड़ा-सा अंश बड़े प्रेम से लिखा था। पत्र के पीछे छिपे हुए स्नेह और ममता को देखकर मैं लज्जित हो गया।

इस पत्र-व्यवहार के पश्चात् काका और मेरे बीच का अन्तर दूर हो गया। उन्होंने मेरा पितृ-पद स्वीकार कर लिया।

साढ़े नौ महीनों में मैंने ग्यारह सौ रुपये कमाए थे।

इस तरह १९१३ का वर्ष पूरा हुआ।

पाँच

जिन युवक सालिसिटरों ने मेरी मदद की, उनमें प्रथम थे नर्मदाशंकर पार्वतिशंकर वकील, जमीयतराम काका के स्वर्गीय भाई के पुत्र। १९०९ से १९३३ तक, जब उनका स्वर्गवास हो गया तब तक मैं उनका अत्यन्त स्नेह-पात्र बना रहा। नरुभाई स्वभाव के शान्त और सौम्य थे। वे शौकीन भी थे, परन्तु अपने ठंडे और मीठे तरीके से। उनके साहचर्य में मुझे शान्ति मिलती थी। उनकी संयमशीलता बहुधा उलटे मार्ग पर जाने से रोक लेती थी।

पास होने से पहले मैं सालिसिटर की परीक्षा देने वालों के मंडल[१] का सदस्य था। उनके संचालकों में थे दौलतराम कृपाराम पंड्या के भतीजे नयन सुखलाल, मेरे मित्र धीरजलाल नानावटी के बड़े भाई मणिलाल नानावटी, बालगंगाधर खेर (बाद में कांग्रेस की बम्बई सरकार के मुख्य

१. Articled Clerk's Association.

मन्त्री) और धनजी शा नानावटी (वर्तमान भारत सरकार के सालिसिटर)।

सप्ताह में एक दिन कानून की समस्याएँ सुलझाने के लिए हम सब एकत्र होते और वहाँ का काम-काज समाप्त होने पर हम अधिकतर चौपाटी से पैदल चलते हुए घर आते थे।

१९१२ के मार्च में नयन सुखलाल पंड्या सालिसिटर बने और उन्होंने नई फ़र्म शुरू की। मेरे पास होने के बाद पंद्रह वर्ष तक हमने साथ-ही-साथ अनेक कड़वे-मीठे अनुभव किये।

सितम्बर १९१२ में मणिलाल सालिसिटर बने और अपने बड़े भाई की फर्म में शामिल हुए। तीनों भाइयों ने तिगुने सम्बन्ध से मुझे अपनाया। मणिलाल के मीठे स्वभाव, गहरी सहानुभूति और अटल स्नेह से उनके साथ मेरा तीस वर्ष का सम्बन्ध आज तक उज्ज्वल बना हुआ है।

१९१८ में जब खेर सालिसिटर हुए, तब मणिलाल ने अपने भाई की फ़र्म से मुक्त होकर 'मणिलाल एण्ड खेर' की नयी फ़र्म बनाई। उसमें मेरा भी थोड़ा-बहुत हाथ था। खेर के साथ मेरी मैत्री अनेक क्षेत्रों में अटूट रूप से बनी रही। अन्त में यह मैत्री १९३७ में बम्बई में प्रथम कांग्रेस मन्त्रिमंडल की स्थापना में कुछ अंशों तक कारण बनी, पर यह तो पीछे की बात है।

धीरे-धीरे अन्य मित्र सालिसिटर बने। कई जो बने हुए थे, उन्होंने मैत्री स्थापित की। सबका नामोल्लेख करना यहाँ अनुपयुक्त है। इस पुस्तक में मैं केवल उन्हीं का उल्लेख कर रहा हूँ, जिन्होंने मेरे निजी विकास में सहायता प्रदान की है।

इन सालिसिटर मित्रों के यहाँ जब कोई भी उलझनपूर्ण काम आ जाते, या कोई गरीब मुवक्किल न्याय के लिए अकुलाता हुआ आ जाता, तब मैं उसकी सहायता के लिए उपस्थित हो जाता था।

अनेक बार सुबह, शाम या रात को देर तक मेरे सालिसिटर मित्र और मैं 'धूल-धोयों' के समान धूल और सोने को अलग करके बैठते और कोर्ट के समय मैं सारे कानूनी आधारों को देख डालता। १९१३ से

१६१८ तक मैं इस प्रकार 'सात-आठ मित्रों' की सहायता करता रहा।

हम सब नये व्यवसायी थे। हम हँसते, चाय पीते, भूलें करते और उलझनें जितनी सुलझ सकतीं, सुलझाते थे। कितना काम करते, इस पर ध्यान नहीं देते थे; और पैसा तो जैसा मुवक्किल और जैसी मल्कियत होती, वैसा मिलता।

उस समय खेर न्यायमूर्ति बीमन के मन्त्री के रूप में थे। बीमन की आँखें कमज़ोर थीं, इसलिए वे उनके पढ़ने का काम करते, उनके साथ घूमते, और छुट्टी में उनके साथ यूरोप भी जाते। खेर के कारण उस न्यायाधीश के साथ मेरा निजी परिचय हो गया। और कोर्ट में वे मेरे प्रति बड़ी ममता का बरताव करने लगे।

न्यायाधीश बीमन में अनेक अद्भुत शक्तियाँ थीं। वे ठीक से देख नहीं सकते थे, इसलिए मुकदमे के नोट्स कोर्ट में टाइप करते थे। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र हो गई थी कि लम्बे मुकदमे में भी एक-एक दस्तावेज़ के अंक और सारे बयान उन्हें याद रहते थे। लम्बा-से-लम्बा फ़ैसला होता, उसे भी धाराप्रवाह टाइप करा डालते थे।

'फाँकडो फितूरी' (बाँका फितूरी) नाटक में मुख्य अभिनय करने वाले मास्टर मोहन के लाभार्थ एक खेल होने वाला था। उसका सभापति-पद न्यायमूर्ति बीमन ने स्वीकार किया था। खेर, मणिलाल और मैं उनके साथ गये। उस नाटक में मास्टर मोहन अपनी प्रियतमा की छतरी को संबोधित करके जो गुजराती गाना गाते थे, वह उस समय बम्बई में बड़ा लोकप्रिय हो गया था—

"जुओ जमाना नी शोधो नवी,
आ छत्री छे मारी बैरी नी।
सारी छत्रीओ सोहाय,
हैयुं ते देखी हरखाय;
पण जुगते थी बापरो जेम,
तो बोलो बरसाद आवे केम ?"

इस गाने के लिए अनेक बार 'वन्स मोर' (एक बार और) होता। प्रत्येक बार मोहन उसमें समयानुकूल बातें जोड़ देता और लोग उछल-उछल कर तालियों की गड़गड़ाहट से उसकी सराहना करते। उस दिन भी उसने हम लोगों के विषय में यह गढ़कर 'बीमन जेनुं सुंदर नाम, ते आव्या छे अहींयां ठाम' अपना गाना गाया। साथ-साथ 'सेक्रेटरी खेर' और 'एडवोकेट मुन्शी' को भी बीच में लपेट लिया।

न्यायमूर्ति बीमन के कोर्ट में अपने पहले बड़े केस के साथ मैं उपस्थित हुआ। एक अनपढ़ घाटी[1] ने बम्बई में घास बेचने का काम करके दो-चार लाख की मल्कियत बना ली थी। वह दो स्त्रियों और एक 'रखैल' को छोड़कर मर गया। रखैल के एक लड़का था। उसने यह कहकर लड़के की ओर से दावा किया कि 'मैं उसकी विवाहित स्त्री हूँ और मेरा लड़का उसकी मल्कियत का वारिस है।'

यह दावा न्यायमूर्ति बीमन के पास आया। उस समय उनके कोर्ट में प्रत्येक मुकदमे में बैरिस्टर रुस्तम वाडिया अवश्य होते थे। शंकरभाई अमीन सालिसिटर ने रखैल के पुत्र की ओर से वाडिया के साथ मुझे 'जूनियर'[2] 'ब्रीफ़' दी।

इस मुकदमे की तैयारी करने के लिए मैं रोज सुबह-शाम शंकरभाई से मिलता था।

"अजी शंकरभाई, इसमें तो कुछ भी तैयारी नहीं है।" मैंने कहा।

"वह तो हो जाएगी। बिना तैयारी के मुकदमा थोड़े ही चलाया जाएगा!" शंकरभाई पान चबाते जाते थे और सारे कागज़ात मेरी

---

१. दक्षिण की एक जाति के लोग, जो कपड़े धोने, बरतन मांजने आदि मजदूरी के काम करते हैं।

२. हाईकोर्ट की 'ओरिजिनल साइड' पर लम्बे झगड़ों में दो एडवोकेटों को नियत किया जाता है। जिसकी वकालत दीर्घकालीन हो, उसे 'सीनियर' कहा जाता है, जिसकी थोड़े समय की हो उसे 'जूनियर' कहा जाता है।

तरफ़ करके शान्ति से प्रश्न करते जाते थे।

गवाह लोग घर आयेंगे और क्या-क्या बयान देंगे, यह मैं पूछता जाता और लिखता जाता था। एक दिन मैंने कहा—

"पर शंकरभाई, यदि हमारे मुवक्किल की माँ विवाहिता हो, तो विवाह के सबूत की भी तो आवश्यकता होगी न ?"

"विवाह तो हुआ ही होगा," शंकरभाई ने कहा—"क्यों भाई, विवाह का सबूत कहाँ है ?" उन्होंने अपने क्लर्क से पूछा।

"साहब," उसने उत्तर दिया, "रात को गवाह लेकर आयेगा।"

रात को जब हम फिर मिले, तब क्लर्क उन दोनों आदमियों को ले आया, जो विवाह में उपस्थित थे।

"परन्तु शंकरभाई, यदि विवाह हुआ होगा, तो उसकी निमंत्रण-पत्रिका होगी, विवाह कराने वाला पुरोहित और बराती भी होंगे।"

"हाँ-हाँ, यह बात ठीक है," शंकर भाई ने कहा, "क्यों जी, इनके बारे में क्या कहते हो ?"

"हाँ साहब, ये गवाह तो हाज़िर हैं ही। कल सुबह उन सबको भी ले आऊँगा।"

दूसरे दिन पुरोहित, बैंडवाले और बरात के आदमी आये। मैंने उनके बयान लिखाए और वे सब कोर्ट में उपस्थित हुए।

कोर्ट में रुस्तम बाडिया मुझसे रोज़ कहते थे—"मुन्शी, इसमें कुछ गड़बड़ है।"

एक के बाद एक गवाह आते, जाते, कल्पना में भी न आने वाली बातें उपस्थित करते और दूसरे पक्ष वालों को चकित कर देते थे।

अंत में निर्णय हो गया और हमारे मुवक्किल को काफ़ी अच्छी रकम मिली। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सालिसिटर्स का सारा ही खर्च मिला।

मैं एकदम नया था, इसलिए लोग कुछ-न-कुछ सलाह-मशविरा देते ही रहते थे। कोई कहता मुझे न्यायाधीशों को सलाम करना चाहिए;

कोई कहता मुझे बड़े-बड़े सालिसिटरों के यहाँ जूतियाँ रगड़नी चाहिएँ।

न्यायाधीश के यहाँ जाना तो मुझे न भाया, पर सालिसिटरों से नया-नया परिचय प्राप्त करने की सलाह को मैं अमान्य न कर सका। पिताजी के एक मित्र से बम्बई के एक प्रतिष्ठित सालिसिटर के नाम पत्र लिखाकर मँगाया। उसे लेकर मैं उक्त सालिसिटर के घर पहुँचा। उन्होंने बड़ी ही शिष्टता से मेरा स्वागत किया और मेरी सहायता करने का वचन दिया। मैं खुश होता हुआ घर आया।

तीन सप्ताह तक मैंने उनकी ओर से 'ब्रीफ' आने की राह देखी, फिर पुन: उनसे मिलने गया। उनके शिष्टाचार की सीमा नहीं थी। केवल मुझे यह स्मरण कराना पड़ा कि मैं कौन हूँ।

"मुन्शी," उन्होंने कहा, "मेरे ऑफ़िस से निकली हुई पहली ब्रीफ तुम्हारी होगी।"

उस 'पहली ब्रीफ' की मैं चातक की तरह राह देखने लगा। रोज़ उसकी ध्वनि सुन पड़ती थी, परन्तु पर-स्त्री के घर पर पड़े हुए पति की पग-ध्वनि के समान वह केवल ध्वनि ही रहती।

मैं तीसरी बार फिर गया। फिर वही शिष्टाचार का प्रदर्शन। इस बार मुझे पुन: उनको यह याद दिलाना पड़ा कि मैं कौन हूँ। हम केवल मीठी बातें करके एक-दूसरे से अलग हुए। खाली वचन देने की मुसीबत से मैंने उन्हें बचा लिया।

कुछ वर्षों से काम कर रहे एक सालिसिटर के पास मुझे मंछाशंकर काका ले गए। उन्होंने मेरा परिचय कराके मेरी सहायता करने के लिए उनसे कहा। "बहुत अच्छा, आपकी कही हुई बात पर भला इनकार हो सकता है!" सालिसिटर ने उत्तर दिया।

उनके भाव से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मैं घास का तिनका हूँ।

जब मैं मिलता, तभी मंछाशंकर काका मुझे टोकते—"तुम बड़े शरमीले हो। तुम्हें उनसे फिर मिल आना चाहिए। क्लब में भेंट होने पर मैंने उनसे फिर बात की है।"

मंछाशंकर काका को खुश करने के लिए मैं एक रविवार को उक्त सज्जन के यहाँ गया। सालिसिटर साहब ने मेरा अभिभावक-पद ले लिया और स्वयं सर्वगुणसम्पन्न हो, इस प्रकार रोब से कहने लगे—

"देखिए, मि० मुन्शी, एडवोकेट का व्यवसाय बड़ा कठिन है। यह काम ऐसा-वैसा नहीं। आपको लॉ-रिपोर्ट्स बराबर पढ़ते रहना चाहिए, सालिसिटरों को खुश रखना चाहिए; अन्यथा आपके समान नये व्यक्ति को वे काम कैसे दे सकते हैं? न्यायाधीशों के साथ भी अच्छा व्यवहार रखना चाहिए। मुकदमा चलाने की योग्यता आनी चाहिए। अँग्रेजी लहजे में बोलना चाहिए। यह सब आपको आता है न?"

यह सब सुनकर मैं अकुला गया। मैंने कहा—

"देखिए मि०— मैं तो मंछाशंकर काका के—जो आपके भी पूज्य हैं—दबाव डालने से आपके परिचय को ताजा करने आया हूँ, आपकी कृपा और 'ब्रीफ' की याचना करने नहीं आया। इस व्यवसाय के लिए आपने जिन-जिन योग्यताओं की आवश्यकता का वर्णन किया है, उन सबको मैंने ध्यान में रख लिया है और जब मैं उन्हें प्राप्त कर लूंगा, तब मुझे आपको जरा भी कष्ट देने की जरूरत नहीं पड़ेगी नमस्कार!"

मैंने विदाई ली और व्यवसाय चमकाने के इस प्रकार के प्रयोगों को तिलांजलि दे दी।

हरसिद्ध भाई दिवेटिया और अन्य एक-दो मित्रों ने एपलेट साइड पर ताजी वकालत शुरू की थी। उनके साथ मैं भी उस कोर्ट में उपस्थित होने लगा।

भड़ौंच-सूरत के मित्र मेरी प्रसिद्धि के लिए परिश्रम कर रहे थे। रांदेर म्युनिसिपैलिटी के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा हो गया। सूरत के डिस्ट्रिक्ट जज के कोर्ट में एक मित्र ने मुझे बुलाया। ग्रांट रोड से मैं सेकंड क्लास में बैठकर गया। बगल के फर्स्ट क्लास के डिब्बे में मैंने स्ट्रैंगमेन को बैठे देखा। उसके सामने आने में मुझे घबराहट होती थी।

कोर्ट में चार घण्टे बोला, स्ट्रैंगमेन आधा घण्टा। मैं बहादुरी दिखा-

कर वापस आया और जीत गए स्ट्रैंगमेन। लौटते समय किराया मैंने स्वयं खर्च किया और मुवक्किल ने बरफी की 'पोटली' बँधवा दी।

मेरा नियम था कि चाहे जिस प्रकार का मुकदमा हाथ में आए, उस पर टूट पड़ना। भड़ौंच से आते हुए गाड़ी में एक मुसलमान मिले। उनके बक्स पर मौलवी......बी० ए० (ऑक्सन)[1] लिखा था। उनकी दाढ़ी और कुरता उनकी आध्यात्मिक महत्ता के परिचायक थे। हम दोनों ने धर्म की चर्चा छेड़ी। मौलवी साहब ने यह कहकर कि वे 'बहाई' हैं, अच्छी तरह बातें कीं। ट्रेन से उतरते हुए उन्होंने मेरा पता लिख लिया।

दूसरे दिन मौलवी साहब मेरे घर आये और अपना दुःख रोने लगे। मद्रास इलाके में अनन्तपुर नाम का एक गाँव है। वहाँ मौलवी साहब धर्म-प्रचार करने के लिए गये थे। अन्त में वे 'बहाई' हैं, यह बात प्रकट हो गई और वहाँ के मुसलमानों ने धर्म-द्वेष के कारण उन पर फौजदारी का मुकदमा चला दिया। 'होम करते हाथ जले' की कहावत चरितार्थ हुई। वे धर्मगुरु थे। दो-तीन नवाब और निज़ाम हैदराबाद में एक-दो बड़े आदमी उनके शिष्य थे। उन्होंने मुझे उनके तार दिखलाए। तार में लिखा था कि मुकदमे की तारीख पर यदि वे बैरिस्टर लेकर नहीं पहुँचे, तो उनके नाम वारंट निकल सकता है। उन्होंने अपनी ओर से मुझे अनन्तपुर चलने को कहा।

१९१३ के अक्तूबर की यह बात है। मेरे हृदय में गर्व की लहरें उठीं। बहाई मौलवी, बी० ए० (ऑक्सन), कौमी झगड़ा और मद्रास इलाके का अनन्तपुर गाँव। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो इस प्रकार के जरूरी मुकदमे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों। मैंने १००) प्रतिदिन की फ़ीस माँगी। मौलवी ने स्वीकार कर लिया। परन्तु उस समय उनके पास पैसे नहीं थे। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि जब वे हैदराबाद पहुँचेंगे, तब शिष्यों के पास से पैसे इकट्ठे करके रास्ते में गुंटेकल जंक्शन पर मुझसे फ़ीस के साथ मिलेंगे।

---

१. विलायत के ऑक्सफोर्ड विद्यापीठ का स्नातक।

क्षण-भर के लिए भारत के एक अग्रगण्य वकील की कीर्ति मेरी आँखों के सामने नाच उठी। दो-तीन मित्रों ने कौमी झगड़े में न पड़ने की और फ़ीस मिलने से पहले काम न करने की सलाह दी। पर मुझे मौलवी की मान-भरी दाढ़ी और ऑक्सफोर्ड की बी० ए० की उपाधि की याद आई। धर्मांधता के चक्कर में फँसे हुए निर्दोष बहाई शहीद का दुःख-निवारण करने के लिए मैं अधीर हो उठा और जिस उत्साह से निराश्रित स्त्रियों की रक्षा करने के लिए डान कीकोट[1] 'रोजिनांत' पर बैठकर आगे बढ़ा था, उसी उत्साह से बहाई मौलवी की रक्षा के लिए मैंने अनन्तपुर का टिकट कटाया और बोरीबन्दर से गाड़ी पकड़ी।

दूसरे दिन शाम को गुंटेकल जंकशन पर मौलवी साहब मुझे मिले। उनके बड़े लम्बे, झब्बे और इस्त्री किये हुए कुरते की जगह मैला पाजामा और फटी हुई जाकट देखकर मैं विचार में पड़ गया। मैंने अपनी फ़ीस माँगी। उत्तर में मौलवी साहब ने गहरा निःश्वास छोड़ा। उनके शिष्य लोग हैदराबाद में नहीं थे, इससे वे फ़ीस के पैसे प्राप्त नहीं कर सके थे। अनन्तपुर में उन्होंने मेरे ठहरने का स्थान निश्चित नहीं किया था; परन्तु डाक-बँगला तो था ही।

इस सारी बातचीत के बाद मुझे अपनी मूर्खता का खयाल आने लगा; परन्तु वापस लौटने की हिम्मत नहीं हुई। गुंटेकल से अनन्तपुर जाने के लिए मैं छोटी गाड़ी में बैठा। डिब्बे में एक मद्रासी ब्राह्मण मेरे साथ थे। उनके साथ बात करने पर मालूम हुआ कि वे अनन्तपुर के डिप्टी कलक्टर थे। ब्राह्मण-संस्कार के विषय में बात करते-करते हमने परिचय बढ़ा लिया। जीवन में पहली ही बार मैं मद्रासी ब्राह्मण से मिला और ब्राह्मणत्व की सारे भारत में फैलाई हुई समान-संस्कृति का मुझे ज्ञान हुआ। गोत्र और प्रवर, वेद और शाखा तथा पुराणों की मान्यता आदि के विषय में हमने बड़ी देर तक बातें कीं।

१. स्पेन के लेखक सर्वेंटिस की जगद्विख्यात व्यंग कहानी Don Quixote का नायक।

मौलवी के विषय में मैंने उनसे बात की। उनसे मुझे काफ़ी जानकारी प्राप्त हुई, क्योंकि आरम्भ में यह मामला उन्हीं के हाथ में था। वस्तुतः वे न मौलवी थे, न बी० ए० और न तो उन्होंने ऑक्सफोर्ड या कोई दूसरी युनिवर्सिटी देखी थी। उन्होंने मस्जिद बनाने के लिए पैसे इकट्ठे करने शुरू किये थे, पर वे उनका हिसाब नहीं दे सके, इसलिए लोगों ने उन पर विश्वासघात का मुकदमा चला दिया था। महीनों से मुकदमे की तारीख पर मौलवी हाज़िर नहीं रहते थे, इसलिए इनके नाम वारंट निकालने की तजवीज़ हो रही थी।

मेरा रोष शान्त हो गया; मेरे सुनहले स्वप्न मिट्टी में मिल गए। मेरा चेहरा इस समय देखने ही लायक था।

उनसे मुझे मालूम हुआ कि अनन्तपुर का डाक बँगला भी खाली नहीं है। साथ ही यह गाड़ी बारह-एक बजे रात को अनन्तपुर पहुँचती है और गाँव लगभग तीन मील दूर है। रात कहाँ बिताई जाए, इसकी मुझे चिंता हुई। मैंने उनसे बात की। उन्होंने स्टेशन पर वेटिंग रूम में मेरे लिए व्यवस्था कर देने का वचन दिया।

बारह बजे के लगभग मैं अनन्तपुर पहुँचा। डिप्टी कलक्टर ने स्टेशन मास्टर से कहकर मेरे लिए वेटिंग-रूम में सोने का प्रबन्ध करा दिया। मौलवी साहब तो मेरे लिए डाक-बँगले में प्रबन्ध कर वापस आने की बात कहकर अदृश्य हो गए थे।

वेटिंग रूम में मैं दो आराम कुरसियाँ आमने-सामने रखकर उन पर लेट गया। सामने वाली सीट पर रेलवे का वेतन देने वाला—'पे-क्लर्क'—एक बड़ा बक्स पास रखकर सोया हुआ था। मेरे वेटिंग-रूम में जाते ही उसने स्टेशन-मास्टर के पास जाकर अपना विरोध प्रदर्शित किया। उसकी भाषा मेरी समझ में नहीं आती थी, फिर भी मैंने यह जान लिया कि वह स्टेशन-मास्टर से मुझे वेटिंग-रूम से बाहर निकालने के लिए कह रहा है।

स्टेशन-मास्टर ने उसे समझाकर कहा कि मैं बम्बई का बैरिस्टर हूँ, पर फिर भी पे-क्लर्क को चैन न आया। उसने एक चपरासी को

बुलाकर बक्स के पास सुलाया। मुझे स्पष्ट समझ में आ गया कि उसे यह संशय हो गया होगा कि मैं कोई डाकू हूँ।

ढोंगी मौलवी, बिना फ़ीस के उठाया हुआ यह जोखिम, निर्जन स्टेशन, धान के खेतों में पाले-पोसे मच्छरों के संगीत और दंशन, कुरसियों में घुसे भूखे खटमल, शंकालु वेतन-क्लर्क और खुर्राटे मारता हुआ उसका गंदा चपरासी! बस क्या था, निद्रादेवी रूठ गई। तिस पर मैं १००) अपने साथ लाया था और वसीयत में मिली हुई पिताजी की सोने की घड़ी भी मैं अपनी शान के लिए साथ लाया था। इस जोखिम को मैंने तकिये के नीचे सुरक्षित रखा। परन्तु नींद का ज़रा-सा झोंका आते ही मैं बार-बार यह जानने के लिए सिरहाने के नीचे हाथ डालकर देख लेता था कि वह सुरक्षित है या नहीं।

वेतन-क्लर्क को भी नींद नहीं आ रही थी। वह लगातार करवटें बदल रहा था और बीच-बीच में ओढ़ी हुई चादर में से हाथ निकालकर बक्स के ताले को टटोल लेता था।

पहली ही दृष्टि में हम लोगों को एक-दूसरे की ईमानदारी पर जो विचित्र अविश्वास उत्पन्न हो गया था, उसे देखकर मेरी विनोद-वृत्ति वश में न रह सकी। एक बार नींद का झोंका लेकर मैं जागा, तकिये के नीचे हाथ डाला, ताले की खड़खड़ाहट सुनी, वेतन-क्लर्क के हाथ को उसे टटोलते देखा। मैं अपने को रोक न सका और ठठाकर हँस पड़ा।

"व्हाट मिस्टर, व्हाट इज़ दि मैटर?"[१] कहकर वेतन-क्लर्क तुरन्त उठकर बैठ गया।

मैं भी खूब हंसते हुए उठ बैठा। हंसी रुकने पर मैंने कहा—"मिस्टर, घबराइए नहीं। आप समझते हैं कि मैं चोर हूँ, इसलिए ताला टटोलते हैं, और मैं समझता हूँ कि आप चोर हैं, इसलिए मैं अपनी घड़ी टटोलता हूँ।"

"बट व्हाई डू यू लाफ़?"[२]

---

१. क्यों भाई, क्या बात है?

२. पर तुम हँस क्यों पड़े?

"तेरा सिर फोड़ने के लिए—" इस प्रकार बड़बड़ाकर मैं फिर लम्बी तानकर सो रहा।

पौ फटने तक हम दोनों में से कोई भी नहीं सो सका। जल्दी से, उठकर मैं तैयार हुआ। गुस्से के मारे बड़बड़ाता हुआ वह क्लर्क अपनी द्राविड़ी बोली में स्टेशन-मास्टर को डाँट बता आया।

मौलवी साहब आये और 'डाक बँगला खाली नहीं था, शहर में जाने के लिए गाड़ी नहीं मिल सकती थी, आदि बातें बनाकर माफी माँगने लगे। मैंने भी अपना गुस्सा उन पर अच्छी तरह उतारा।

अन्त में हम वकील के यहाँ गये। उसका मुवक्किल बम्बई से बैरिस्टर लाएगा, इसकी उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। परन्तु अपनी आँखों के आगे यह घटना घटते देखकर वह बड़ा खुश हो गया। मैजिस्ट्रेट को विश्वास था कि अभियुक्त नहीं आयेगा, इसलिए वारंट निकालने का हुक्म देकर वे दौरे पर चले गए थे और कह गए थे कि अभियुक्त आये, तो उसे दौरे में उनके पास भेज दिया जाए; वे तारीख दे देंगे।

"वें कितने मील दूर गये हैं ?"

"बाईस मील।"

"मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। शाम की गाड़ी से मैं वापस लौट जाऊँगा।" मैंने कहा और मौलवी साहब मैजिस्ट्रेट के पास तारीख डलवाने चले गए।

वकील ने मेरी बड़ी खातिरदारी की। नहाते समय इतने बड़े वेग में उन्होंने मुझे पानी दिया कि नहाते-नहाते मेरे हाथ थक गए, पर पानी खतम नहीं हुआ।

भोजन करने बैठे, तो 'एलुवे'-जैसा लाल भात और मेरी खातिरदारी में बनाई हुई गेहूँ की मोटी और कच्ची रोटियाँ सामने आईं। मिर्च का तो पार ही नहीं था। वकील ने मुझसे रोटी खाने के लिए आग्रह करते हुए कहा—"आपके लिए खास तौर से बनवाई हैं।" परन्तु मेरा हाथ न उठा। उनके आग्रह पर भी मैं टस-से-मस न हुआ। अन्त

मैं मैंने दही माँगा और दही के साथ लाल भात खाया।

शाम को मैंने बम्बई की ओर विजय-प्रस्थान किया।

मैंने अपने मुवक्किल को इस प्रकार छोड़ दिया, पर वह मुझे छोड़ने वाला नहीं था। उसने अपने मित्रों को मेरा पता बता दिया था और वह स्वयं भी तार के सिवाय संदेश नहीं भेजता था। इसलिए हाईकोर्ट की लाइब्रेरी में मेरे नाम या मेरे 'केयर आफ' इतने तार आने लगे कि मुझे शर्मिन्दा होना पड़ा।

आ रहा हूँ, आज इस 'हाईनेस' से, कल उस 'हाइनेस' से फ़ीस जमा कर रहा हूँ, मेरे केस में आने के लिए तैयार रहिए—आदि संदेश आते रहे। परन्तु अनन्तपुर की हवा खाकर मेरे मुँह का पानी जो सूख गया था, वह फिर आ नहीं सका।

एक दिन मेरे पास लगभग बारह वर्ष का एक लड़का, अठारह वर्ष की एक लड़की और लगभग पच्चीस वर्ष का एक युवक आया और मौलवी साहब का पता पूछा।

उन्होंने तीन तार दिखलाए; मैंने तेरह तार उनके आगे रखे। मौलवी ने अपनी बहन, बहनोई और लड़कों को बम्बई बुलाया था; आठ दिन से वे बम्बई आकर होटल में ठहरे हुए थे, पर मौलवी साहब का कोई पता न था। अपना बम्बई का पता 'केयर-आफ़ के०एम० मुन्शी, हाईकोर्ट' के सिवा और कुछ तो वे बतलाने ही क्यों लगे!

पाँच-सात दिन के बाद वह लड़का और लड़की दोनों फिर मेरे घर आये। दोनों के मुँह कुम्हलाये हुए थे। मेरे कुछ प्रश्न करने पर लड़की रो पड़ी। मौलवी का पता नहीं। जितने पैसे साथ लाए थे, वे खत्म हो गए। वापस जाने के लिए पैसे नहीं थे; होटल वाले ने निकाल दिया था और रात से कुछ खाया नहीं था।

उस कोमल मुख पर आँसू टपकते देखकर मैं अकुला उठा। मैंने तुरन्त दोनों को खाने के लिए बिठाया और घर वापस जाने के लिए लगभग तीस रुपये दिये। 'Your need is greater than mine,' एक अंग्रेज वीर

के इन ऐतिहासिक शब्दों को मैंने झिझकते हुए अपने जीवन में उतारा।

थोड़े दिनों बाद मौलवी सपरिवार मेरे यहाँ आये और बिना फ़ीस लिये अनन्तपुर चलने की उन्होंने मुझसे प्रार्थना की।

मैंने अपनी डायरी में नोट किया—

'मौलवी अपने परिवार के साथ आया। उसकी बहन ने रोकर मुझमें दयाभाव जाग्रत करने का स्त्री-चारित्र्य दिखलाया। यह मनुष्य तो लुटेरा है। इसके लिए मैं अपने हित की बलि कैसे दे सकता हूँ?'

१४-११-१३

कुछ महीनों बाद अनन्तपुर का पुलिस-अधिकारी उसकी खोज करता हुआ मुझे हाईकोर्ट में मिला और मौलवी साहब मेरे जीवन-पट पर से विलुप्त हो गए।

छः

जमीयतराम काका की व्यावहारिक दृष्टि अद्‌भुत थी। प्रत्येक वस्तु पर उनकी नज़र रहती थी। जो काम वे करते, उसमें अधूरापन या अनिश्चितता बिलकुल नहीं होती थी। छोटे बच्चों ने जीभ साफ़ की है या नहीं, इसकी भी उन्हें रोज़ चिन्ता रहती थी। जब कहीं विवाह में जाना होता, तब परिवार की सब स्त्रियाँ उनके पास आकर गहने पहनकर जातीं और बरात वापस होते ही फिर उन्हें सौंप जाती थीं। 'बैरिस्टर का काम न बन पड़े तो कोई बात नहीं, परन्तु चपरासी से लेकर सालिसिटर तक का काम तो मुझे आना ही चाहिए,' इस प्रकार वे कहा करते थे। आवश्यकता की वस्तु की ओर ध्यान न दिया गया हो, यह हो ही नहीं सकता था। अपनी सावधानी पर उन्हें बड़ा गर्व था। उसी से वे विपक्षी को मात करते थे। जितने ट्रस्ट और जितनी मल्कियतें उनके हाथ में थीं, उनकी व्यवस्था एकदम सही होती थी। रात को सारे काम से निश्चिन्त होकर प्रत्येक बही के खातों की देखभाल स्वयं करके ही वह सोते थे।

बाह्य दृष्टि से उनका स्वभाव कठोर मालूम होता था, परन्तु आन्त-

रिक दृष्टि से समझदार और ममत्वपूर्ण था। ज़रा-ज़रा-सी बात में चिल्ला पड़ते, पर उनका हृदय मुश्किल से ही व्याकुल होता था।

अच्छा काम करना और पर्याप्त पैसे लेना, यह था उनका सूत्र। कोई थोड़ी फ़ीस की बात करता कि उन्हें गुस्सा आ जाता। मुवक्किल की दुकान पर कुछ खरीदने जाते, तो उसे मुँह-माँगे दाम देते और ऐसे मुवक्किल से वे हमेशा कहते, 'तुम भी मेरा कास्ट्स (फ़ीस की रकम) पूरा-पूरा देना, मेरे भाव में कमी न करना।'

पैसे प्राप्त करने और खर्च करने, दोनों ओर उनकी दृष्टि तलवार की धार के समान थी; इसमें ज़रा भी कमज़ोरी या ढीलापन नहीं आता था। अनुचित तरीके से मिले हुए धन को वे शिव-निर्माल्य समझते। झूठे व्यवहार के वे कट्टर शत्रु थे। वे मंदिरों में जाति के लिए, सगे-सम्बन्धियों की सहायता के लिए और ब्राह्मणों के लिए पैसे खर्च करते; इसके सिवाय उनकी मुट्ठी बन्द रहती थी।

काका स्पष्ट धर्माभिमानी थे। नये ज़माने की दृष्टि उन्हें चुभती थी। मंछाशंकर काका की तरह धर्म-ग्रन्थों के पाठक नहीं थे; जन्म से भार्गव ब्राह्मण होने के कारण उसकी उचित रूढ़ियों का पालन करने में उन्होंने अपना कर्तव्य माना था। जवानी में खाने-पीने में तूफान मचाए थे, बलवा भी किया होगा। जब मैं उन्हें जानने लगा, तब तो उन्होंने बारह ज्योतिर्लिंगों के दर्शन करके आने में जीवन की सफलता मान ली थी। वे कहते—"भाई, जब बड़े होंगे, तब इसकी खूबी समझ में आएगी।"

मैं उनके लिए अनबूझी पहेली के समान था। निर्धन होने पर भी मैं अभिमानी था। समय खराब करने पर भी परीक्षा में पास हो गया था। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध भाषण करने पर भी जाति को सुधारने के प्रयत्न करता था। उनकी दृष्टि में मैं धर्म-भ्रष्ट था, फिर भी वेद और पुराण से परिचय बढ़ाता और ब्राह्मणों द्वारा की हुई जगत् की सेवा की बातें करता था। उन्हें आशा थी कि कभी मैं सुधर जाऊंगा।

मैं व्यवसाय में किस प्रकार आगे बढ़ूँ, इसकी उन्होंने सावधानी से

योजना बनाई थी। भूलाभाई के पास उन्होंने मुझे सीखने के लिए भेजा, इसमें उनकी दूरदर्शिता थी। एक बात तो यह थी कि मैंने थोड़ा-बहुत सीखा और दूसरी बड़ी बात यह थी कि साथ-साथ भूलाभाई को काम देने वाले सालिसिटर को आकर्षित करने का क्षेत्र मिला। काका ऐसा काम नहीं देते थे, जिसमें मुझे केवल कमाई हो, बल्कि ऐसा काम देते थे जिसमें परिश्रम करना पड़े।

हाईकोर्ट के अनेक बड़े सालिसिटर रोज़ दोपहर को लाइब्रेरी में मिलते थे। यह काका का दरबार कहलाता था। जब कोर्ट खुला होता, तब रोज़ दरबार लगता। वहाँ कोर्ट की बातें होतीं, नये फैसलों की छान-बीन की जाती, किसी सालिसिटर को कोई उलझन मालूम होती तो उसे काका सुलझाते। कोई कठिनाई में पड़ जाता तो काका उसे हाथ पकड़कर पार लगाते। नगर की बातें भी होतीं। किसी समय किसी की इज्ज़त भी लुट जाती। अश्लीलता का रंग भी कभी-कभी जमता। काका इस दरबार में एकछत्र राज्य करते, योजना बनाते, दूसरे सालिसिटरों को कमाने के रास्ते बतलाते। सब उनसे प्रेम करते थे और साथ ही डरते भी थे कि कहीं काका के आगे कान न पकड़ना पड़े।

मुझे काम देने के लिए काका ने अपने किसी मित्र से कभी नहीं कहा था, परन्तु मुझे धीरे-धीरे दरबार का अंग बना लिया और इतना ही नहीं, उन्होंने ऐसे प्रसंग खड़े किये कि जिनमें मैं प्रतिष्ठित सालिसिटरों की नज़रों में खरा उतरूँ। इनमें से काका के पश्चात् स्वर्गीय विजभूखनदास पकवासा (कबलभाई) का प्रेम प्राप्त करने का मुझे सौभाग्य मिला; और उनके कारण उनकी फर्म मेसर्स तैयबजी डाह्याभाई के सब हिस्सेदार मुझमें दिलचस्पी लेने लगे।

१९१४-१५ में एक बड़ा ही मनोरंजक अनुभव मुझे हुआ। तब मैं अनुभवहीन था। उस समय एक गिनी[1] पन्द्रह रुपये की नहीं थी,

---

१. हाईकोर्ट की ओरिजिनल साइड पर फीस की गणना पन्द्रह रुपये की एक गिनी के हिसाब से होती है।

परन्तु दो सो चालीस अमूल्य आनों की थी, और प्रत्येक आने की उपयोगिता की सीमा नहीं थी। कोर्ट में जब मैं खड़ा होता, तब कानों में घम-घम आवाज़ होती, उँगलियाँ इस तरह काँपतीं जैसे हवा में पत्ता काँपता है और पैर मोटर के हवा निकलते हुए टायर की तरह मुड़ने लगते।

मैंने एक दावा-अरज़ी लिखी थी। मेरी समझ में वह रत्ती-रत्ती सही थी और उसमें गलतियाँ न थीं। मेरे मुवक्किल की यह फरियाद थी कि उसकी प्रिय-पत्नी उसके साथ रहने के बदले अपने काका के घर चली गई थी। हमने प्रार्थना की थी कि माननीय कोर्ट उस क्रूर-हृदय पत्नी को हमारे आतुर हाथों में पुनः सौप दे और साथ ही पचास हज़ार रुपयों की कीमत के जो गहने वह ले गई थी, वे भी पुनः दिलवा दे।

यह बिना बचाव का लम्बा झगड़ा—Undefended Long Cause कहा जाता था, इसलिए प्रतिपक्षी उपस्थित हो ही नहीं सकता था। मुझे तो केवल अपने मुवक्किल का बयान लेकर हुक्मनामा प्राप्त करना था। ब्रीफ पर भी मेरे सालिसिटर ने मेरी फास के तीन गिनी अर्थात् पैंतालीस रुपये लिख दिये थे, इसलिए वसन्त में अह्लादित सृष्टि कोकिलगान करती मुझे सुनाई दे रही थी। सवा दो बजे न्यायाधीश बीमन के कोर्ट में एक अगली कुरसी पर जाकर मैं बैठ गया। अपने मुवक्किल की दाम्पत्य-जीवन की अभिलाषा को सन्तुष्ट करने की उत्कंठा मेरे हृदय में उठ रही थी। काका सामने सालिसिटर के बेंच पर बैठे हुए थे। ढाई बजे जब कोर्ट उठा, तब काका मेरे पास आये।

"इस झगड़े में तुम हो?"

"जी हाँ।"

काका ने डराती हुई आवाज़ में पूछा, "तुम इसका हुक्मनामा लेने वाले हो?" तीन गोल्ड मुहरें और बिना प्रतिपक्षी के लिया जाने वाला हुक्मनामा, इन दोनों के कारण मैं इतने उत्साह में था कि काका के गले लगने को तैयार था।

''जी हाँ,'' मैंने कहा।

''लो भाई, लो'' काका ने भयंकर आवाज़ में कहा, ''देख लेंगे, ले लो।''

यह आवाज़ सुनकर मेरा हृदय क्षण-भर के लिए धड़कना बन्द हो गया।

साढ़े तीन बजे न्यायाधीश बीमन के सामने मैं फिर उपस्थित हो गया। क्रुद्ध और हँसमुख रजिस्ट्रार कमलाकर मेरा पक्ष लेता था। उसने मेरी ओर आँख से संकेत करके मेरे झगड़े के पक्ष वालों के नाम पुकारे। काका की ओर विजय-भरा नयन-तेज फेंककर मैंने कोर्ट को सूचित किया कि मैं वादी की ओर से हाज़िर हुआ हूँ।

कमलाकर ने फिर से प्रतिवादी का नाम पुकारा। कोई नहीं आया, परन्तु कमलाकर ने उठ कर न्यायाधीश से कहा कि प्रतिवादी ने माननीय को एक पत्र लिखा है। काका के मुख पर हास्य चमका और मेरे हृदय में हिमालय की ठंडक फैल गई। फिर कमलाकर ने पत्र पढ़ा। पत्र से प्रतिवादी कृतघ्नता की मूर्तिमान-सी प्रतीत हुई। उसने लिखा था कि उसका पति और मेरा मुवक्किल विषयी मनुष्य है, कोई काम-धन्धा नहीं करता। जब वह उसके साथ रहती थी, तब वह हमेशा कोकीन खाकर बच्चों को मारता-पीटता रहता था। थोड़ी सम्पत्ति, जो उसके पिता छोड़ गए थे, वह उसने फूँक डाली थी। और इस कारण उसने अन्त में लड़के के साथ शहर में अपने काका के यहाँ शरण ली थी। प्रतिवादी स्त्री ने अन्त में कहा था कि यदि मेरे मुवक्किल के साथ रहने का मुझे माननीय हुक्म देंगे, तो यह घातक कृत्य कहलाएगा; और इतना ही नहीं, इससे अधिक पाप करना माननीय के लिए असम्भव हो जाएगा।

न्यायाधीश बीमन ने कहा, ''मि० मुंशी, आपका मुवक्किल तो ब्रह्मराक्षस मालूम होता है।''

''ऐसी बात नहीं है।'' मुझे तो बिना देखे मुवक्किल का वर्णन करने के लिए पैसे मिलने वाले थे, इसलिए मैंने उत्साह से कहा, ''माननीय!

मेरा मुवक्किल अभी जब गवाह के कठघरे में आएगा, तब आप ही देख सकेंगे कि ये सब आक्षेप झूठे हैं।"

वादी का नाम पुकारा गया। पत्नी के बिना तड़पते हुए अपने विरहाकुल प्रणयी मुवक्किल को माननीय के सामने उपस्थित करने की मेरी इच्छा थी। परन्तु 'बाप रे!…' मेरे हृदय से ध्वनि निकली।

गवाह के कठघरे में वादी आया—पान चबाते हुए, सिर पर कोनेदार टोपी लगाकर गहरी आँखों से हमें देखते हुए, बाहर निकली हुई जीभ से अपने मुख की शोभा की अभिवृद्धि करता हुआ! उसने किसी और का कढ़ा हुआ कोट पहना हुआ था। उसकी इस्त्री से स्पष्ट पता लग रहा था कि कोर्ट में पहनने के लिए किसी परिचित धोबी से किराये पर लाया गया होगा।

अपने मुड़ते हुए घुटनों को मैंने ज्यों-त्यों करके रोका।

"तुम इस दावे में वादी हो?" मेरे मुवक्किल को मेरी ओर देखने की परवाह नहीं थी; वह तो कठघरे के पास सालिसिटर की बेंच पर बैठे हुए काका की ओर आँखें फाड़कर देखता रहा। उसने गला खँखारा। मानव-जीवन का प्रवाह बदल डालने वाली कोई भीषण प्रतिज्ञा वह करने जा रहा था, ऐसा स्पष्ट मालूम होने लगा। उसने माननीय की ओर देखकर बोलना शुरू किया। उसकी आवाज़ घुट रही थी—या तो पान का रस निगला न जाने से या पत्नी-विरह व्यक्त करने वाले प्रणयी के भग्न हृदय में छाये हुए एकाकीपन से। एक-एक बोल पर पान के कण चारों ओर उड़ रहे थे।

"माई लार्ड, खून हो गया—मेरे ससुर का; क्षज्ञ—और…नगर के दीवान और जमीयतराम जीवनराम सालिसिटर, बम्बई होईकोर्ट, ने सारे पैसे ले लिये।"

काका के मुख के भाव से प्रतीत हुआ कि वे उपहास कर रहे हैं। अब मुझे होश आया कि काका किसलिए यहाँ बैठे थे। परिस्थिति सुधारने के लिए मैंने एक भगीरथ प्रयत्न किया—

"माननीय, वादी को अंग्रेजी अच्छी तरह नहीं आती, दुभाषिये को आज्ञा दीजिये कि इससे गुजराती में प्रश्न करे।"

न्यायमूर्ति बीमन को इस प्रसंग में बड़ी दिलचस्पी पैदा हो गई थी।

"नहीं, मि० मुंशी," उन्होंने कहा, "हम इस समय दिलचस्पी से भरी खून की रहस्यमयी बातों की दुनिया में हैं। ठीक, मि० वादी, फिर तुम्हारे खून का क्या हुआ?"

पढ़ाये हुए तोते को शोभा देने वाले ढंग से वह फिर बोलने लगा—

"माई लार्ड, खून हो गया—मेरे ससुर का; क्षज्ञ—और···नगर के दीवान और जमीयतराम जीवनराम सालिसिटर, बम्बई हाईकोर्ट, ने सारे पैसे ले लिये।"

न्यायमूर्ति की स्थिर मुखमुद्रा पर हास्य छा गया। मेरे निकट ही रुस्तम वाडिया बैठे थे। उनके हँसने की आवाज़ मेरे कानों में पड़ी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मेरे चारों ओर धुंध छा गई है और उसमें से मैंने सौ मुख हँसते हुए देखे। पसीने की बूंदें मेरे माथे पर उभर आईं। अपने हाथों को कहाँ डालूँ, यह न सूझने से मैंने उन्हें पीठ के पीछे ले जाकर उँगलियों को मिलाकर मरोड़ डाला और मैं खड़ा रह सकूँ, इतनी स्वस्थता प्राप्त करने का मैंने प्रयत्न किया।

न्यायाधीश बीमन निर्दयता की मूर्ति बनकर बैठ गए।

"ठीक, ठीक, मि० वादी, तुम कोकीन खाते हो?"

"नहीं, माई लार्ड!" मेरे मुवक्किल ने कहा, "मैं सवेरे भात खाता हूँ, दाल खाता हूँ और दो बार चाय पीता हूँ।"

वहाँ इकट्ठे हुए लोगों के गलों से निकली हुई आवाज़ मेरे कानों से इस प्रकार टकराई, जैसे तोप के धड़ाके हों। मुझे यह सूझ न पड़ा कि क्या करूँ। अपने सालिसिटर से प्रेरणा पाने के लिए मैंने पीछे देखा। वे कब के अन्तर्धान हो चुके थे और मैं रह गया था अकेला—मित्र-विहीन, सालिसिटर से परित्यक्त, और मुवक्किल के द्रोह से व्यथित।

मनोरंजन की आशा रखकर बैठे हुए समूह के बीच मैंने शकुन्तला

की तरह प्रार्थना की—"भगवति वसुंधरे देहि मे विवरम्।' परन्तु कोर्ट की भूमि अपनी क्रूर-हृदयी निश्चलता से न डिगी। न्यायाधीश बोमन ने मुझसे मज़ाक में पूछा—

"मि० मुंशी, अब आपके मुवक्किल का क्या किया जाए ?"

क्या किया जाए, यह जाने मेरी बला ! यह मैं जानता हूँ, ऐसा न्याय मेरे साथ करने की यह अन्याय-वृत्ति इस न्यायाधीश में भला कहाँ से आ टपकी !

रुस्तम वाडिया की कुहनी मेरी पसलियों में चुभी।

"दावा वापस ले लो। दावा करने की आज्ञा के साथ दावा वापस ले लो," सारा कोर्ट सुन सके इस प्रकार ऊँची आवाज़ में उन्होंने मेरे कान में कहा। बिजली गिरने और बादल गरजने के समान भयंकर अट्ट-हास से मेरे कान फट गए।

अपने दावे को, अपने मुवक्किल को या अपने-आपको मैं किस प्रकार वापस ले लूँ, इसका मुझे ज़रा भी होश नहीं था। यह कला तो अकेले मेरे सालिसिटर मित्र को आती थी और वे उसका कब से उपयोग भी कर चुके थे। आधे होश में मैंने वाडिया की सलाह का उच्चारण किया—

"फिर दावा करने की आज्ञा के साथ वादी को दावा वापस लेने की आज्ञा दें।"

न्यायमूर्ति ने तटस्थता से फैसला किया।

"मि० मुंशी, इससे अधिक अच्छा आप इस समय और कुछ नहीं कर सकते।" न्यायाधीश बोमन के टाइपराइटर पर इस हुक्म के टाइप होने से पहले ही मैं वहाँ से पलायन कर चुका था।

इसके पश्चात् बहुत दिन तक लाइब्रेरी में जाना मेरे लिए बहादुरी की पराकाष्ठा पर पहुँचने के समान हो गया था। इतनी हिम्मत यदि मैं रणक्षेत्र में काम में लाया होता, तो मुझे कितने पदक मिलते !

इस प्रकार यह रस-भरा अनुभव पूर्ण हुआ, जिसकी रसहीनता

कितने ही समय तक मुझे बेधती रही ।

सात

भूलाभाई का विद्यार्थी-जीवन बड़ा तेजस्वी था । १८९९ में इतिहास का विषय लेकर बी० ए० में फर्स्ट क्लास में पास हुए । गोकुलदास तेजपाल बोर्डिंग और एल्फिन्स्टन कॉलेज के सहाध्यायियों को उन्होंने मुग्ध कर दिया था । खेल-कूद में भी वे बेजोड़ थे । विद्या-व्यसनी लड़कों को उनके लिए बड़ा मान था । शरारती पारसी लड़के भी उनका सम्मान करते थे । पास होने के बाद, कुछ समय वे एल्फिन्स्टन कॉलेज में इतिहास के प्रोफेसर रहे और सन् १९०० ई० में अहमदाबाद के गुजरात कॉलेज में प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए । वहाँ उस समय 'सेटलमेंट आफ़िसर' के रूप में भीमभाई किरपाराम की बड़ी प्रतिष्ठा और प्रभाव था । भूलाभाई उनके स्वजातीय और उनके पुत्र और भतीजे के मित्र थे; इसलिए जितनी प्रतिष्ठा उन्होंने अपनी शक्ति से प्राप्त की, उतनी ही उनके साथ के सम्बन्ध से भी प्राप्त कर सके ।

बाद में वे छुट्टी लेकर बम्बई आये । हाईकोर्ट में हाज़िरी लिखी । सन् १९०४ के मार्च में एडवोकेट बने ।

अग्रगण्य गुजराती सालिसिटर इस बुद्धिशाली गुजराती युवक पर मुग्ध हो गए और पहले दिन से ही उनकी मदद करने लगे । भूलाभाई की प्रत्येक व्यक्ति को रिझाने की शक्ति जादू-सा चमत्कार दिखलाने लगी । उनका शरीर भी कसा हुआ था, इसलिए परिश्रम करने की शक्ति भी असीम थी । बोलने की छटा भी प्रभावित करने वाली थी । इसलिए वे हाईकोर्ट में आये, उसे परखा और उसे जीत लिया ।

पारसी सालिसिटरों के भी वे प्रिय बन गए । उनमें से अनेक तो उन्हीं के पुराने सहाध्यायी थे । पारसियों के ढंग की उद्धतता, या विनोद-पूर्वक बोलने और आचरण करने की कला को अपनाकर उन्होंने अन्य लोगों को अपना लिया ।

आगा खाँ के विरुद्ध उन्हीं की एक सम्बन्धी का किया हुआ दावा न्यायमूर्ति रसल के आगे महीनों तक चला था। उसमें बहादुरजी और भूलाभाई उस स्त्री की ओर से खड़े हुए थे। मुकाबले में आठ-दस होशियार बैरिस्टर थे।

इस केस का मेरा कुछ स्मरण तो माननीय न्यायमूर्ति के विषय में है। वे खास तौर पर बनवाये हुए छाती तक ऊँचे टेबल पर हाथ रखकर ऊँघते रहते। इन्वेरारिटी[1] थोड़ी-थोड़ी देर बाद जब टेबल पर किताबें पटकते, तब माननीय चौंककर जागते, आँखें मलते और कहते—"ठीक, मि० इन्वेरारिटी, फिर आगे ?" और इन्वेरारिटी आगे चलते।

१९१३ में जब मैं आया, तब तक भी भूलाभाई की इस केस में दिखलाई हुई कुशलता और कीर्ति का गुंजन सुनाई दे रहा था।

माननीय रसल के कोर्ट में हुई एक मनोरंजक घटना को अनेक धारा-शास्त्री अब तक याद करते हैं। एक बार वे सेशन्स में खून के आरोप का मुकदमा चला रहे थे। ग्रांडरोड पर, जहाँ वेश्याएँ रहती हैं, उस गली में खून हुआ था और वेश्या गवाह के रूप में बयान दे रही थी।

गवाह के सामने नक्शा रखा गया। बैरिस्टर ने उससे कहा—

"मरा हुआ आदमी कहाँ पड़ा था, यह इस नक्शे में बताओ।"

वेश्या ने यह बताने का प्रयत्न किया।

"तुम्हारा घर कहाँ पर है ?"

वेश्या को नक्शा देखना किसी ने नहीं सिखलाया था, इसलिए उसने स्वयं भरसक प्रयत्न किया। सवाल भी ठीक-ठीक उसकी समझ में नहीं आया। माननीय क्रुद्ध हुए और दुभाषिये से कहा—

"Tell the witness, if one comes to your place how would he identify your house ?"

---

१. उस समय के एक कुशल वकील, जिनका परिचय पीछे मिलेगा।

दुभाषिये ने तीर फेंका—"देखो बाई, माननीय पूछ रहे हैं कि यदि वे वहाँ आयें, तो उन्हें कैसे पता लगेगा कि यह घर तुम्हारा है?"

वेश्या इस प्रश्न में निहित मान से नम्र और शरमीली बन गई। उसने दृष्टि झुका ली और आकर्षक नयनों और मीठे स्वर में उत्तर दिया—"माननीय से कहिए कि मेरा घर खोजने में ज़रा भी देर नहीं लगेगी। खिड़की में मैंने तोते का पिंजरा टाँग रखा है, इससे तुरन्त पता लग जाएगा।"

मैं भूलाभाई के चेम्बर में शिक्षा लेने लगा। लगभग बारह महीनों के बाद उन्हें मालूम हुआ कि यह लड़का उनके पास से चले जाने योग्य नहीं है। धीरे-धीरे मैं उनकी मदद करने के जो प्रयत्न करता, वे भी उनके लिए सहायक सिद्ध होने लगे। भूलाभाई और उनकी पत्नी इच्छा बहन ने मुझे अपना लिया।

धारा-शास्त्री के रूप में भूलाभाई की विशिष्टताओं में मुख्य थीं उनका अथक परिश्रम, पृथक्करण-शक्ति और न्यायाधीश का मन जीत लेने का कौशल। सवेरे से लेकर बड़ी रात तक वे लगातार परिश्रम कर सकते थे, घंटों तक बोल सकते थे और फिर तुरन्त परेशानी में डालने वाले प्रश्नों की ओर भी ध्यान दे सकते थे। रात को कभी-कभी दो बजे सोते। फिर भी सवेरे स्वस्थता से उठकर काम आरम्भ कर देते थे। खाने पर नियंत्रण रखते थे, परन्तु इच्छा होने पर सभी कुछ खा सकते थे। व्यायाम की ज़रूरत नहीं थी। परन्तु छुट्टियों में जब बाहर जाते तब रोज़ मीलों पैदल चलते थे।

उनकी बुद्धि का मुख्य लक्षण था सूक्ष्म पृथक्करण की शक्ति। १९१५ में हमारा निजी सम्बन्ध बढ़ा। इसके बाद इच्छा बहन और भूलाभाई रोज शाम को अपनी गाड़ी में मुझे रायल ओपेरा हाउस तक छोड़ जाते। अनेक बार मैं उनके घर भी जाता, भोजन करता और फिर हम किसी उलझन-भरे केस के विषय पर बैठकर बातें करते। वे पान चबाते हुए सोफे पर बैठते और मैं सामने कुरसी पर कागज़ लेकर बैठ

जाता। वे मुझसे सवाल करते जाते और 'नहीं···नहीं···' बोलते माथे पर बल डालते, ज़रा-ज़रा बात में अधीर होते; एक ही अभिप्राय को कभी किसी प्रकार गठित करते, कभी किसी प्रकार करते। कभी एक पुस्तक मँगाते और कभी दूसरी तलाश करते। पृथक्करण करते-करते उस अभिप्राय को नया और स्पष्ट स्वरूप प्रदान करते।

"मुंशी काका, अब यह हो गया ठीक।"

और वह इस्तगासा, जब दूसरे दिन लिख डालते या कोर्ट में उपस्थित करते, तब बिलकुल स्पष्ट हो जाता था।

इस मानसिक कसरत की सूक्ष्मतम और चपल प्रक्रियाओं के मुझे दर्शन हुए; और उस दर्शन से मुझे अपनी अशक्तियों का भान हुआ। इस शक्ति के कारण भूलाभाई अपने केस में प्रतिपादन करने वाले इस्तगासों की अपेक्षा विपक्षियों के मुद्दे की ओर पहले देखते थे; फलस्वरूप विपक्षी की ओर से कदाचित् ही ऐसा मुद्दा प्रकट होता था जिसका जवाब उनके पास तैयार न हो।

भूलाभाई की स्वाभाविक कथन-शक्ति शब्द-वैभव पर निर्मित थी। जब वे बोलने के लिए खड़े होते, तब शब्दों का स्रोत बहने लगता था। उसमें व्याकरण के दोष होते, सामान्यतया क्रिया-पद आने से पहले दूसरा वाक्य शुरू हो जाता; परन्तु जब बोलना आरम्भ करते, तब धीरे-धीरे वाक्य घोटते-घोटते उनकी शक्ति स्थिर हो जाती, उस पर पृथक्करण-शक्ति काबू पा लेती और फिर उनकी वकालत चमक उठती।

उनकी कथन-शक्ति की अपेक्षा उनकी यह देखने की दृष्टि अद्भुत थी कि कौनसा मनुष्य किस ढंग से बोलने से उनका कथन स्वीकार करेगा। और परिणामस्वरूप दस-पन्द्रह मिनट में जो पानी पिलाते, उसे पीने के लिए न्यायाधीश आतुर हो उठता था। परन्तु अनेक बार विपक्षी में इस प्रकार की संरक्षक-वृत्ति उत्पन्न हो जाती थी कि कहीं वह भूलाभाई की चतुराई में न फँस जाए। 'भूलो बनावी जशे' (भूलाभाई बना लेंगे) यह वाक्य अनेक बार पारसी सालिसिटरों के मुख से निकलता।

१९२२ के पश्चात् उनकी वकालत की पद्धति में एकदम परिवर्तन हो गया। सिद्धहस्त धाराशास्त्री के उभरते हुए आत्मविश्वास से उसमें अनेक भिन्न लक्षण पैदा हो गए। वे उपस्थित होते, कि गर्जन-तर्जन शुरू हो जाता। न्यायाधीश, विपक्षी एडवोकेट और साक्षी को कुचल डालने की उनमें प्रबल इच्छा दीख पड़ती। उनसे सब दंग हो जाते। परन्तु पुरानी पद्धति का चमत्मकार इसमें न रहा।

उनकी दावा-अरज़ियों, जवाब और सबूतों की ढेर-सी कच्ची लिखाइयाँ मैं तैयार करता, और उनमें से अनेक मेरे लिए भी उपयोगी सिद्ध होती रहीं। उनकी ब्रीफों का सारांश भी मैं निकालता, यद्यपि भूलाभाई लिखित सारांश को अवलम्बन न मानकर कुछ तारीखें लिख रखते और बाकी जानकारी के लिए स्मरण-शक्ति पर निर्भर रहते थे।

१९१६ के पश्चात् तो हमारा सम्बन्ध प्रगाढ़ हो गया। मुझे वे परिवार का व्यक्ति समझने लगे। इच्छा बहन लक्ष्मी को लड़की की तरह योग्य बनाने लगीं। उनके साथ घूमने जाना, नाटक देखना, भोजन करना, यह तो मेरा प्रायः हमेशा का कार्यक्रम बन गया। सद्भाव से जो उनकी बात सुने, ऐसे मनुष्य की भूलाभाई को हमेशा भूख रहती थी, उस भूख को मैंने सन्तुष्ट किया। इन वर्षों में मैं उनका शिष्य और भक्त दोनों बन गया।

जमशेद कांगा भूलाभाई के सच्चे प्रतिस्पर्धी थे। उनका और मेरा परिचय १९२२ के पश्चात् हुआ, इसलिए इस विषय के संस्मरण यहाँ दिये हुए समय के बाद के हैं।

कांगा रोज़ शाम को मान्जिनी के रेस्तराँ में जाकर बैठा करते। उनका यह नियम बन गया था कि जो कोई यहाँ मिलने या ब्रीफ़ देने आता, उसे उनका आतिथ्य अवश्य स्वीकार करना पड़ता था। भूलाभाई अनेक बार साढ़े सात बजे के करीब मान्जिनी में कांगा के साथ यह निश्चय करने के लिए जाया करते थे कि किस काम का प्रबन्ध किस प्रकार किया जाए। उस समय मैं भी उनके साथ ही होता था।

भूलाभाई के निकट-सहवास में उनके स्वभाव के भिन्न-भिन्न पहलुओं से निकलते रंगों को मैं प्रशंसा-मुग्ध होकर देखा करता। मैं उनके सान्निध्य से यूरोपीयन संस्कृति के अनेक अंगों के पाठ पढ़ने लगा। उनकी अनेक विशेषताएँ और दृष्टि-बिन्दु अनजाने में ही मुझ पर अधिकार जमाते जा रहे थे।

आठ

यूरोपीय सभ्यता का एक मुख्य लक्षण शराब पीना है। इसके बिना अतिथि का सत्कार सत्कार ही नहीं माना जाता, गृहस्थ को गृहस्थ में स्थान नहीं प्राप्त होता, रँगीलापन सिद्ध नहीं होता। यदि आप इसे नहीं पीते तो आप 'Jolly good Fellow' हरगिज़ नहीं हैं; कंजूस, नालायक, असभ्य और पढ़े-लिखे पशु में ही आपकी गिनती हो सकती है।

बम्बई के पारसियों ने और पाश्चात्य सभ्यता के पक्षपाती हिन्दुओं ने शराब के प्रति इस दृष्टि को अच्छी तरह पोषण दिया है। जहाँ एक बार यह दृष्टि पनपी कि फिर शराब के प्रति अप्रियता दूर हो जाती है, और वह निर्दोष, आनन्द प्राप्त करने और दिल बहलाने का जरूरी साधन बन जाती है। उसे पीना फिर किसी प्रकार का पाप या अपराध नहीं माना जाता। शराब जीवन के उल्लास का केन्द्र बन जाती है। पाश्चात्य लोगों के जीवन के ज़्यादातर सम्बन्ध शराब पीने और पिलाने की विधियों पर निर्मित हैं। हमारे 'बॉर' के भोजन में इसका माहात्म्य ब्रह्मभोज के मोदक से भी विशेष है।

मान्जिनी क्लब में जाते रहने से पाश्चात्य-संस्कृति की इस महाविधि के दर्शन करने का मुझे अवसर मिला। मैं ब्राह्मण का लड़का, शराब को मैंने कभी छुआ तक नहीं था। जीवन-भर भावनाशीलता को धर्म माना था। जिसके सेवन को बचपन से अधम माना था, उस अपरिचित वस्तु का सेवन करने वाले मित्रों को देखकर मुझे रंज हुआ था। परन्तु मेरे हृदय में पाश्चात्य सभ्यता ने घर कर लिया था। मुझे भी पश्चिमी

तो कमज़ोर पेट भी हजम कर सकता है।' जहाँ अंग्रेज़ी ढंग का खाना होता, वहाँ मित्रों से मुझे अनेक बार यह सीख सुनने को मिली है। यह सब मज़ाक में कहा जाता था, परन्तु इसके पीछे हमेशा यह ध्वनि होती थी कि जब तक साहबी खानपान नहीं सीख लेते तब तक तुम सच्चे बैरिस्टर नहीं हो सकते।

माँस-भक्षण करने से मैंने इनकार किया; परन्तु कहीं मेरी पाश्चात्य सभ्यता में खामी न रह जाय, इसलिए मैंने मुर्गी खाने वाले दो मित्रों के बीच बैठकर शाक-भाजी खाने की आदत डाली।

चिमनभाई, जो कि भड़ौंची पगड़ी पहना करते थे, जब बड़े एडवोकेट हो गए, तब पगड़ी हटाकर हैट पहनने लगे। उनके पद-चिह्नों पर भूलाभाई ने भी पगड़ी की जगह हैट पहनना शुरू किया। उनके बाद मैंने भी हैट धारण किया। १९१९ से तो मैं 'एसक्विथ एण्ड लार्ड' की अंग्रेज़ी दरजियों की दूकान के सिवा और कहीं से शायद ही कपड़े खरीदता था। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता के बाह्य अंगों को मैंने अपना लिया।

अनेक मित्रों की ओर से मुझे ब्रिज सीखने की सलाह मिली और अवसर भी प्राप्त हुआ। अंग्रेज़ी सभ्यता में 'Drinks' और 'Bridge' प्रतिष्ठाजनक हैं; परन्तु इन शब्दों के भारतीय नाम 'शराब' और 'जुआ' को हमारे संस्कारों में दुर्व्यसन माना गया।

मैंने ब्रिज सीखना अस्वीकार किया।

नौ

भूलाभाई के परिचय में मैंने बहुत-कुछ सीखा और अनेक के परिचय में आया। यदि मैं भूलाभाई के परिचय में न आया होता तो वास्तविक बम्बई और उसके जीवन के अनेक स्वरूपों को भी कभी न जान सका होता।

१९१७ में विख्यात सुनार नरोत्तमदास भाउ की स्पर्धा में किसी

दूसरे ने 'सोनी (सुनार) नरोत्तमदास भानजी' के नाम से दूकान खोली। नरोत्तमदास भाउ ने अपने व्यवसाय में व्यवहृत होने वाले नाम के सदृश नाम न व्यवहार करने के विषय में मनाही हुक्म प्राप्त करने के लिए नरोत्तमदास भानजी पर दावा किया। दावा चलने तक मनाही हुक्म दिया जाए, ऐसी अरजी जब भूलाभाई वादी की ओर से पेश कर रहे थे, तब मैं पास ही बैठा था।

न्यायमूर्ति काजीजी ने एक कानून का सवाल उठाया।

भूलाभाई ने मुझसे कहा, "मुन्शी काका, लाइब्रेरी में जाकर इसे रद्द करने वाला कोई फ़ैसला हो तो ले आओ। अभी मैं घण्टे तक तो बोलूँगा ही।"

मैं लाइब्रेरी में गया, केस देखे और सौभाग्य से मुझे मतलब का केस मिल गया। मैं कोर्ट में वापस गया। भूलाभाई ने फ़ैसला पढ़कर सुनाया। मेसर्स अरदेशर होरमसजी दीनशावाला शावकशा नरीमान इस काम में वादी की ओर से सालिसिटर थे। दूसरे दिन वे लाइब्रेरी में मेरे पास आये।

"मि० मेहता, मेरी ब्रीफ़ मिल गई?"

"मैं मेहता नहीं हूँ और मुझे आपकी ब्रीफ़ नहीं मिली," मैंने कहा।

"पर तुम्हीं ने कल भूलाभाई को केस लाकर दिया था न? तुम्हारा नाम के० एम० मेहता नहीं?"

नरीमान के दिमाग़ में यह बात नहीं घुसी कि उन्होंने भूल की होगी।

मैंने कहा, "केस मैंने लाकर दिया था, यह बात ठीक है; पर मेरा नाम के० एम० मुन्शी है।"

"भाई शंकर सालिसिटर के साथ वाला ऑफ़िस तुम्हारा ही है न?"

"नहीं, वहाँ एम० जे० मेहता का ऑफ़िस है।"

श्वास का धुआँ निकालते हुए नरीमान मेहता के पास जा पहुँचे। ब्रीफ़ वापस ले ली, उस पर मेरा नाम लिख दिया और आज्ञा दी—"Do your best."

मुझे इस अपरिचित बड़े सालिसिटर से यह पहली ब्रीफ़ मिली थी। उसमें नरोत्तमदास भाउ के मुकदमे में उपस्थित होने वाले अनेक कानूनी सवाल पूछे गए थे। मैंने बहुत दिन तक लाइब्रेरी में बैठकर उस विषय पर विस्तार से अपना अभिप्राय दिया।

जब मुकदमा सुनवाई पर आया, तक नरीमान ने नौ के करीब एडवोकेट रोके हुए थे; उनमें अंतिम नम्बर का एडवोकेट मैं था। ब्रीफ़ पर चार गिनी प्रतिदिन की लिखी हुई थी। मेरी समझ में रोज़ के साठ रुपये बहुत थे। यह मुकदमा बहुत दिन तक चला और अन्त में फ़ैसला हुआ हमारे पक्ष में।

यह पहला ही ऐसा बड़ा दावा था, जिसमें अपरिचित सालिसिटर ने मुझे रोका था। उसकी फीस से मैंने अपने घर के लिए पहली अलमारी और पहला आभूषण खरीदा।

दस

१९१७ के मई मास में भूलाभाई और इच्छा बहन मुझे दार्जिलिंग ले गए। उनका इकलौता पुत्र धीरूभाई और छोटूभाई सालिसिटर भी साथ थे। रास्ते में जब कलकत्ता उतरे, तब सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के दर्शन कर आए।

छोटूभाई, धीरू के काका थे, इसलिए सब छोटू काका कहते थे। मुझे लगभग एक महीना उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला।

छोटू काका अग्रगण्य सालिसिटर थे। मुझे उनके हृदय की सुकुमारता, सदैव आर्द्र स्नेहशीलता और गहरी रसिकता का परिचय मिला। जब सब सो जाते, तब हम लोग मेघदूत, गीत-गोविन्द और अमरूश तक पढ़ते। जब हम साथ-साथ घूमने जाते, तब रस का आदान-प्रदान करते। 'वेरनी वसूलात' (वैर का बदला) के प्रति उन्हें बड़ा आकर्षण था।

उनकी पत्नी-भक्ति में जो विह्वलता थी, वैसी मैंने और किसी हिन्दू पति में नहीं देखी। अनेक बार, जब अपने कमरे में हम अकेले बैठते, तब

'पाली बहन' के विषय में अपनी प्रणय-विह्वलता की कथा जो वे मद-भरी आँखों से कहते, मैं उसे भूल नहीं सका हूँ। जब वे स्वर्गवासी हुए, तब तक हम प्रगाढ़ स्नेह-सम्बन्ध में बँधे रहे। व्यवसाय के विषय में भी मैं उनका और उनके हिस्सेदारों का विश्वासपात्र बन गया।

उस समय दार्जिलिंग में सर जगदीशचन्द्र बोस ने हम लोगों को चाय पीने के लिए निमंत्रित किया और भारत के अग्रगण्य वैज्ञानिक के योग्य पूज्य भाव मन में लेकर हम उनके यहाँ गये। लेडी बोस ने हमारा स्वागत किया और अन्य दस-पन्द्रह स्त्री-पुरुषों के साथ हमें बिठाया। इसके बाद बीच का दरवाज़ा खुला। ब्रीचिज़ पहने हुए नेपोलियन की धुँधली आकृति के समान सर जगदीश निकले और सबसे मिले।

वे हम लोगों को अपनी प्रयोगशाला दिखलाने ले गए। वहाँ उनके पट्टशिष्य बोशीसेन (आजकल अलमोड़ा में विवेकानन्द रसशाला के संचालक) ने हँसते, रोते, शराब पीकर लड़खड़ाते हुए मनुष्य के समान पौधों के भाव सूक्ष्मदर्शक यंत्रों द्वारा हमें दिखलाए।

सर जगदीश हमें एक वृक्ष के पास ले गए और उसके नीचे रखी बैंच दिखलाई—"इस वृक्ष के नीचे बैठकर ऋषियों की विश्व-बंधुत्व की भावना का स्मरण करते हुए मुझे सत्य का ज्ञान हुआ और यह खोज करने का मार्ग मिला।"

छोटू काका और मैं श्रद्धा-भाव से गद्‌गद् होकर घर आये। परन्तु १९१९ में जब हम दार्जिलिंग गये तो पुनः जाकर चाय पी, शराब पिये हुए पौधे देखे और 'बोधिवृक्ष' की कीर्ति सुनी। तब महत्ता और कला के बीच का भेद मालूम हुआ और मुझे आघात पहुँचा।

उन्हीं दिनों बाद में शंकरलाल बैंकर वहाँ आये। वे अधिकतर भूला-भाई के साथ घूमते, इससे मुझे और छोटू काका को साथ फिरने का बहुत समय मिल जाता। शंकरलाल ने एक नया शिगूफा छोड़ा। जब हम बंगालियों से मिलते, तब उनमें से कोई-न-कोई दुनिया का कुछ-न-कुछ महान् कार्य कर रहा है, यह हमसे कहा जाता। 'ये दुनिया के प्रखर

अर्थ-शास्त्री हैं,' 'ये जगद्विख्यात इतिहासकार हैं,' 'ये बंगाल के कवि शिरोमणि हैं,' आदि।

धीरे-धीरे, जिस बंगाली से हम मिलते, वह फ्रांस और रूस के विप्लव के विषय में मानपूर्वक मेरे साथ बातें करता और सवाल पूछता। अपने ज्ञान पर होने वाले इन अचानक आक्रमणों से मैं उलझन में पड़ गया। एक बार भोजन करते-करते मैंने आश्चर्य प्रकट किया कि फ्रांस और रूस के विप्लव के विषय में ये लोग मुझसे किसलिए प्रश्न किया करते हैं ? शंकरलाल ने इसका खुलासा किया—

"यदि बंगाल में दुनिया के बड़े-से-बड़े विद्वान रहते हैं, तो क्या बंबई में नहीं रहते ? जो मुझे मिलता है, उससे मैं कहता हूँ कि भूला-भाई दुनिया के श्रेष्ठ धाराशास्त्री हैं और मुन्शी फ्रांस और रूस के विप्लव के भारत में सबसे बड़े अध्ययनकर्ता हैं।"

शंकरलाल द्वारा प्राप्त हुई इस कीर्ति को, जब कोई उन विप्लवों की चर्चा छेड़ता, तब उसे किसी भी तरह उड़ा देने की अपनी चपलता से मैंने शक्ति-भर जैसे-तैसे सुरक्षित रखा।

संसार के रमणीक स्थानों में भी दार्जिलिंग अद्भुत है। उसके स्वच्छ मार्ग, सुगठित बंगले, गुलाबों से लदी चारों ओर फैली हुई बाड़ें, प्रशान्त परन्तु चेतनप्रद हवा और क्षितिज पर निर्मित हिमालय के शिखरों की मेखला—इन सबको दीप्त करती सनातन हिम से भव्य कंचन-गंगा की शिखरावलि—मानो भगवान् शंकर लेटे हुए संसार को अपने स्मित से ही कल्याणमय कर रहे हों ! मैं सारा दिन कालिदास के 'कुमारसंभव' में से 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' की रटना करता रहता था।

हिमालय ने अपने स्थूल और सूक्ष्म जीवन को किस प्रकार स्वपोषित किया, विकसित किया और अभेद्य बनाया, इसका कुछ ज्ञान हुआ। हिमालय शंकर का आवास है। ये गिरिजा के पिता हैं, और शंकर की जटा से निकलती पतित-पावनी गंगा के भी पिता हैं।

हिमालय शंभु की स्थूल देह है, शंभु हिमालय के अधिष्ठाता हैं; और इन दोनों के संकलन से जगदुद्धारिणी आर्यत्व की भावना-नदी बहती है। बाद में विकसित हुई मेरी इस विचारधारा के मूल इस दार्जिलिंग के दर्शन में हैं।

१९१९ में जब हम फिर दार्जिलिंग आये, तब भूलाभाई, मोतीलाल सीतलवाड़ और मैं, तीनों थे। परन्तु इच्छा बहन की सार-सँभाल और छोटू काका की रसिकता के बिना यह छुट्टी पहले की तरह स्मरणीय न हो सकी।

१९१९ में मैंने दार्जिलिंग में गुरुदक्षिणा दी, जो गुरु को न जाने कब तक सँभाले रखनी पड़ी।

भूलाभाई यह मानते थे कि दोपहर में भोजन के बाद सो जाने से फेफड़ा खराब होता है और मैं बचपन से ही यह मानता था कि दोपहर में भोजन के बाद रीढ़ की हड्डी सीधा रखने से आयु बढ़ती है। परिणाम-स्वरूप जब हम लोग भोजन कर चुकते, तब मैं बिस्तर में सोने का प्रयत्न करता और भूलाभाई मुझे जगाए रखने के प्रयत्न करते। वे मेरी खाट पर आकर बैठ जाते और कभी-कभी हमारी कुश्ती भी हो जाती। एक दिन हम लोगों ने बड़ा तूफान मचाया। मेरी छाती पर उनका भार इस प्रकार आ पड़ा कि मेरा दम घुटने लगा। अनजाने में उनकी एक उँगली मेरे हाथ में आ गई और किसी भी प्रकार उनका भार दूर हटाने की स्वाभाविक संरक्षण-वृत्ति से मैंने उनकी उँगली मरोड़ डाली। उन्होंने अधिक-से-अधिक ज़ोर डाला। अन्त में मैंने इतने ज़ोर से उँगली मरोड़ी कि उनकी हड्डी नहीं टूटी, यही आश्चर्य हुआ।

वेदना के मारे भूलाभाई उठ गए, मेरा दम घुटने से बच गया और वर्षों तक उनकी उस उँगली ने उन्हें दुःख दिया। ऐसी विचित्र थी मेरी दी हुई गुरु-दक्षिणा!

ग्यारह

बम्बई के हाईकोर्ट में जॉन डंकन इन्वेरारिटी का नाम पुराण के

महापुरुष के समान है—सदा स्मरणीय और पूजनीय नहीं तो प्रशंस्य तो अवश्य ही। बम्बई के आज के अनेक होशियार धारा-शास्त्री जब पैदा भी नहीं हुए थे, तब बम्बई के धारा-शास्त्रियों के मंडल के वे नेता थे।

जब सर नार्मन मेक्लाउड (जो पीछे मुख्य न्यायाधीश बन गए) बैरिस्टर हुए, तब उनके पिता ने मौसेरे भाई इन्वेरारिटी को बुलाकर कहा, "नार्मन को बम्बई ले जाओ, इसे अपने हाथ के नीचे रखकर शिक्षित करो।"

"यह मुझसे कैसे होगा ?" जानभाई ने उत्तर दिया, "मैं तो बुड्ढा हो गया। थोड़े समय में व्यवसाय से अलग हो जाऊँगा। मेरे साथ नार्मन को भेजने का क्या फायदा ?"

परन्तु बुड्ढे ने ज़िद की। इन्वेरारिटी मेक्लाउड को बम्बई ले आए। मेक्लाउड ने वकालत की, नौकरी की, न्यायाधीश का पद प्राप्त किया, मुख्य न्यायाधीश की पदवी पाई; परन्तु जानभाई तब तक भी वकालत करते ही रहे। १९२५ में मेक्लाउड ने जब मुख्य न्यायाधीश का पद छोड़ा, उसके कुछ महीनों पहले वे गुज़र गए।

इन्वेरारिटी ने सरलता से एकाध करोड़ रुपया इकट्ठा किया था, परन्तु भायखला क्लब की एक छोटी-सी कोठरी में वे पड़े रहते। अपनी पत्नी को उन्होंने कभी हिन्दुस्तान में बुलाया ही नहीं। क्लब में कोई उन्हें चाय का प्याला देता, तो वे चार आने पहले देते, फ़िर प्याला पकड़ते।

हिन्दुस्तान में उन्होंने किसी के साथ स्नेह-सम्बन्ध जोड़ा हो, ऐसा स्मरण नहीं। व्यवसाय के सम्बन्ध में वे दूसरों के संसर्ग में आते थे, बस इतना ही उनका जगत् के साथ सम्बन्ध था। कानून के क्षेत्र में बम्बई में सर्वोपरि होना ही उनका ध्येय था। मानव-हृदय के प्रति उनमें पूर्णतया तिरस्कार के भाव थे। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और मानव-निर्बलता के अगाध ज्ञान से वे कहीं भी श्रेष्ठ स्थान पा सकते थे; परन्तु छः महीने

बम्बई में वकालत करना, पाँच महीने स्कॉटलैण्ड में शिकार खेलना, एक महीना भारत में आने पर सिंह का शिकार करना, इनके सिवाय जीवन में उन्हें और कोई आकांक्षा नहीं थी।

उनकी वकालत में जादू की तरह चमत्कार था। उनकी स्मरण-शक्ति असीम और सतेज थी। कोई वृत्तान्त सुनाने की उनमें ऐसी कला थी कि केवल उसके संकलन-मात्र से ही वे उसे मनचाहा-स्वरूप प्रदान कर सकते थे।

एक मुकदमा, जिसमें मैं स्ट्रैंगमेन के साथ था, हमें बड़ा कमजोर लग रहा था। हमारा दावा यह था—मकान खराब अवस्था में होने से किरायेदार उसे खाली कर दें। दूसरे दिन हमारे साथ इन्वेरारिटी को रोका गया और दावे वाली मल्कियत देखने मैं उनके साथ गया। दो घंटे तक उन्होंने सारे मकान के कमरों की जाँच की और अगले दिन ऐसा मालूम होने लगा कि हमारी विरोधी परिस्थिति हमारे अनुकूल हो रही है। वे कोर्ट में आये, विवरण फिर उपस्थित किये और पिछले दिन जो मुकदमा खराब था, वह अच्छा हो गया।

धारा-शास्त्र उनके जीवन की ज्योति था। कानून के सिद्धान्तों का उनका ज्ञान विशुद्ध था। अँग्रेजी और हिन्दुस्तानी फैसलों के सारे हवाले वे अन्त तक लगातार पढ़ते थे। मुकदमा चलते समय अधिकतर एक ही दृढ़ आधार लेकर वे आते थे। उनकी जाँच-पड़ताल के ढंग में नाटकीय रूप नहीं था। कदाचित् ही वे ऊँची आवाज निकालते थे। उनकी आँखें हमेशा बाघ की तरह स्थिर और तेजपूर्ण होतीं। वे न हाथ पटकते थे, न गुस्सा करते थे; छोटे प्रश्नों को धारा-प्रवाह, बन्दूक की गोली की तरह छोड़ देते और साक्षी के मुख से अनजाने में ही इच्छित बात निकलवा लेते थे।

वे कभी विवरण लिखा नहीं करते थे। वे कहते थे—'जितना समय लिखने में बिताते हो, उतना समय स्मरण-शक्ति को तीव्र करने में लगाओ तो अधिक लाभ हो।' मुकदमे में अनेक मुद्दे होते हैं। उनमें से एक ही

मुख्य मुद्दे पर वे अपनी शक्ति को एकाग्र करते थे। एक दिन नये विद्यार्थी के उत्साह से मैं उनसे वे अनेक मुद्दे कहने लगा, जो मैंने खोज रखे थे। "प्रत्येक मुकदमे में दस अच्छे मुद्दे होते हैं, उनमें से एक तुम अपने लिए रखो और बाकी विपक्ष वालों को अपने-आप खोज निकालने दो," उन्होंने कहा।

नये धारा-शास्त्रियों को क्या करना चाहिए, एक बार उन्होंने इस विषय में सलाह दी थी।

"Stand up, speak up, shut up."[1]

उनकी विनोद-वृत्ति स्थिर थी। उनके व्यंग्य करने पर सब हँस पड़ते, पर उनकी मूँछ का एक बाल तक न हिलता था।

न्यायमूर्ति केण्डी स्वभाव के बड़े कठोर थे। उनके स्वभाव की अनेक बातें कोर्ट में प्रचलित हैं। वे मराठी-गुजराती अच्छी तरह बोलते थे। इन्वेरारिटी ने तो यह संकल्प किया हुआ था कि कोई देशी भाषा बोली ही न जाए।

न्यायाधीश केण्डी के हाईकोर्ट में नियुक्त होने के कुछ दिन बाद इन्वेरारिटी उनके सामने उपस्थित हुए और मुकदमे के विवरण कहने लगे—

"फिर गोरडनडोस प्रतिवादी से मिले।"

"मि० इन्वेरारिटी, इतने वर्ष हिन्दुस्तान में रहने पर भी आप देसी नामों का ठीक उच्चारण नहीं कर सकते। गोरडनडोस नहीं, गोवर्धन-दास।"

"माननीय की जैसी इच्छा।"

इन्वेरारिटी ने आगे चलाया—"मेरे कहने के अनुसार गोरडनडोस और माननीय के कथनानुसार गोवर्धनदास प्रतिवादी से मिले। मेरे कहने के अनुसार गोरडनडोस और माननीय के कथनानुसार गोवर्धनदास उसके साथ इस शर्त के विषय में बात करने लगे। फिर मेरे कहने के अनुसार

१. तनकर खड़े रहो, स्पष्ट बोलो, चुप हो जाओ।

गोरडनडोस और माननीय के कथनानुसार गोवर्धनदास ने शर्तें मंजूर..."

"मि० इन्वेरारिटी, यह क्या तमाशा है ?" अधीर होकर न्यायाधीश ने कहा, "दो में से एक नाम बोलिये—गोरडनडोस या गोवर्धनदास।"

"माननीय की जैसी इच्छा।" स्वस्थता से इन्वेरारिटी ने कहा, "मैं तो गोरडनडोस कहना ही पसन्द करता हूँ। गोरडनडोस ने फिर शर्तें कीं..."

सारा कोर्ट खिलखिलाकर हंस पड़ा, पर इस विनोद करने वाले के मुख पर स्मित की सुरखी तक न आई।

बम्बई-हाईकोर्ट उन्हें भूल नहीं सकता। उस हाईकोर्ट में उन्होंने वकालत की और १९२५ में यमराज भी उन्हें उसी हाईकोर्ट में लेने के लिए आये।

बम्बई में जब उनके शरीर को दफनाया गया, तब अंजलि देने के लिए मैं भी उपस्थित था। उस समय हम सबने यह अनुभव किया कि हाईकोर्ट जैसा था, वैसा अब नहीं रहेगा।

इन्वेरारिटी महान् धाराशास्त्री, ब्रिज के दबंग खिलाड़ी और सिंह के बहादुर शिकारी थे। पैसे बनाने वाले भी ज़बरदस्त थे। ये ही थीं उनके मनुष्यत्व की सीमाएँ। कौन कहेगा कि ये सीमाएँ अत्यन्त सँकरी न थीं ! भारत को तो उन्होंने पैसे लूटने का क्षेत्र समझा था। यहाँ उन्होंने सारी जिन्दगी बिताई, पर इसके प्रति कभी ज़िम्मेवारी नहीं दिखलाई और यहाँ के लोगों के प्रति, उनकी भाषा और सभ्यता के प्रति उनका तिरस्कार कायम रहा।

बारह

इन्वेरारिटी के पश्चात् बम्बई-हाईकोर्ट में महान् धाराशास्त्री थे चिमनभाई—चिमनलाल हरिलाल सीतलवाड। इस समय के अन्तर्गत उनके प्रति संचित किये हुए सम्मान और उनके समागम का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। 'हरिलाल सदरेमिन' के नाम से परिचित होने वाले

वे ब्रह्मक्षत्रिय भड़ौंच के ही थे। उनकी हवेली अभी वहाँ है और वे अधु-भाई काका के इष्ट मित्र थे। उनके पुत्र थे चिमनभाई। उनको मैंने बिलकुल बचपन में मुन्शी के टेकरे पर अधुभाई काका से मिलने के लिए आते देखा था, ऐसा स्मरण है। और जब मैं बम्बई आया, तब हमारी भड़ौंची पगड़ी पहने हुए, सर फिरोज़ शा मेहता के इस अनुयायी और अपने परिवार के सम्बन्धी को दूर से देख-देखकर मैं गर्वित हुआ करता था। ज़रूरत पड़ने पर उनका सहारा मिलेगा, ऐसा एक विश्वास भी मेरे मन में पैदा हो रहा था।

पास होने के थोड़े दिन बाद मैं उनसे मिलने गया। उस समय उनका व्यवहार कठोर, तटस्थ और अनादरपूर्ण-सा मालूम हुआ। भड़ौंच के उनके स्वजातीय लोग उस समय उन्हें बड़ा गर्विष्ठ समझते थे। उनके लिए कहा जाता था कि मिलने आने वालों को वे केवल तीन प्रश्न पूछ कर टरका दिया करते थे—"कब आये? कैसे हो? कब जाओगे?" मुझे भी उन्होंने अधुभाई काका की पुत्री और दौहित्र की खबर पूछकर विदा किया।

कुछ महीनों बाद मुझे मालूम हुआ कि उनका ऐसा व्यवहार अपरि-चितों के लिए ही था। अब तो वर्षों से उनके हृदय में मुझे स्थान मिला हुआ है और उनके बड़े पुत्र मोतीलाल की और मेरी मित्रता द्वारा हम तीन पीढ़ियों के सम्बन्ध सुरक्षित रख रहे हैं।

चिमनभाई ने १८८० में, चौदहवें वर्ष में मैट्रिक की परीक्षा पास करके, अपनी तेजस्वी कार्य-कुशलता आरम्भ की। १८८४ में बी०ए० हुए और १८८७ में एल०-एल०बी०। बीच में एक-दो जगह नौकरी कर आये, और फिर हाईकोर्ट की एपेलेट साइड पर वकालत आरम्भ की।

तलवार की धार के समान चातुर्य, स्पष्टदर्शी-बुद्धि, न्यायवादी वाग्पटुता और अटूट आत्म-विश्वास से उन्होंने तुरन्त अग्रस्थान पा लिया। जब वे फीरोज शा मेहता के अनुयायियों में सम्मिलित हुए, तब दीन शा वाच्छा, इब्राहीम रहीमतुल्ला, चंदावरकर आदि उनके सहयोगियों

में थे। १८९३ में, सत्ताईसवें वर्ष में गुजरात की म्युनिसिपैलिटियों की ओर से वे धारा-सभा में गये। उस समय की धारा-सभा के प्रमुख गवर्नर और अनेक सदस्य बड़े अंग्रेज अधिकारी होते थे। वहाँ भी चिमनभाई की तेजस्विता असीम रही। उन्होंने धारा-सभा में निरन्तर प्रश्नों की झड़ी लगा दी। उस समय की स्वाधिकार-उन्मत्त अधिकारियों की सरकार इस युवक वकील के प्रश्नों का उत्तर देते थक गई। प्रत्येक बैठक में तीस-तीस प्रश्न करने वाले इस सदस्य को गवर्नर लॉर्ड हेरिस ने बुलाया। वे मिलने के लिए गये।

लॉर्ड हेरिस ने गरमी दिखलाते हुए कहा, "देखिए, मि० सीतलवाड, आप हमसे इतने अधिक सवाल पूछते हैं कि सेक्रेटेरियट वहाँ तक पहुँच नहीं सकती। सेक्रेटेरियट को और भी बड़े ज़रूरी काम करने होते हैं।"

सत्ताईस वर्ष के इस युवक में क्षोभ नहीं था; आत्म-विश्वास और स्वाभिमान पर्याप्त थे। उन्होंने चट उत्तर दिया—"मुझे खेद है, परन्तु आप यह भूल जाते हैं कि इन सवालों का जवाब देना आपका कर्तव्य है, और इसके लिए आपको बहुत अच्छा पारिश्रमिक मिलता है। आपसे सवाल पूछकर मैं तो केवल लोकोपयोगी कर्तव्य करता हूँ, और वह भी बिना पारिश्रमिक के।"

लॉर्ड हेरिस की गरमी उसी समय उतर गई। उन्होंने नरम होकर माफ़ी माँगी।

अपनी कार्य-कुशलता के आरम्भ में एक सराफ़ की ओर से चिमनभाई डिस्सा कैंटोन्मेंट के कोर्ट में वकील के रूप में उपस्थित हुए। सराफ़ ने एक सूबेदार मेजर को नौ हज़ार रुपये दिये थे। उन्हें वापस माँगने का दावा था।

जब चिमनभाई उपस्थित हुए तब यूरोपियन फौजी अफ़सर न्यायाधीश था। जब वह अदालत में बैठता, तब हमेशा एक बड़े कुत्ते को पास बिठाता। चिमनभाई ने मुवक्किल को साक्षी के रूप में बुलाया और उसकी बही से कर्ज़ लेने की बात साबित की। प्रतिवादी के वकील

ने सूबेदार मेजर को साक्षी में बुलाया। सूबेदार मेजर ने सौगन्ध खाकर कहा, "मुझे नौ हज़ार रुपये की सारी रकम नहीं दी गई और जितनी रकम दी गई थी, उसे मैंने वापस लौटा दिया है।"

चिमनभाई सूबेदार मेजर से जिरह करने के लिए खड़े हुए। न्यायाधीश ने आपत्ति की—

"महारानी सरकार के फौजी अफ़सर पर मैं जिरह नहीं करने दूँगा। इसे उसका अपमान करना कहा जाएगा।" यह कहकर उन्होंने सराफ़ का केस बरखास्त कर दिया।

सराफ़ ने पालनपुर के पोलिटिकल एजेण्ट की अदालत में अपील की और अदालत में सूबेदार मेजर से जिरह करने की आज्ञा माँगी। जब अपील सुनवाई पर आयी, तब भी न्यायाधीश की जगह पर फौजी अफसर था, परन्तु वह ज़रा अधिक बुद्धिमान् था। उसने चिमनभाई को अपने चेम्बर में बुलाया और कहा, "मि० सीतलवाड, मैं आपको जिरह करने दूँगा; परन्तु प्रतिवादी सूबेदार मेजर है, इसलिए ज़रा नरमी से काम लीजिएगा।"

पर चिमनभाई के जिरह करने से पहले ही सूबेदार साहब ने केस का समझौता कर लिया।

१८९७ में चिमनभाई ओरिजिनल साइड के एडवोकेट हुए। अंग्रेज़ बैरिस्टरों से भरपूर उस साइड में इकत्तीस वर्ष की आयु के इस वकील का आगमन ज़रा धृष्टतापूर्ण था। १८९९ में वे डाकोरजी के केस में विलायत गये। थोड़े समय में ही ओरिजिनल साइड में भी चिमनभाई अग्रगण्य माने जाने लगे।

गर्विष्ठ न्यायमूर्ति केण्डी के साथ एक बार उनकी टक्कर हो गई। उक्त न्यायमूर्ति हाईकोर्ट में आये और एक आवश्यक अरज़ी देने के लिए चिमनभाई उनके चेम्बर में गये। न्यायाधीश उसी समय भोजन करके उठे थे और खड़े होकर सिगरेट फूँक रहे थे। ओरिजिनल साइड की शिष्टता से केण्डी अपरिचित थे। न वे स्वयं बैठे, न

चिमनभाई से बैठने के लिए कहा। चिमनभाई स्वस्थता से कुरसी पर बैठ गए।

न्यायमूर्ति ने गुस्से होकर अपमानजनक ढंग से पूछा, "मैं खड़ा हूँ, फिर आप बैठ क्यों गए ?"

आँख की एक पलक भी झपकाए बिना चिमनभाई ने निश्चिन्तता से कहा, "मुझे अफ़सोस है, परन्तु मैंने समझा कि आप बैठ जाएँगे। अब आप बैठ सकते हैं।"

न्यायमूर्ति केण्डी बैठ गए और अरज़ी सुनी।

न्यायमूर्ति द्वारा किया हुआ अपमान सहन करने के लिए चिमनभाई तैयार नहीं थे। उन्होंने मुख्य न्यायाधीश सर लारेन्स जेन्किन्स के पास जाने का विचार किया और उस समय के अग्रगण्य धारा-शास्त्री मेक्फर्सन से इस विषय में बात की। उसने कहा, "सीतलवाड, इसकी चिन्ता मत करो। केण्डी को कभी किसी ने सभ्यता का पालन करने का अपराध करते देखा है ?"

चिमनभाई मुख्य न्यायाधीश जेन्किन्स के पास गये और उनसे बात की। उसने केण्डी से बात की होगी; अत: केण्डी ने अपने चोबदार को चिमनभाई को बुलाने के लिए भेजा। चिमनभाई ने कहा, "तुम्हारे साहब को मुझसे काम हो तो कहो कि चिट्ठी लिखकर मुझे बुलाएं।"

तुरन्त चोबदार चिट्ठी ले आया। चिमनभाई केण्डी से मिलने गये। केण्डी ने अपने व्यवहार के लिए माफी माँगी।

केन्डी के घमण्ड की बात तो उस समय भी सुनाई पड़ती थी, जब वे नौकरी से अलग होकर विलायत चले गए।

लन्दन में रेलवे अफ़सर जिस प्रकार बन्द कॉलर का कोट पहनते हैं, उसी प्रकार का छोटा कोट पहनकर वे वाटरलू के स्टेशन पर ट्रेन की राह देखते घूम रहे थे। इतने में एक फक्कड़ युवक मार्निग कोट और हैट पहने वहाँ आया। उसने केण्डी को रोककर कहा, "स्टेशन-मास्टर, दूसरी गाड़ी कब आ रही है ?"

बम्बई हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायमूर्ति गौरव-भंग होकर गुस्से से देखते रहे और उग्र स्वर में बोले—

"तुम क्या समझते हो? मैं स्टेशन-मास्टर नहीं हूँ।"

उस फक्कड़ युवक पर इन भूतपूर्व न्यायमूर्ति के रोष का शायद ही कोई असर हुआ हो। उसने शान्ति से एक आँख की ऐनक (Monocle) आँख पर चढ़ाई। भूतपूर्व न्यायाधीश को सिर से लेकर पैर तक निहारा और शान्त आवाज़ में कहा, "तुम स्टेशन-मास्टर नहीं? सचमुच नहीं? तो फिर स्टेशन-मास्टर, जैसे क्यों दीख रहे हो?"

भूतपूर्व न्यायमूर्ति के पद की परवाह किये बिना वह फक्कड़ युवक वहाँ से चला गया और केण्डी जहाँ थे, वहीं खड़े रह गए।

चिमनभाई पहले से ही अनेक विषयों के रसिक हैं; Versatile हैं। उन्होंने युवावस्था में एक-दो अंग्रेज़ी पुस्तकों का गुजराती अनुवाद किया था। सर फीरोज शा मेहता के वे दाहिने हाथ थे—धारा-सभा में, बम्बई की म्युनिसिपैलिटी में और बम्बई के विश्वविद्यालय में।

१८९७ से १९१५ तक बम्बई की धारा-सभा में वे बम्बई-विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में रहे।

१९०२ से १९२१ तक म्युनिसिपैलिटी की शाला-समिति के प्रमुख रहकर उन्होंने बम्बई में प्राथमिक शिक्षण की नींव डाली। १९१५ में गोखले के स्थान पर धारा-सभा में मध्यस्थ चुने गए। १९१७ में बम्बई-विश्व-विद्यालय के वाइस-चान्सलर का पद सुशोभित किया। उस पद पर १९२० तक काम किया और उस संस्था को सुदृढ़ बनाया। १९१८ में नये सुधार अमल में लाने वाली समिति में उन्होंने काम किया; १९१९ में हण्टर-समिति के सदस्य बने; १९२० के अक्तूबर में न्यायासन से निवृत्त होकर नयी मध्यस्थ धारा-सभा में गये; १९२३ में बम्बई-सरकार के मंत्रि-पद पर आसीन हुए; १९१३ में उन्होंने जीवन-बीमा-कम्पनी खोलने में सहायता की। १९१९ में आग के बीमे की कम्पनी खोली। आज वे दोनों कम्पनियों के प्रमुख हैं। १९२२ के बाद हम अधिक निकट परिचय में

आए। परन्तु वह कथा तो तभी प्रस्तुत हो सकती है, जब १९२२ के बाद की जीवन-कथा लिखी जाए।

जब मैं हाईकोर्ट में आया, तब चिमनभाई आज से बहुत भिन्न मालूम होते थे। वे लम्बा कोट और भड़ौंची पगडी पहनते थे। छतरी तो हमेशा ही हाथ में रखते थे। उसे कभी खोलते थे या नहीं, यह बहुत कम लोग जानते हैं। अभी उन्होंने यूरोपियन पोशाक पहननी शुरू नहीं की थी। उनकी बड़ी-बड़ी भरी हुई मूँछों ने अभी चार्ली चेपलिन की मूँछों का अनुकरण करना आरम्भ नहीं किया था। उनके सिर के बाल १९१३ में जैसे देखे थे, आज भी वैसे ही बिलकुल काले हैं। आयु बढ़ने पर परमेश्वर औरों के सिर बेशक सफेद कर दें, पर चिमनभाई उन्हें सफल होने देने वाले नहीं थे, और न हैं। चिमनभाई 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' हैं। अपनी शक्ति का माप उन्हें ठीक-ठीक पता है। उनके अभिप्राय स्पष्ट और सीधे होते हैं। उनका जीवन-क्रम अपना निश्चित किया हुआ होता है। सब अपने-आप हो जाएगा—Things will adjust themselves—यह उनका प्रिय सूत्र है। कोर्ट में कितनी ही दौड़-भाग हो, परन्तु वे जिस प्रकार हमेशा चलते हैं, उसी प्रकार धीर-गम्भीर गति से चलते रहते हैं। चाहे न्यायाधीश उतावला हो रहा हो, पर वे अपने आशय को जिस प्रकार चाहते हैं, उसी प्रकार पेश करते हैं।

एक बार मुख्य-न्यायाधीश मेक्लाउड ने उनसे जिस विषय पर वे बोल रहे थे, उससे भिन्न विषय पर आने के लिए कहा।

"माननीय, ज़रा ठहरिए, मैं अपने क्रम के अनुसार उसी विषय पर आ रहा हूँ।"

"परन्तु इस विषय में आपको क्या कहना है ?" मेक्लाउड ने पूछा।

"प्रत्येक विषय अपने क्रम के अनुसार चलेगा," कहकर चिमनभाई ने अपने सुगठित रूप में ही अपने अभिप्राय प्रकट किये।

मेरे देखे हुए धाराशास्त्रियों में वास्तविक शास्त्रीय गौरव और अदालत के योग्य वाक्पटता केवल चिमनभाई में ही थी। सूरजमल के

विरुद्ध हार्निमेन[1] की अपील में बड़े दिनों तक उन्होंने मानहानि के कानून की समीक्षा की।

हार्निमेन ने 'बाम्बे क्रानिकल' के सम्पादक के रूप में सूरजमल सालिसिटर पर टीका की थी। सूरजमल ने अपमान के लिए हार्निमेन पर मानहानि का दावा किया। पहले कोर्ट में न्यायाधीश मेक्लाउड ने सूरजमल को तीन हजार हरजाने की रकम और खर्च दिलवाया। अपील में मुख्य न्यायाधीश स्कॉट और न्यायाधीश हिटन में मतभेद हो गया। परिणामस्वरूप स्थानापन्न मुख्य न्यायाधीश बेचलर, न्यायाधीश बीमन और न्यायाधीश मार्टिन के आगे फिर से सुनवाई हुई। स्ट्रैंगमेन सूरजमल की ओर से और चिमनभाई हार्निमेन की ओर से हाजिर हुए और बहुत दिनों तक मुकदमा चला।

चिमनभाई ने बचाव में कहा कि हार्निमेन ने जो लेख लिखा था वह शुद्ध बुद्धि से की हुई टीका थी, बदनीयती से नहीं।

सिद्धान्त की विशुद्धि और उसे पेश करने की अपूर्व निश्चयात्मकता से भरा हुआ वह व्याख्यान अपने तीस वर्षों के अनुभव में मैं अद्वितीय समझता हूँ।

मुकदमा जीतने के लिए चिमनभाई सस्ते साधनों का उपयोग नहीं करते। मुवक्किल या सालिसिटर को खुश रखने के लिए वे किसी तरीके को स्वीकार नहीं करते। माननीयों को बहलाने की पद्धति को वे अधम मानते हैं। अपनी बुद्धि के प्रभाव से और मनुष्य-स्वभाव के ज्ञान से वे कोर्ट को वश में करना चाहते हैं। दूसरे पक्ष के लिए वे हमेशा शिष्टता प्रदर्शित करते हैं। कच्चे बैरिस्टर की निर्बलता से लाभ उठाते हुए मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।

अनेक बड़े मुकदमों में वे मेरे सीनियर थे। सीनियर के रूप में वे हमेशा प्रोत्साहक, विश्वासी और विश्वसनीय रहते हैं; परन्तु उनके जूनियर बनने वाले को हमेशा बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। वे साम्यवादी

---

१. 120 Bombay Law Reporter P. 184.

ढंग पर काम करने वाले हैं। सप्ताह में पाँच दिन और वह भी एक घंटे से अधिक काम करना उनके लिए सदा वर्ज्य है।

जूनियर के रूप में मुझे सारा मुकदमा पहले से तैयार करना पड़ता। रोज रात के साढ़े नौ बजे भोजन करके चिमनभाई कान्फ्रेंस करते; कागज और पेन लेकर तैयार हो जाते। मैं अपने नोटों में से सारे विवरण और अभिप्राय बोलता जाता। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि उसे सुनती, संशोधित करती, चुनती, स्वीकार करती और फेंक देती। फिर अपनी व्यवस्थित रीति से वे सब लिख लेते और ब्रीफ़ पढ़े बिना उस लिखे हुए पर से दूसरे दिन केस चलाते। उसमें यदि पदपूर्ति की आवश्यकता होती, तो वह जूनियर को कोर्ट में करनी पड़ती।

उनका मस्तिष्क व्यवस्थित रूप से काम करता था। जो वस्तु उसमें गठित हो जाती वह सदा उचित समय पर और योग्य रीति से ही बाहर निकलती। विचार-संभ्रम की संभावना ही नहीं थी, इसलिए थोड़ी मेहनत में ही वे अधिक सुन्दर परिणाम निकाल लेते थे।

कभी-कभी वे कहते—"मुन्शी, इतने नोट्स कल पाँच घण्टे काम देंगे; अब कल रात को देखा जाएगा।" और अधिकतर उनका अनुमान सत्य निकलता था।

एक बार उन्होंने जाने या अनजाने में एक न्यायाधीश को छकाया था। नोट्स में जो लिखा था, वह चार बजे समाप्त हो गया। न्यायाधीश ने आगे की बात पूछी। चिमनभाई के नोट्स में आगे कुछ भी नहीं था। वहीं-के-वहीं मैं उनसे कहूँ और वे अभिप्राय प्रकट करें, यह कैसे सम्भव था? चिमनभाई ने मुझसे कान में कहा—"मुन्शी, नोट्स तो खतम हो गए हैं।"

वे क्या करेंगे, सकी मुझे चिन्ता होने लगी। परन्तु उनका तो एक रोम भी हिलना संभव नहीं था।

न्यायाधीश की कही किसी बात से लाभ उठाकर वे उसे भिन्न तरीके से समझाने लगे। पहले कही हुई बातों को ही नये स्वरूप में, नये संकलन

में उन्होंने उपस्थित कर दिया। न्यायाधीश को पता भी न लग सका कि चिमनभाई का खजाना खाली हो गया था कि इतने में साढ़े पाँच बज गए।

उनके नोटों में जो सामग्री होती थी, उसके आधार पर वे बड़े-बड़े न्यायाधीशों के लिए भी दुष्प्राप्य विद्वत्तापूर्ण निश्चयात्मकता से अभिप्राय पेश करते थे। अपनी व्यवहार-बुद्धि, विशाल अनुभव और सिद्धान्तों के ज्ञान से जो कमी होती, उसे वे पूरा कर लेते थे। उनके उपस्थित किये हुए अभिप्रायों में कोई तत्त्व नहीं था, ऐसा प्रभाव डालने की भी उनमें कला थी।

१६२० में वे हाईकोर्ट के न्यायाधीश हुए—थोड़े ही समय के लिए। मैंने अनेक न्यायाधीश देखे हैं, पर चिमनभाई के जोड़ का कोई नहीं देखा। वे न्यायासन पर हों, तो अपना भार हल्का हुआ समझिए। किसी प्रकार का आडम्बर नहीं, घमण्ड नहीं, अधीरता नहीं; वे आपकी मुश्किलों को समझते, आपकी क्षतियों की पूर्ति करते और उनके आगे आपको ऐसी निश्चिन्तता मालूम होती, जैसे आप घर में बैठकर बात कर रहे हैं। उन्होंने दुनिया देखी थी, इसलिए उनके आगे किसी का आडम्बर नहीं चलता था और किसी बात के रहस्य को वे तुरन्त पकड़ लेते थे।

आदर्श न्यायाधीश को शोभा देने वाली रीति से वे अपना मत एकदम अन्त में ही स्थिर करते थे।

जब वे न्यायासन पर बैठे, तब उनके स्वागत में हुए व्याख्यान के उत्तर में उन्होंने मंत्र उच्चारण किया—"न्याय करना ही पर्याप्त नहीं है। संसार से यह अनुभव करवाना चाहिए कि न्याय हो रहा है।"

आदर्श न्यायाधीश के लिए इससे अधिक उच्च मुद्रालेख और क्या हो सकता है!

कौन जाने क्यों, बम्बई के अपराध करने वालों के हृदय में मैं स्थान न बना सका। मेरे पास होने के थोड़े दिनों बाद पन्द्रह रुपये देकर एक मनुष्य मुझे पुलिस चौकी पर ले गया। मौलवी साहब को मेरी योग्यता

पर विश्वास था, यह मैं बता चुका हूँ। इसके सात वर्षों बाद एक खून के आरोपी को मेरी वकालत पर एकाएक विश्वास उत्पन्न हुआ। यह मैं अभी तक नहीं समझ सका हूँ कि जब चिमनभाई फौजदारी कोर्ट में बैठे थे, तभी वह केस मेरे पास क्यों आता। न्यायाधीश और मैं दोनों भड़ौंची पगड़ी पहनते थे, यही कारण हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

मेरे मुवक्किल के विरुद्ध यह आरोप था कि उसने परेल की चाल में शाम के समय एक मनुष्य का खून किया था। गुण्डों के दो विरोधी पक्षों में से एक के साथ मेरे मुवक्किल का सम्बन्ध था, इसलिए उसका भविष्य अंधकारपूर्ण हो गया; परन्तु उसके सेठ ने उसे बचाने का निश्चय कर लिया था। मैंने कहा—"मुवक्किल नहीं बचेगा।"

सेठ ने कहा—"साहब, बचाने का रास्ता बताइए। मेरा आदमी उस समय परेल की चाल में था ही नहीं।"

मैंने उसे सबूत लाने के लिए कहा। सेठ ने जी-तोड़ परिश्रम किया और मुवक्किल, पाँच घण्टों तक भिन्न-भिन्न स्थानोंपर भिन्न-भिन्न मनुष्यों के साथ कुछ-न-कुछ करता रहा, ऐसा बयान लिखकर वकील के द्वारा मेरे हाथ में दिया।

चिमनभाई पहले से ही मेरे विरुद्ध मालूम हो रहे थे। जब मैंने Alibi (गैरहाजिरी) का बचाव करना शुरू किया, तब वे बोल उठे—"इससे तुम्हें जूरी के आगे अन्तिम भाषण देने का हक नहीं रहेगा, यह जानते हो?"

"जी हाँ," मैंने उत्तर दिया।

चिमनभाई ने समझा था कि सरकार की ओर का बयान दृढ़ था और उसका कोई उत्तर नहीं हो सकता था। मैंने अपने गवाहों को बुलाया। एक के बाद एक, पाँच-छः अच्छे आदमियों के बयान उपस्थित हुए। प्रत्येक गवाह पर चिमनभाई बाघ की तरह टूट पड़ते, और उसे दबोच डालते, परन्तु कोई टस-से-मस न होता। मैं तो यह माने ही बैठा था कि इतने पूर्वाग्रह के पश्चात् चिमनभाई अभियुक्त का कचूमर निकाल डालेंगे।

पर अन्तिम गवाह आया और चिमनभाई ने पूर्वाग्रह छोड़कर मेरे मुव-क्किल की निर्दोषिता के पक्ष में जूरी को दृढ़ता से संबोधन किया।

मेरा मुवक्किल छूट गया। चिमनभाई के समान न्यायपुरःसर तुलना करने वाला न्यायाधीश न होता, तो वह लटक जाता।

जलियाँवाला बाग में जनरल डायर के किये हुए गोलीकाण्ड की जाँच करने के लिए हण्टर-समिति बनी। चिमनभाई उसके सदस्य थे। उस समिति के सम्मुख जनरल डायर और अन्य गवाहों की भयंकर और अन्वे-षणात्मक जिरह चिमनभाई की शक्ति की पराकाष्ठा थी।

उनकी जिरह का मुख्य लक्षण था भीषण सख्ती। उनके सवाल गवाह को सनसी की तरह दबा लेते थे। हन्टर-कमेटी का प्रमुख लार्ड हन्टर पहले स्वतन्त्र विचारों का था, परन्तु लाहौर जाकर वह बदल गया। एक ओर चार अंग्रेज और दूसरी ओर तीन हिन्दुस्तानी; उनके अग्रणी थे चिमनभाई। अन्त में रिपोर्ट लिखने के लिए सब आगरा जाकर एक बँगले में रहे। दोनों पक्षों का आपसी सम्बन्ध भी बिगड़ गया। उन्होंने एक साथ खाना भी छोड़ दिया। एक दिन बात करते-करते हन्टर गरम हो गया। उसने चिमनभाई से कहा—"आप अंग्रेजों को देश से बाहर निकालना चाहते हैं?"

चिमनभाई ने उत्तर दिया—"अवश्य, यदि अंग्रेजों के प्रतिनिधि आप जैसे हों!"

अंग्रेजों ने बहुमत की रिपोर्ट लिखी। न्यूनतम की रिपोर्ट पर हिन्दु-स्तानियों ने हस्ताक्षर किये। यह रिपोर्ट भी अधिकतर चिमनभाई की लिखी हुई थी।

चिमनभाई का स्वभाव रँगीला था—भड़ौंचियों जैसा। लगभग अस्सी वर्षों में भी उनकी आत्मा आज भी जवान है। हाईकोर्ट की लायब्रेरी में बैठकर नये धाराशास्त्रियों के उत्साह से वे गप्पें लड़ा सकते हैं, चुटकुले सुनाते हैं, मजाक चल रहा हो तो उसमें दिलचस्पी लेते हैं; स्वयं विनोद के विषय बन रहे हों, तो भी आनन्द लेते हैं। धाराशास्त्रियों की प्रतिष्ठा

की बात जहाँ आती है, वहाँ आज भी लड़ पड़ते हैं। बम्बई-धाराशास्त्री-मण्डल के ये भीष्मपितामह, सबकी प्रशंसा, सम्मान और सद्भाव के धनी हैं। भूलाभाई भी इन्हें गुरु मानते थे, अतः मेरे लिए तो ये गुरुणां गुरु हैं।

१९२७ में लीला और मैं, विवाह के बाद, थोड़े दिन मसूरी के होटल में रहे थे। हम दोपहर में भोजन कर रहे थे, तभी अचानक वहाँ चिमनभाई आ पहुँचे। आकर वे हमारे टेबल पर बैठे। लीला ने मुझसे उनके विषय में बहुत बातें सुनी थीं, पर उन्हें देखा पहली ही बार था। चिमनभाई बड़ी दिलचस्पी से बातें करने लगे। जब हम अलग हुए, तब लीला ने कहा—

"ये चिमनभाई हैं ? मैंने तो समझा कि न जाने कितने गंभीर और बुड्ढे होंगे !"

मैंने कहा—"चिमनभाई की आयु चाहे जितनी हो, परन्तु वे सनातन युवक हैं।"

एक गंभीर और वृद्ध बुढ़िया भोजन के समय हमारे टेबल पर हमारे साथ बैठा करती थी। उन्होंने भी वृद्ध-जैसे इस युवक की हल्की-फुल्की बातों से घबराकर हमारे साथ न बैठने का संकल्प प्रकट किया। बुढ़ापा आयु पर अवलम्बित नहीं, जीवन का उपभोग करने की अशक्ति पर अवलम्बित है।

राजनीति में चिमनभाई के और मेरे रास्ते अलग-अलग ही रहे हैं। वे फीरोजशाही थे और अब तक भी हैं। मैं फीरोज़शाही संप्रदाय का बचपन से विरोधी हूँ। १९१९ से चिमनभाई ने कांग्रेस को छोड़ दिया और नेशनल लिबरल फेडरेशन के अग्रणी बने। मैंने १९१५ से १९२० तक एनीबिसेन्ट और जिन्ना के नेतृत्व में कांग्रेस में काम किया। परन्तु राजनीति सम्बन्धी मतभेद हमारे निजी सम्बन्ध के बीच में नहीं आया। १९२७-२८ से मैं गांधीजी के प्रभाव में आ गया। गांधीजी और चिमनभाई पिछले तीस बर्षों में बड़े-से-बड़े गुजराती हैं। दोनों के स्वभावों में

मूलभूत विसंवाद है। जहाँ गांधीजी की व्यावहारिकता उनकी ज्वलंत भावनाशीलता की दासी थी, वहाँ चिमनभाई की व्यावहारिकता एकचक्र से राज्य करती हुई साम्राज्ञी है।

मैं चिमनभाई के लिए मान और प्रेम रखता हूँ यह कांग्रेस के मेरे अनेक सहयोगियों को पसन्द नहीं था। इस विषय में टीकाएँ भी होतीं, "तुम्हारा सीतलवाड क्या कहता है ?" ऐसे चुभते हुए प्रश्न मुझे अनेक बार सुनने पड़ते।

चिमनभाई जानते हैं कि मैं गांधीजी का भक्त हूँ, गांधीजी जानते थे कि चिमनभाई मेरे लिए परिवार के गुरुजन की तरह पूज्य हैं। आपस के स्नेह-सम्बन्ध मैं तोड़ नहीं सकता। स्नेह-सम्बन्ध जीवन की सुवास है—पैसे से, विवेक से, और पक्ष-विपक्ष से विभिन्न। मेरे इस सिद्धान्त से अनेक लोगों को मेरे प्रति असंतोष और अविश्वास उत्पन्न हो गया है, पर इसका मुझे दुःख नहीं है।

तेरह

१९१४-१५ में एक दिन मैं हाईकोर्ट के दूसरे जीने पर जाने के लिए नीचे लिफ्ट के पास खड़ा था, वहीं दीनशा मुल्ला आ गए। उन्होंने पूछा—"तुम्हीं मुन्शी हो क्या ?" "जी हाँ," मैंने कहा।

"मैं तुम्हारी दावा-अरजी का जवाब लिख रहा था। उसके लिए मेरी बधाई। तुमने दावा-अरजी बड़ी अच्छी लिखी थी।"

उनके स्वभाव की मधुरता निराली थी, और वह मधुरता भी व्यर्थ की नहीं; कठिनाई आ पड़ने पर पूर्ण रूप से सहायक बनने वाली थी। उन्होंने मुझे सचमुच बधाई दी थी या केवल परिचय करने के लिए शिष्टाचार किया था, यह कहना कठिन था, परन्तु इस बात का ज्ञान मुझे तभी हुआ कि आत्मविश्वासहीन भटकते हुए नये बैरिस्टर को जब कोई सीनियर इस प्रकार बधाई दे, तो उसके जीवन में कितना परिवर्तन हो जाता है।

न्यायवादी की अपेक्षा वे न्यायाधीश के रूप में अधिक सफल हुए। न्यायाधीश की अपेक्षा कानून के सिद्धान्तों के टीकाकार के रूप मे वे विशेष प्रसिद्ध हुए। जब वे वकालत करते थे, तब मुकदमा चलाने की अपेक्षा मुकदमा तैयार करने का काम अधिक अच्छा लगता था। शाम को जब वे अपने चेम्बर में कान्फ्रेंस करते, तब समस्त 'भूतों' को वे साथ ही रखते और प्रत्येक को कोई-न-कोई ऐसा काम सौंपते, जिसमे उसे दिलचस्पी होती। उनके शिष्यों में और उनमें परस्पर अद्भुत स्नेह था। वास्तव में देखा जाए, तो सारे 'बार' में उन्हीं का गुरुकुल असली था।

न्यायाधीश के रूप में उनकी बराबरी करने वाले मैंने बहुत कम देखे हैं, उनसे अच्छे कदाचित् ही। विशेष करके व्यापार-सम्बन्धी मुकदमों में वे गहरी दिलचस्पी लेते थे। उनके सम्मुख एक मुकदमा चलाने का मुझे स्मरण आता है।[1] माल कब बेचा माना जाता है, रेलवे रसीद का क्या परिणाम होता है, सफर में किसका माल है, आदि विषयों की चर्चाओं में हम कितने समय तक डूबे रहे थे।

दीनशा जी जहाँ जाते, वहीं लोकप्रिय हो जाते थे। जब धारा-शास्त्रियों का भोज होता था, तब उनकी बातों पर हम लोग हँसकर दुहरे हो जाते थे।

दीनशाजी ने भी गरीबी से जीवन शुरू किया था। पहले वे मास्टर थे और कालेज में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों के विषय में विवरण लिखकर प्रकाशित करते थे। वे कवि भी थे। एक बार उन्होंने रुस्तम और सोहराब की कहानी पर अंग्रेजी में एक लम्बा काव्य लिखकर अंग्रेज राजकवि टेनिसन के पास सम्मति के लिए भेजा। दिन-पर-दिन बीते, परन्तु उत्तर न आया। इस उगते हुए कवि को उत्तर के लिए आतुरता हुई। अन्त में उत्तर आ पहुँचा। दीनशाजी प्रसन्न हो सके। उन्होंने लिफाफा खोला। टेनिसन ने लिखा था—"कविता पढ़ी। आप काव्य

१. Ford Automobiles Ltd. vs. Delhi Motor and Engineering Company. 24 Bombay Law Reporter 1140.

लिखते हैं या सालिसिटर का व्यवसाय करते हैं ? धाराशास्त्री के व्यवसाय में आपकी सफलता की कामना करता हूँ ।"

फैशनपूजक शिमला में भी वे बड़े लोकप्रिय बन गए थे । १६२६ में जब मैं वहाँ था, तब हम अनेक बार मिला करते थे । एक बार न्यायमंत्री सर ब्रजेन्द्र मित्र के यहाँ हम सब खाने के लिए इकट्ठे हुए थे । भोजन के बाद संगीत आरंभ हुआ । अन्त में दीनशाजी प्रतियोगिता में उतरे । लेडी दीनशा पियानो बजाने बैठीं और दीनशाजी ने गजरा बेचन वाली नादान, ये तेरा नखरा...' इस प्रकार के दो-चार गाने छेड़े । सब लोग हँसते-हंसते लोट-पोट हो गए ।

बम्बई के समस्त धाराशास्त्रियों में महत्वपूर्ण काम यदि किसी ने किया था, तो वह दीनशाजी ने । उन्होंने कानून के बड़े-बड़े निबन्धों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं । आज भी उनकी पुस्तकों का प्रत्येक कोर्ट में उपयोग होता है । हिन्दू-विधवाओं के वे उद्धारकर्ता थे । जब वे प्रिवी कौंसिल में न्यायाधीश थे, तब उन्होंने निर्णय दिया कि हिन्दू-विधवा संयुक्त परिवार के पुरुषों की आज्ञा के बिना लड़का गोद ले सकती है। इस निर्णय से हिंदू विधवा की निराधार स्थिति में बड़ा सत्कार पाने योग्य परिवर्तन हो गया ।

चौदह

सर लल्लूभाई आशाराम शाह बेजोड़ न्यायाधीश थे । उनकी नैतिक महानता और प्रबल न्यायवृत्ति ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला था । इतना ही नहीं, मैंने उनके कोर्ट में काम करते-करते यह भी सीखा कि न्यायवादी का प्रथम लक्षण विशुद्धता होनी चाहिए ।

ता० ४ फरवरी १८७३ को अहमदाबाद के निकटवर्ती विसलपुर गाँव में अपने ननिहाल में लल्लूभाई का जन्म हुआ था । आशारामभाई उस समय मोरबी स्टेट के स्कूल के हेडमास्टर थे । गुजरात कालेज में १८६० में ऐच्छिक विषय के स्थान पर फारसी भाषा लेकर वे बी. ए.

हुए, धीरजलाल मथुरादास स्कालरशिप लिया और उसी कालेज में पुरस्कृत फैलो के रूप में काम किया। सन् १८९२ में एम० ए० की परीक्षा में वे प्रथम श्रेणी में आए। १८९४ में एल.-एल. बी. हुए और १८९५ में उन्होंने हाईकोर्ट में वकालत आरम्भ की।

उन्नीसवें वर्ष में जब उन्होंने एम. ए. किया, तब उनके पिता ने उन्हें आई. सी. एस. करने के लिए विलायत भेजने का विचार किया था, परन्तु उनकी माता की अनिच्छा से यह विचार स्थगित कर दिया गया था। उसी वर्ष प्राविन्शियल सिविल सर्विस में बैठने की लल्लूभाई ने तैयारी की, परन्तु अपने भाई की बीमारी के कारण उनकी आशा पूर्ण न हो सकी। वकालत आरम्भ करने के बाद उन्होंने मुनसिफ बनने के लिए अरजी दी। तीन वर्ष के बाद उस अरजी के परिणामस्वरूप जब निमंत्रण आया, तब बम्बई में व्यवसाय जम चुकने के कारण उन्होंने अस्वीकृति भेज दी।

१९०७ में जब मैं बम्बई आया, तब विल्सन हाईस्कूल के सामने उनके घर के आगे से आते-जाते, मित्रों से इस विषय में बातें करके कि वे कैसी स्थिति में बम्बई आये थे और किस प्रकार व्यवसाय कर रहे थे, कठिनाइयों के भार में डूबते हुए अपने हृदय में आशा का संचार किया करता था।

एक बार कुछ महीने ठहरकर, मैं फीजी में वकालत करने वाले मणिलालभाई से मिलने उनके घर गया। मैंने पहली बार लल्लूभाई को देखा। धोती और कुरता पहनकर, कुरसी पर चौकड़ी मारे वे बैठे थे। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट था। वे थे लल्लूभाई! भड़ौंच और सूरत के महापुरुषों के रहने के निरालेपन से मैं परिचित था, परन्तु इस घर की सामग्री देखकर मैं क्षण-भर के लिए निराश हो गया।

मुझे देखकर लल्लूभाई ने कागजों पर से मुख उठाकर पूछा—"भाई, किससे मिलना चाहते हो?"

"मणिलाल भाई से," मैंने कहा, "घर में हैं?"

"बैठो, अभी आते हैं। तुम्हारा नाम क्या है?"

"कन्हैयालाल मुन्शी।"

लल्लूभाई के ममतापूर्ण मुख पर जरा हास्य आ गया। उन्होंने पूछा—"भड़ौंच के मुन्शी या सूरत के ?"

सूरत और डुम्मस में रहने पर भी सूरत के होशियार मुन्शियों की ख्याति से मैं अनजान था। उनके प्रश्न का भेद मेरी समझ में न आया। मैंने कहा—"मैं, भड़ौंच का।"

"तब तो अधुभाई मुन्शी के सम्बन्धी होगे।"

मैंने 'हाँ' कहा।

सर नारायण चन्दावरकर के खाली हुए हाईकोर्ट के न्यायासन पर ता० १ अप्रैल १९१३ को लल्लूभाई बैठे। उस समय स्वयं भाई विभाकर का और मेरा हाईकोर्ट के साथ थोड़े ही दिन हुए सम्बन्ध हुआ था। एक गुजराती व्यक्ति हाईकोर्ट के न्यायासन पर बैठे, इस गौरवप्रद दृश्य को देखने हम दोनों गये थे। उनके लिए अभिनन्दन-समारोह का भी आयोजन था, ऐसा मेरी नोट-बुक कहती है।

१९२० के पश्चात्, सर नार्मन मेक्लाउड की अनुपस्थिति में लल्लूभाई ने दो-तीन बार मुख्य-न्यायाधीश का काम किया था। उस समय जितने दिन मैंने अपील-कोर्ट में बिताये हैं, वे मेरे व्यवसाय के अनुभव में चिर-स्मरणीय बन गए हैं।

१९२० में सरकार ने लल्लूभाई को 'सर' बनाया। १९२२ में लल्लू-भाई 'रेशल डिस्टिंक्शन कमेटी' में नियत हुए थे। यदि उनकी चमड़ी गोरी होती, तो वे कभी के मुख्य न्यायाधीश बन गए होते! यह बात भी चल रही थी कि वे प्रिवी कौन्सिल में भी नियुक्त होने वाले हैं। धारा-शास्त्री के रूप में लल्लूभाई तेजस्वी की अपेक्षा लगन वाले अधिक थे; अचूक युक्तियों की अपेक्षा स्पष्टीकरण को अधिक महत्व देते थे।

लल्लूभाई की वकालत-पद्धति चिमनभाई और भूलाभाई की पद्धति की अपेक्षा भिन्न प्रकार की थी। शान्त और गौरवपूर्ण उनकी वकालत केवल सत्य के संशोधन में मग्न, अतिशयोक्ति से डरती और दिखलावे से

दूर भागती थी। उनका उद्देश्य एक ही था—न्यायासन पाकर न्याय करना।

लल्लूभाई के न्यायासन पर बैठने के बाद उनकी यह वृत्ति दिन-पर-दिन दृढ़ होती गई। उन्होंने अटल न्यायवृत्ति का परिपोषण करने का आदर्श बनाया था। तेजस्विता, शब्द-सामर्थ्य, दृढ़ अन्वेषण, चपल बुद्धि-वाद, स्पष्ट व्यक्तित्व-दर्शन जैसे वकालत के बाह्याडंबरों से अस्पष्ट रहने का वे सदा प्रयत्न करते थे।

कोई कठोर टीका करता या ज़ोरदार विवाद करता, तो लल्लूभाई को न्याय की तुला के हिल उठने का भय मालूम होता था। तुरन्त वे अपना प्रिय वाक्य बोलते—"You may say so, but…" परिणाम-स्वरूप जोर से बोलने वाले का ज़ोर आधा घट जाता था।

गवाह चाहे कितना ही झूठा क्यों न हो, वे उसे जहाँ तक संभव होता, कभी झूठा नहीं कहते थे। मुझे एक घटना याद आती है। मैं उनके आगे एक अपील चला रहा था। प्रतिपक्षी निचले कोर्ट में इतना झूठ बोला था कि उस कोर्ट के न्यायाधीश ने उसके लिए बड़े कठोर शब्दों का प्रयोग किया था। मैंने बयान पर से यह बताने के बाद कि प्रतिपक्षी कितना झूठ बोला था, कहा—"My Lord, the mildest term that can be used for this man is the one used by the trial court, 'master craftsman of the art of mendacity.'"[१]

सर लल्लूभाई ने अपनी दृष्टि उठाई और पूछने लगे—"Mr. Munshi, do you mean to say that there can be a stronger term than this?"[२]

---

१. "माननीय, इस मनुष्य के लिए यदि किसी कोमल विशेषण का प्रयोग करना हो तो निचले कोर्ट का प्रयोग किया हुआ 'झूठ की कला का कुशल कारीगर' ही उचित है।"

२. "मि० मुन्शी, क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इससे अधिक कठोर विशेषण भी कोई हो सकता है?"

मैंने उत्तर दिया—"My Lord, the resources of the English Language are not so poor as not to provide a stronger term."[१]

लल्लूभाई ने घबराकर हाथ ऊपर उठाए—"Oh. no! I don't want to hear a stronger word. This is quite enough."[२]

भूल-चूक से भी अतिशयोक्ति हो जाती, तो उन्हें आघात पहुँचता था। उनकी मृत्यु के लगभग पन्द्रह दिन पूर्व वे बड़ौदा युनिवर्सिटी कमीशन के सामने बयान देने गये थे। रात को हमने बड़ा भोज किया। दो घंटे गपशप की और गरबा[३] सुनने के लिए गये। हम खुले दिल से बातें कर रहे थे। कई वर्षों से लल्लूभाई ने गरबा नहीं देखा था। मैं तो बम्बई के अनेक गरबा-मंडलों से परिचित था। रात के कोई बारह-एक बजे लल्लूभाई ने पूछा—"बम्बई में इतना अच्छा गरबा नहीं होता, है न ?"

कुछ महीनों पूर्व ही बम्बई में एक समारम्भ हुआ था। उसका गरबा मुझे याद आ गया। रायल ओपेरा हाउस की रंगभूमि का रंग-बिरंगा प्रकाश, पीछे का अनुरूप दृश्य, विशेष रूप से बनवाये हुए संवादी रंगों के कपड़े, लम्बे समय के अभ्यास से एक धारा में बहने वाले संवादी स्वर, ताल और पैरों की झंकार, तथा छटापूर्ण अभिनय की मोहकता—सब मेरी आँखों के आगे फिरने लगे।

"बम्बई का गरबा," मैंने जवाब दिया, "इससे बहुत हद तक बेहतर है!" "बहुत हद तक बेहतर है···" उनकी न्यायवृत्ति को आघात पहुँचा और वे बुदबुदाए।

१. "माननीय, अंग्रेजी भाषा इतनी समृद्धिहीन नहीं है कि आवश्यकता पड़ने पर उसमें इससे भी अधिक कठोर विशेषण न मिले।"

२. "नहीं, नहीं, मैं इससे अधिक कठोर शब्द सुनना नहीं चाहता। यही पर्याप्त है।"

३. गुजराती लोकगीत के साथ किया जाने वाला लोक-नृत्य।

रात के दो बजे हम मोटर में राज्य के अतिथि-गृह में वापस आये। मोटर रुकने पर लल्लूभाई ने पूछा—"तुमने बम्बई का गरबा बहुत हद बेहतर बताया, यह बात तुमने न्यायपूर्वक कही है?" उन्होंने अपनी चोट खाई हुई न्यायवृत्ति से जिज्ञासा की।

भारी भोज, गरबा, आधी रात के बाद नशा और उसमें प्रकट की हुई सम्मति की परीक्षा होते देखकर मेरी रसिकता मूर्च्छित हो गई। "लल्लूभाई साहब, मैंने तो गरबे तैयार होते देखे हैं और उनकी पद्धति में सुधार करने की सम्मतियाँ भी दी हैं।"

"हाँ," न्यायमूर्ति ने कहा, "तब बात जुदा है; तुमने विचारपूर्वक शब्दों का प्रयोग किया है।"

"As your Lordship pleases," मैं बुदबुदाया। यह था उनकी तीव्र न्यायवृत्ति का एक उदाहरण।

उनकी युवावस्था की एक बात है; सच होगी या झूठ, इसका निश्चय नहीं है। परन्तु उनकी उत्तरावस्था के नैतिक स्वातन्त्र्य को देखते हुए सच भी न हो, तो भी उन पर लागू होने वाली अवश्य मालूम होती है।

आशाराम भाई जब सफर करते, तब स्वयं दूसरे दर्जे में बैठते और लड़के को तीसरे में बिठाते। एक बार युवक लल्लूभाई जब इस प्रकार तीसरे दर्जे में सफर कर रहे होंगे, तब पिता ने उन्हें दूसरे दर्जे में बुला लिया। लल्लूभाई की नैतिकता अकुला उठी। उन्होंने ट्रैफिक सुपरिण्टेन्डेण्ट को दूसरे और तीसरे दर्जे के किराये में जितनी रकम का अन्तर था, उतनी रकम मनीआर्डर से भेज दी। ट्रैफिक सुपरिण्टेन्डेण्ट खुश हो गया और ऐसे नीतिवान पुत्र के पिता होने के लिए आशाराम भाई को बधाई दे भेजी। इस प्रकार की वृत्ति और स्वातन्त्र्य को उन्होंने अन्त तक स्थिर रखा।

कई वर्षों तक वे मेक्लाउड के साथ अपील कोर्ट में बैठे। मुख्य न्यायाधीश मेक्लाउड था तीक्ष्ण बुद्धि का, चटपट न्याय करने वाला, किसी भी तरीके से मुख्य अभिप्राय को पकड़ने वाला। उसकी उतावलेपन

की आदत से रोज मुकदमा तुरन्त पूरा हो जाता था। परन्तु जब लल्लू-भाई साथ बैठते, तब मेक्लाउड की मजाल नहीं थी कि वह छलाँग लगा सके। जहाँ समझ में न आता, वहीं से वे पुनः छानबीन शुरू करते, प्रश्नावली चलाते और भली-भाँति समझ लेने पर ही केस को आगे बढ़ने देते। मुख्य न्यायाधीश ही जब जल्दबाज़ी कर रहा हो, तब अन्य न्याया-धीश कदाचित् ही धीमे चलना चाहते हैं। परन्तु लल्लूभाई वास्तव में न्याय करने बैठते और किसी की भी परवाह न करते हुए अपने तरीके से न्याय करते थे।

उनकी दृष्टि कानून के विषय में अचूक थी; परन्तु जहाँ दुनिया के दाव-पेंच आते, वहाँ फँस जाती थी। 'मनुष्य किसलिए बुराई करे? सामान्य रूप से उसे भलाई करनी ही चाहिए—' इस मान्यता से अनेक बार उनके मर्म-दर्शन की झाँकी मिलती थी।

हिन्दू धर्म-शास्त्र के विषय में उनके फैसलों ने हिन्दू संसार पर चिर-स्थायी प्रभाव डाला है। न्यायाधीश बनने के बाद, शास्त्री से संस्कृत पढ़-कर उन्होंने धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया था। हिन्दू धर्म-शास्त्र के विषय में उनके आगे मैंने दो बड़े मुक़दमे चलाए थे और तब से मुझे धर्मशास्त्र का शौक लग गया था।

बाई गुलाब, बनिये बाप और घाटी माँ की लड़की थी। लड़की बड़ी वाचाल थी। वह गुजराती भाई-बन्दों में पली हुई थी। युवती हुई, तो बाप ने इसकी परवाह नहीं की। एक भाटिया 'माजी'—स्त्री—ने उसे अपनी शरण में लिया। माजी ने उसे एक घड़ीसाज के साथ ब्याह दिया। विवाह को पाँच-दस दिन हुए थे कि बाई गुलाब पति को छोड़कर भाग आई। घड़ीसाज़ ने विवाह का हक पूरा करने का दावा किया। मुक़दमा चलने तक बाई गुलाब को 'वनिता-आश्रम' में रख दिया गया।

यह मुक़दमा सुनवाई के लिए न्यायमूर्ति काजीजी के पास आया। मैं था बाई गुलाब की ओर से और भूलाभाई थे दूसरे पक्ष की ओर से। हमने जितने भी किये जा सकते थे, बचाव के सबूत इकट्ठे किये थे।

परन्तु मुख्य युक्ति यह थी कि घाटी स्त्री की लड़की अर्थात् शूद्र का विवाह अनुलोम होने से शास्त्र-निषिद्ध है, अतः गैरकानूनी है।

काजीजी व्यवहारकुशल न्यायाधीश थे। "मुन्शी, आप देखते नहीं कि यदि मैं इस विवाह को गैरकानूनी करार दूं, तो आपकी मुवक्किल बाई की ज़िन्दगी खराब हो जाएगी।" इस प्रकार वे एक-एक घण्टे पर कहते जाते। बाई गुलाब और माजी पीछे बैठी थीं। वे टस-से-मस नहीं होती थीं।

दो-तीन दिन केस चला। काजीजी ने मुझसे कहा कि बाई गुलाब को बुलाकर स्वयं उसको समझाना चाहिए कि इस दावे को जीतने में उसे लाभ नहीं है। इसके अनुसार मैंने बाई गुलाब को और माजी को दोपहर में अपने चेम्बर में बुलाया और समझाने लगा। "हिन्दू समाज बेहूदा है। तुम एक बार पति के साथ रह आई हो, इससे तुम्हें दूसरा अच्छा वर नहीं मिलेगा और तुम्हारी ज़िन्दगी खराब होगी," मैंने यथोचित मधुरता से कहा।

"इसकी कोई बात नहीं। मेरी माजी तो हैं न।" मेरी मुवक्किल ने कहा।

"पर देखो," मैंने कहा, "माजी बूढ़ी हो गई हैं। कल अगर ये मर जाएँ, तो तुम्हारा कौन होगा?"

वह शेरनी की तरह उछल पड़ी—"माजी मर जाएँ? मेरे बैरिस्टर होकर आप यह क्या कह रहे हैं? माजी मर जाएँ? फिर मैं क्यों न मर जाऊँ? आप क्यों न मर जाएँ?"

बाप रे! मैं और मेरा सालिसिटर टेबल के नीचे घुस जाने का विचार करने लगा।

साढ़े तीन बजे मैंने काजीजी से कहा कि हम सुलह नहीं करेंगे। सामान्यतया यदि न्यायाधीश सुलह करने को कहें और मुवक्किल इनकार कर दे, तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं और मनुष्य-स्वभाव के वश होकर इनकार करने वाले के प्रति कठोर और उद्वेगमय बन जाते हैं। काजीजी का भी

यही हाल हुआ। चार-पाँच दिनों में मुकदमा खतम हुआ। काजीजी ने हमारे विरुद्ध फैसला किया और विवाह को कानून के अन्दर बतलाया।

ढाई बजे थे। माननीय ने आज्ञा दी—"बाई गुलाब इसी समय घड़ीसाज के अधीन हो।"

मैं ऐसी किसी आज्ञा की आशा कर ही रहा था, इसलिए जब माननीय फ़ैसला सुना रहे थे, तब मैं अपील की युक्तियाँ लिख रहा था। मैंने कहा—"अपील करने के लिए समय दीजिए।"

"नहीं।"

"कल तक समय दीजिए।"

"बिलकुल नहीं।"

"साढ़े तीन बजे तक।"

"अच्छा, मनाही हुक्म ले आओ, एक घण्टे का समय देता हूँ," माननीय ने कहा।

उचित रीति से अपील करने में तो बड़ा समय लगता था; परन्तु मुख्य न्यायाधीश मेक्लाउड को जहाँ अन्याय मालूम होता, वे सब रीतियों को ताक पर रख दिया करते थे।

मैं तुरन्त मेक्लाउड के चेम्बर में गया, सारा विवरण सुनाया और कहा कि अपील का मसविदा टाइप करने का भी समय नहीं है।

"साढ़े तीन बजे कोर्ट में अर्जी देना और मसविदा तुम स्वयं लिखना।"

साढ़े तीन बजे मैं कोर्ट में उपस्थित हुआ। सामने स्ट्रैंगमेन आये। मेक्लाउड टस-से-मस न हुए। "जहाँ विवाह ही झगड़े में है, वहाँ मनाही हुक्म का पालन कैसे हो सकता है?" उन्होंने मुझे तुरन्त मनाही हुक्म दिया। कोई अन्य न्यायमूर्ति होता, तो मनाही हुक्म पाने से पहले न जाने क्या-क्या हुआ होता!

मेक्लाउड और लल्लूभाई के आगे अपील सुनवाई पर आई। मैं तो मिताक्षर-व्यवहार-मयूख आदि की तैयारियाँ करके गया था। सामने जिन्ना थे। मेरे मुँह खोलते ही मेक्लाउड ने मुल्ला का 'हिन्दू लॉ' खोला और

थोड़े में निबटाने का प्रयत्न किया। लल्लूभाई बीच में पड़े। अनुलोम विवाह शास्त्र-निषिद्ध है या नहीं, यह तो बड़ा जरूरी सवाल है। इसे झाड़ू से बुहारकर फेंका नहीं जा सकता। मेक्लाउड ने धीरज रखा। फिर दो दिन लल्लूभाई मिताक्षर, मयूख और अन्य धर्मशास्त्रों में निमग्न हो गए और अन्त में उन्होंने मेरे मुख से कहलाया कि अनुलोम विवाह शास्त्र-निषिद्ध नहीं है।[१]

अपील फैसले के लिए आई। बाई गुलाब के लिए यह हुक्म हुआ कि उस दिन वह कोर्ट में हाजिर रहे। जब फैसला हमारे विरुद्ध हुआ तब मेरी मुवक्किल न कोर्ट में थी, न 'वनिता आश्रम' में।

मेरे सौभाग्य से हिन्दू-शास्त्र का एक अन्य आवश्यक विषय भी लल्लूभाई के आगे ही उपस्थित हुआ था।

एक पैसे वाला हिन्दू, गणिका के यहाँ बीमार पड़ गया और थोड़े दिनों बाद मर गया। उस गणिका नागूबाई ने हिन्दू कानून के अनुसार यह कहकर कि वह उसकी हमेशा की रखैल है, खाने-कपड़े के लिए दावा किया।

मुकदमा न्यायमूर्ति कांगा के पास आया। मैं मृतक के स्त्री-बच्चों की ओर से हाज़िर हुआ। वादी गणिका है, मृतक का अनेक गणिकाओं के साथ सम्बन्ध था, स्त्री-बच्चों को क्या पता कि यह रखैल हमेशा की थी या कामचलाऊ, इस प्रकार की अनेक दलीलें हमने उपस्थित कीं, परन्तु न्यायमूर्ति कांगा ने हमारे विरुद्ध निर्णय दिया और हम अपील में गये।

लल्लूभाई तब स्थानापन्न मुख्य न्यायमूर्ति थे। उनके और न्यायमूर्ति क्रम्प के आगे केस चला। धर्मशास्त्र के आधार पर मैंने दलील की कि केवल हिन्दू शास्त्र ही रखैल को खाना-कपड़ा देकर परिणीत स्त्री की भूमिका पर रखता है; परन्तु प्रत्येक रखैल को नहीं, वरन् 'अवरुद्ध स्त्री' अर्थात् प्रकट रूप में रखी हुई और परिवार में स्वीकृत हुई स्त्री को ही।

लल्लूभाई को इस दलील में दिलचस्पी हुई। वे ऐसे अनेक आधार

१. Bai Gulab Vs. Jeevanlal, 24 Bombay Law Reporter p. 5

ले आये, जो मैंने भी नहीं देखे थे ।

"यदि ऐसा न हो तो कोई भी रखैल दावा कर दे और बेचारे स्त्री-बच्चे यह कैसे साबित करें कि यह रखैल कितने पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखती थी ?"

यह दलील उनके गले उतरी । लल्लूभाई ने हमारे पक्ष में फ़ैसला दिया ।[1]

गणिका प्रिवी-कौन्सिल तक गई । लार्ड डार्लिंग के गले हिन्दू-शास्त्र क्यों उतरने लगा ? "आज के जमाने में भला रखैल को परिवार वाले स्वीकार कर सकते हैं ?" उन्होंने पूछा । और लल्लूभाई के फ़ैसले को अस्वीकार किया ।[2]

मैं अब भी मानता हूँ कि लल्लूभाई सच्चे थे और इस विषय में कानून में सुधार की आवश्यकता है । यदि रखैल को पत्नी के कई अधिकार प्राप्त हों, तो वह 'अवरुद्ध' होनी चाहिए, रखने वालों के समाज की स्वीकार की हुई होनी चाहिए, अन्यथा अनेक झूठे दावे खड़े होंगे और स्त्री-बच्चों के साथ अन्याय होगा ।

लल्लूभाई के जाने के बाद तो हमारे हाईकोर्ट में नया सिद्धान्त दाखिल हो गया है । दीनशा मुल्ला के 'हिन्दू लॉ' के अतिरिक्त यदि कोई अन्य आधार कोई धारा-शास्त्री देने जाता है, तो वह तुरन्त अयोग्य माना जाता है । इसलिए इस प्रकार के अनुभव बहुत कम हो गए हैं ।

लल्लूभाई जब गुजराती फार्ब्स-सभा के प्रमुख बने, तब उन्होंने मुझे उसका सदस्य बनाया और तब से हमारा आपसी परिचय बढ़ गया ।

लल्लूभाई की जीवनचर्या केवल आडम्बर रूप नहीं थी; दृढ़ता से घोषित की हुई न्यायवृत्ति का वह परिणाम थी । इस वृत्ति के पोषण के लिए उन्होंने समाज के साथ लगभग सारा व्यवहार बन्द कर दिया था । मित्रों से वे शायद ही मिलते; सगे-सम्बन्धियों के साथ कदाचित् ही व्यवहार

---

१. Moghibai Vs. Nagubai 24 Bombay Law Reporter p.9.
२. Nagubai vs. Moghibai. 53, Indian appeals p. 153.

रखते, और न्याय करते समय इस बात का खयाल रखकर सचेत रहते कि कहीं कोई भी दृष्टि-बिन्दु वास्तविक या काल्पनिक उनकी आड़ में न आ जाए।

अनुभवी धारा-शास्त्री सरलता से बहुत-सी बातें समझ सकता है। वर्षों के अभ्यास से वह तुरन्त सच-झूठ को परख सकता है और वह स्वयं सच्चा ही है, इस प्रकार की मनोदशा का अनुभव करता है। ऐसे पुरुषों को अपना किया हुआ कार्य सदा न्यायपूर्ण ही मालूम होता है। परन्तु वे अपना अभिप्राय बनाने से पहले, सारी बातें सुनने तक, अपनी न्यायवृत्ति को अनिश्चित दशा में नहीं रख सकते, मानव-जाति की निर्बलता को नहीं सह सकते और अपना मत झूठा हो सकता है ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते। परन्तु जब तक ये तीन लक्षण पूरी तरह परिपुष्ट नहीं होते, तब तक न्यायवृत्ति संपूर्ण दशा में प्रकट नहीं होती।

सर लल्लूभाई शाह ने इस प्रकार की न्यायवृत्ति पोषित करके उसे सदा सतेज रखा और आदर्श स्वतन्त्रता से सुशोभित किया। भारत और इंगलैंड की अनेक अदालतों में वकालत करने वाले एक अंग्रेज धारा-शास्त्री ने मुझसे कहा था कि उसने भारत और इंगलैंड के अनेक न्यायाधीश देखे हैं, परन्तु लल्लूभाई शाह जैसे स्वतन्त्र और शुद्ध न्यायवृत्ति वाले न्यायाधीश नहीं देखे।

उन्हें सत्य के लिए जितना प्रगाढ़ प्रेम था, प्रत्येक के दृष्टि-बिन्दु से सत्य क्या हो सकता है, यह खोज करने की उतनी ही प्रगाढ़ सहानुभूति-पूर्ण उत्कण्ठा थी। परिणामस्वरूप वे प्रत्येक की कठिनाइयों को देख सकते थे, उदारता से भूलों को बिसरा सकते थे, और फिर भी सबमें सत्य क्या है, इसे खोजने का धीरज रख सकते थे।

१६ नवम्बर १९२६, देवोत्थानी एकादशी को सवेरे स्वर्गद्वार खुलते ही इस महान् गुजराती ने देवलोक प्राप्त किया और इस शोक-समाचार को बम्बई ने निःश्वासपूर्वक सुना। सुबह पाँच बजे वे उठे, अस्वस्थ हुए और चल बसे।

जिस प्रकार वे जिये, उसी प्रकार चल दिए—गौरव के साथ, कृष्णलाल काका, पकवासा और छोटू काका जैसे प्रतिष्ठित धाराशास्त्रियों के कन्धों पर चढ़कर, न्यायमूर्तियों और सचेत धाराशास्त्रियों द्वारा वन्दित होकर। वह दर्शन अद्‌भुत था। बम्बई के धाराशास्त्रियों की दुनिया अपने सहस्र-मुखी गौरव के साथ, भरी दोपहरी में पेडर रोड से उतर रही थी—न्याय की इस आदर्शमूर्ति के प्रति अन्तिम बार पूज्यभाव प्रदर्शित करने के लिए।

पन्द्रह

मुहम्मदअली जिन्ना और मैं इस समय एक दूसरे से भिन्न दुनिया में घूम रहे थे। एक समय हम खूब निकट थे।

मेरे पास होने के पश्चात् उनका प्रथम दर्शन मुझे १९१३ के नवम्बर की पहली तारीख को हुआ। मैंने अंकित किया—

"मि० जिन्ना आज विलायत से आये। वास्तव में बड़े ही अद्‌भुत मनुष्य हैं। हिन्दुस्तानी एडवोकेटों में ये सबसे आकर्षक हैं—कैसे स्पष्ट और कैसे सावधान!"

जिन्ना का रोब हमेशा अधिक था। वे फक्कड़ भी थे और अक्खड़ भी। उनके कपड़ों के समान सुन्दर कपड़े और कोई नहीं पहनता था। उनके जितने चमकीले बेन्ड्स और किसी के पास नहीं थे। उनके बाल सदा सफ़ाई के साथ सँवारे हुए होते; उनके अभिनय नाटकीय और जोशीले होते। उनका अंग्रेज़ी बोलने का ढंग निराला और अचूक था। उनके उच्चारण हमेशा भावपूर्ण और दर्द-भरे होते थे। किसी समय व्याकरण की भूल हो भी जाती, पर बोलने की छटा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

वे आकर कोर्ट में बैठते, मानो फोटो खिचवाने बैठे हैं। वे खड़े होकर, कमर पर हाथ रखकर कोर्ट को नाटकीय छटा से सम्बोधित करते।

उनके अक्खड़पन की सीमा नहीं थी। अभिमान तो ज़रा-ज़रा-सी

निपुण थे। वे राह देखते रहते, हिम्मत से बोलते रहते और ज्योंही विपक्ष का एडवोकेट ज़रा-सी भी भूल करता, कि वे शेर हो जाते। अपना अभिप्राय मज़बूती से बैठाते और छटापूर्वक या हँसकर अथवा प्रभावित करके न्यायाधीश से अपना सोचा हुआ काम करवा लेते।

मेरे प्रति उन्हें बड़ा सद्भाव था। आगे जाकर जब मैं 'होमरूल लीग' का मंत्री बना तब वे उसके प्रमुख थे। इससे हमारा सम्बन्ध अधिक प्रगाढ़ हुआ। परन्तु इस परिचय का अन्य स्थान पर वर्णन करूँगा। मैत्री में से निजी सम्बन्ध के तत्वों को वे निथार देते थे। चाहे कितना भी परिचय बढ़ जाता परन्तु वे कभी अपनी निजी बात नहीं करते थे और न मित्र को ऐसा करने का मौक़ा देते थे। उनकी शक्ति की भावना दुर्भेद्यता पर रची गई थी।

एक दिन एक कान्फ्रेन्स के बाद हम दोनों इधर-उधर की बातें करने बैठे थे। उस समय उन पर पारिवारिक कष्टों के बादल मँडरा रहे थे। मैंने पूछा—"जिन्ना, तुम्हारी तबीअत ठीक नहीं है?" उन्होंने अपने मोहक ढंग से माथे पर आये हुए बाल ऊपर किये और कहा—"मुन्शी, तुम्हें पता नहीं कि मुझ पर क्या बीत रही है।"

इसके बाद उन्होंने होंठ दबा लिए और हृदय की व्यथा पर तुरन्त परदा डाल दिया।

सोलह

हाईकोर्ट की लायब्रेरी एक अजीब-सी संस्था है। वहाँ दो सौ के लगभग विद्वान् पैर लम्बे करके पड़े रहते—अनेक व्यवसाय के शिखर पर, अनेक ब्रीफ पाने के लिए अधीर, अनेक गप्पों की तरंग में। वहाँ दुनिया की सारी बातें होती हैं, सबकी निन्दा होती है, प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है और एक-दूसरे के साथ भ्रातृभाव भी अनुभव करता है।

ड्यूमा की जगद्विख्यात कहानी में मस्केटियर चार थे, पर कहलाते

तीन थे। व्यवसाय में भी हम 'थ्री मस्केटियर' संख्या में चार थे—मोतीलाल सीतलवाड, हरिलाल काणिया, मंगलदास देसाई—सर्वानुमत से मंगल और मैं।

मोतीलाल १६११ में एडवोकेट हुए। जब मैं सम्मिलित हुआ, तब वे अलग-अलग रहते, कम बोलते और लायब्रेरी में बैठकर पढ़ना-पढ़ाना करते रहते। तब मेरी और उनकी अच्छी तरह पहचान नहीं थी।

१६१५ में काणिया एडवोकेट हुए और तभी से हम मित्र बने। मैं मुरारजी गोकुलदास की चाल में रहता था; वे बगल में विल्सन हाईस्कूल के सामने रहते थे। श्रीमती काणिया और लक्ष्मी का मेल-जोल बढ़ा। बहुधा रविवार को इकट्ठे बैठकर हम अपने भविष्य का विचार करते थे। वे कांगा के 'भूत' हुए। काणिया का स्वभाव एकमार्गी था। जो काम करना होता, उसे पूरी तरह करते। हाईकोर्ट में वकालत करने आते, अतः वहाँ उसे ही निभाते—दृढ़ता से, निश्चयात्मकता से, इधर-उधर देखे बिना।

मंगल का और मेरा परिचय अधिक पुराना था। १६११-१२ में 'कपोल छात्रालय' के गृहपति और मेरे मित्र खुशालदास पारिख मुझे छात्रालय के वाद-मंडल में भाषण करने के लिए बुला ले गए थे। वहाँ मंगल और उसके बड़े भाई मुझे मिले। मंगल का मुझे किसी ने परिचय दिया—'ये विल्सन कॉलेज के बर्क हैं।' प्रथम दर्शन में प्रेम होने की तरह हमारी मैत्री हुई। जब वह विलायत गया, तब जो समारम्भ हुआ था, उसमें मैं विदाई के दो शब्द बोला था, ऐसा स्मरण है।

१६१४ में मंगल बैरिस्टर होकर बम्बई आया और भूलाभाई के गुरुकुल में शामिल हो गया। मंगल के बड़े भाई मधुभाई का मुझ पर बड़ा प्रेम था। थोड़े समय में मंगल का विवाह हुआ और वह संवनन करते समय उसके हृदय में जो भाव उत्पन्न होते, वे, जब हम भूलाभाई के चेम्बर के छज्जे पर खड़े होते, तब मुझे सुनाता। उसके विवाह के बाद उसके ससुर तुलसीदास भी मुझे घर की तरह मानने लगे; रोज

शाम को भूलाभाई के चेम्बर के छज्जे पर खड़े-खड़े हवा खाते रहते और गप्पें लड़ाया करते। मंगल की विनोदवृत्ति अद्भुत थी। अपने उन दिनों की अनेक कठिनाइयों को उसके हास्य-विनोद के द्वारा हमने हलका किया है।

हम रोज़ चिन्ता करते कि पेट भरने लायक कमाई हो सकेगी या नहीं। मंगल मेरी तरह धनहीन नहीं था। उसके सगे-सम्बन्धी पैसे वाले थे। मेरी रोज की चिन्ता की सीमा नहीं थी। जब मुझे खूब चिन्ता होती और मैं कुछ कह देता, तब मंगल मुझे हमेशा आश्वासन देता। गुरु की ओर से कुछ बुरा लगता, तो मंगल एक चुटकले में गुस्सा उतार देता। उस छज्जे पर एक छोटी-सी बात मैं उससे कहा करता था, वह याद आती है—

"मंगल, दस वर्ष मैं चाहे जिस प्रकार निकाल लूंगा। जी-तोड़ मेहनत करूँगा। १५ मार्च १९२३ को यदि मुझे मालूम होगा कि मैं हार गया, तो मैं अपने सालिसिटर मित्रों को खाने पर बुलाऊँगा। दूसरे दिन मेरा शव मेरी साक्षी देगा।"

मंगला हमेशा कहता—"उस दिन अगर मुझे बुलाया, तो देख लेना!"

मंगल के कटाक्ष हमेशा अचूक होते थे। आज वे सारे हाईकोर्ट में प्रसिद्ध हो चुके हैं। १९२०-२१ में मंगल के हँसोड़ मुख ने कटाक्षमय निपुणता प्राप्त नहीं की थी। इससे एक बार वह बड़ी मुश्किल में आ पड़ा था। वह और मैं दोनों एक मुकदमे में पक्ष-विपक्ष में थे। माननीय बराबर उसकी ओर घूरते रहते। एक बार उन्होंने मंगल से कहा कि उसकी कही हुई बात ठीक नहीं थी। मंगल ने मानपूर्वक कहा कि तब वह इसी आशय को दूसरे रूप में पेश कर सकता है। दो मिनट बाद माननीय ने पुनः कहा—

"That's not the thing. Go to the next point."[1]

---

१. यह विषय यहाँ नहीं है। दूसरे विषय पर आओ।

मंगल मिठास के साथ हँसा।

"As your Lordship pleases."[1]

न्यायमूर्ति क्रुद्ध हुए—

"Why do you smile?"[2]

मंगल ने मेरे कान में कहा—

"हँसूँ नहीं तो रोऊँ?" और हँसकर उत्तर दिया—

"As your Lordship pleases. I won't smile again."[3]

उसकी पत्नी लीला बहन सुकुमारता और संस्कारिता की लजीली मूर्ति थीं। वह भी मुझे मंगल का भाई समझने लगीं।

मोतीलाल बड़े आदमी के लड़के थे। निर्धनता का शूल उन्हें नहीं चुभता था, इसलिए वे खूब मेहनत करते, परन्तु आगे बढ़ते झिझकते थे। अन्त में चिमनभाई के कहने से वे भूलाभाई के गुरुकुल में आ गए और अपने छज्जे पर खड़े होकर हम जो तपश्चर्या किया करते थे, उसमें शामिल हुए। मोतीलाल में स्वस्थता होना स्वाभाविक था। बड़ों के लड़के थे, इसलिए हाईकोर्ट की दुनिया में उन्हें जरा भी क्षोभ नहीं होता था। उनमें निश्चयात्मकता भी बड़ी थी। उनके अक्षर ऐसे थे मानो मोती के दाने। ऊँचे, विशालवक्ष वाले, स्वस्थ, चिमनभाई के आत्मविश्वास के वे कुछ अंशों में वारिस थे।

भूलाभाई ने 'होमरूल लीग' से इस्तीफा दे दिया। हमारे निजी और व्यावसायिक सम्बन्ध को देखते हुए, स्वाभाविक रूप से उन्होंने यह चाहा कि उनके पीछे मुझे भी इस्तीफा दे देना चाहिए। मैं अपने राजनीतिक आचार को और निजी व्यावसायिक सम्बन्ध को परस्परावलम्बी बनाना नहीं चाहता था।

दिसम्बर की अंतिम तारीखों में कोर्ट बन्द होने वाला था। उस शाम

१. जैसी माननीय की इच्छा!

२. तुम हँस क्यों रहे हो?

३. 'माननीय की जैसी इच्छा, पुनः नहीं हँसूँगा।'

को भूलाभाई ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया। वे कहने वाले थे, मैं सुनने वाला था। उनके कहने का तात्पर्य यह था कि मुझे लीग में और उनके गुरुकुल में एक साथ स्थान नहीं मिल सकता।

क्रोध के उद्वेग से भरा हुआ मैं घर पहुँचा। चोट खाये हुए स्वाभिमान से मेरा मन उबल रहा था। भूलाभाई के विश्वासपात्र 'भूत' से पदभ्रष्ट होने पर मेरी थोड़ी बँधी हुई कमाई भी जाती रहेगी, इस विचार से मैं काँप रहा था।

जब ऐसा विषादयोग आता है, तब मेरा मन उचाट हो जाता है। तीन दिन से अधिक अन्न जिस ब्राह्मण के पास हो, उसके लिए आर्यावर्त में स्थान नहीं है, यह सूत्र याद आ जाता है।

कांग्रेस के दिल्ली में होने वाले अधिवेशन में जाने के लिए मित्र लोग मुझसे कह रहे थे, परन्तु मैं नहीं जाना चाहता था।

बाद में मैंने संकल्प बदल दिया—

"न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धाम्
वैदग्ध्यकीर्त्तिमपहर्तुमसौसमर्थः।"[१]

मैं स्टेशन पर गया और दिल्ली का टिकट लिया।

नाताल की छुट्टियों के बाद कोर्ट खुला और उसी दिन जिन्ना को पता लगा—"मुन्शी, तुम्हें notice to quit मिला है; आज शाम से मेरा चेम्बर तुम्हारे लिए खुला है।"

मैंने उपकार माना और इनकार करते हुए कहा—"व्यवसाय में वे मेरे गुरु हैं। मेरा स्थान उन्हीं के चेम्बर में है।

भूलाभाई के समान अनेक शक्तियों के पुंज के समागम से मुझे जो लाभ हुआ था, उसके ऋण को मैं कैसे भूल सकता था? शाम को मैं उनके चेम्बर में हाजिर हुआ। वे कुछ न बोले, पर थोड़े दिनों मुझे अच्छी तरह सहन करना पड़ा। मैं नियमित रूप से रोज जाता और वापस आता। कुछ महीनों बाद यह बात हम भूल गए और गुरु-शिष्य का सम्बन्ध फिर

१. सीधी चढ़ान, पृष्ठ १२५

जुड़ गया। इसका वास्तविक श्रेय इच्छा बहन को है।

परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि इस सम्बन्ध को बनाये रखना है, तो मुझे स्वतन्त्र होना चाहिए।

मंगल और मैं रोज शाम को चेम्बर में मिलते और साथ-साथ घर जाते। गुरु के चेम्बर में रोज जाना हमने छोड़ दिया।

पहले भूलाभाई अपने मुकदमे चलाने के लिए मुझे देते, अब मोतीलाल उन्हें चलाने लगे। उनकी निश्चयात्मकता और परिश्रम, आत्म-विश्वास और विश्वसनीयता ने तुरन्त ध्यान खींचा और उन्हें काम मिलने लगा।

इसी वर्ष के अक्टूबर-नवम्बर में 'Nine-Dragon' जापानी लांग-क्लाथ का बड़ा सट्टा चला था। व्यापारी समझते थे कि यूरोप का युद्ध और दो-चार वर्ष चलेगा, इसलिए रोज लांगक्लाथ का भाव चढ़ता, हज़ारों गाँठों की हुंडियाँ हुआ करतीं और व्यापारी कागज़ों पर हज़ारों रुपये रोज कमाकर घर जाते।

नवम्बर में लड़ाई खत्म हो गई; लांगक्लाथ का भाव गिर गया। लेने वालों ने माल उठाने से इनकार कर दिया। परिमाण में तो माल नाम-मात्र को ही था। सब बेचने वालों ने माल उठा लेने का नोटिस दिया और तुरन्त नुकसानी दावे होने लगे। वर्ष में हाईकोर्ट में बारह सौ दावे आते थे, उससे बढ़कर पाँच हज़ार से भी अधिक आये। इस दावे की अर्जियाँ बनाने में मुझे काफी अच्छा भाग मिला। बहुत दिनों तक मैं प्रतिदिन चार-पाँच अर्जियाँ लिखा करता। हाईकोर्ट में पैसे की लहरें आनी शुरू हुईं।

१९२० में ये दावे सुनवाई पर आये। त्वरित्-गति मेक्लाउड प्रति-दिन पन्द्रह-बीस दावों को रद्द कर देता। अधिकतर एक ओर भूलाभाई और दूसरी ओर कांगा होते। भूलाभाई उस समय शिखर पर पहुँचे। शायद ही कोई ब्रीफ ऐसी होती थी, जो पहले उनके आगे न रखी जाती हो। उन्होंने भी असीम कार्यदक्षता से काम निबटाना शुरू किया। उसी

समय कांगा न्यायाधीश बने और काणिया हमारे गुरुकुल में शामिल हुए।

१६२१ की फरवरी में बढ़े हुए काम का अन्त लाने के लिए सात कोर्ट बन गए। अभी तक तीन कोर्ट थे। हाईकोर्ट में पहले से 'होल्डिग' का तरीका अंग्रेज़ी 'बार' के तरीके पर चला आ रहा था। उसका अनुसरण करके भूलाभाई जिस मुकदमे में स्वयं न आ सकते, उसकी ब्रीफ हमें 'होल्ड' करने के लिए देते। अतः यदि सालिसिटर को एतराज न हो तो हम मुकदमा चलाते। फीस भूलाभाई को मिलती; हमें अनुभव और ख्याति मिलती।

यह पद्धति नये बैरिस्टरों के लिए बड़ी उपयोगी है। अनेक युवक बैरिस्टरों ने आशा की थी कि जब तीन कोर्ट से सात कोर्ट होंगे, तब उन्हें काम मिलेगा। कुंभाराणा ने तो एक मीरा से चार मीरा ही देखी थीं; परन्तु सात कोर्ट होने पर हाईकोर्ट ने एक भूलाभाई से सात भूलाभाई देखे। स्वयं भूलाभाई, मोतीलाल, थानावाला, इन्द्रबदन मेहता, मंगल, काणिया और मैं—सात थे।

अधिकतर ब्रीफ पहले भूलाभाई के आगे रखे जाते। वे जितने हो सकते, उतने लेते। एक कोर्ट में वे खुद काम चलाते और जिस कोर्ट में हमें थोड़ा-बहुत काम होता, उसमें उनका ब्रीफ हम 'होल्ड' करते। सारे बार में धूम मच गई।

जिस प्रकार हिमालय का सारा पानी गंगा-द्वार में इकट्ठा होता है, इसी प्रकार प्रतिदिन के दर्जनों ब्रीफों के प्रवाह का आधे से अधिक भाग हमारे गुरुकुल में इकट्ठा होकर बहने लगा। इस ठेके के विरुद्ध स्वाभाविक रूप से प्रकोप हुआ। आशावान बैरिस्टर लोग भिन्न-भिन्न कोर्ट में बैठ गए और किस-किस केस में हम लोग उपस्थित होते हैं, इसे नोट करने लगे।

एक महीने तक इस प्रकार चला और अन्त में स्ट्रैंगमेन के पास फरियाद पहुँची। उसने इन्वेरारिटी से सहायता माँगी और उसने हम पर आरोप लगा दिया। द्वेष का सागर उमड़ पड़ा। 'बार' की सभा हुई।

हमारे आगे आरोप की सूची पेश की गई—हमने एक.दूसरे के ब्रीफ 'होल्ड' करने से अपनी शक्तियों को एकत्र करके नफा करने का इकरार किया था। कानून के अनुसार यह इकरार हिस्सेदारी का था, और इससे हमने व्यवसाय में अनुचित व्यवहार किया था।

स्ट्रैंगमेन, बहादुरजी और कोयाजी की जाँच-समिति बैठी। मार्च की २१ तारीख को 'बार' की सभा ने निश्चय किया कि कोई बैरिस्टर दूसरे का ब्रीफ 'होल्ड' न करे; किसी के स्थान पर कोई दूसरा काम न करे।

दूसरे दिन चमत्कार हुआ। जो ब्रीफ भूलाभाई के हाथ में आते थे और हम 'होल्ड' करते थे, वे अब हमारे हाथ में हमारे बनकर आ गए। मेरी कमाई इससे लगभग ढाई गुना बढ़ गई। 'थ्री मस्केटियर्स' के भाग्य जाग उठे।

'मारो मारो आ संभलाय,

धरणी लागी धूजवा ने ऊथल पाथल थाय।'[1]

पुराने कवि की इन पंक्तियों का मुझे नया अनुभव हुआ। आज इसे व्यवसाय से उखाड़ फेंकेंगे और कल उसे। स्ट्रैंगमेन, एडवोकेट जनरल के लिए भी न्यायवृत्ति रखना कठिन हो पड़ा। अप्रैल के आरम्भ में जबर्दस्ती अधिक फीस लेने के लिए भूलाभाई पर इलजाम लगाया गया। हम पर इलज़ाम लगाने वाले एक भाई यह समझते थे कि मैं सालिसिटरों को कमीशन देता हूँ। वे सीधे और टेढ़े-मेढ़े तरीकों से खोजकर आये, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। कारण, कि मैंने पहले से ही यह नियम बना रखा था कि ज़रूरत पड़ने पर मुफ्त काम करूँगा, परन्तु किसी को कमीशन नहीं दूंगा।

'मेरा-मेरा' बहुत समय तक सुनाई देता रहा; हम कमाई करते रहे। जाँच के काम को मैंने अंग्रेज़ी इतिहास का मशहूर 'Trial of the seven

१. 'मेरा-मेरा' सुनाई पड़ रहा है। पृथ्वी काँपने लगी और उथल-पुथल होने लगी है।

bishops' नाम प्रदान किया। दूसरे पक्ष ने हमारा नाम 'बासुदी क्लब' रखा। कौन जाने ह्विस्की-सोडे में ही सज्जनता हो !

उदारवृत्ति के बैरिस्टर विकाजी तारापुरवाले, जिनका परिचय १९२२ के बाद के समय में आता है, हमारी ओर खड़े हुए।

स्ट्रैंगमेन की न्यायवृत्ति के विषय में हमें बड़ा भय था; परन्तु मामला दीपक की तरह था। हमारी कोई हिस्सेदारी नहीं थी। हम निर्दोष ठहराये गए। भूलाभाई पर लगाया गया इलज़ाम एकदम झूठा साबित हुआ। 'बासुदी क्लब' विजय का डंका बजाता बाहर आया।

'सात बिशप' की जाँच के द्वेष का धुआँ वर्षों तक दीखता रहा।

१९२२ में मोतीलाल, काणिया, मंगल का और मेरा पारस्परिक सम्बन्ध निकटतर और स्नेहपूर्ण हो गया। 'थ्री मस्केटियर्स' जो कि चार थे, व्यवसाय में अग्रस्थान प्राप्त करने लगे।

उसी समय से विकाजी तारपुरवाले के साथ मैत्री हुई। परन्तु मैत्री-विकास का समय १९२२ के बाद का है।

सत्रह

राजाबहादुर शिवलाल मोतीलाल का, जो दक्षिण हैदराबाद के धनाढ्य थे, स्वर्गवास हो गया; और उनके पुत्र राजाबहादुर बंसीलाल और उनके दो पौत्रों में झगड़ा शुरू हो गया। राजाबहादुर की करोड़ों की मल्कियत थी। वह हाईकोर्ट के रिसीवर के हाथ में आई।

काका के भतीजे नरुभाई (नर्मदाशंकर), राजाबहादुर बंसीलाल के बालिग पुत्रों के सालिसिटर थे। प्रतिवादी—राजा बंसीलाल और बालिग पुत्रों की ओर से दावे की तैयारी करने का भार नरुभाई के हिस्सेदार मंचेरशा पर पड़ा।

मंचेरशा एक दृष्टि से मेरे अनुभव में बड़े-से-बड़े सालिसिटर थे। उन्होंने सालिसिटर की कला को अपूर्वता प्रदान की है। मंचेरशा जब दावा हाथ में लेते, तब वस्तुस्थिति, कानून, जाँच-पड़ताल, प्रत्येक अंग

की सम्पूर्ण तैयारी करते। इसकी वह परवाह नहीं करते थे कि दावा कितनी रकम का है। उससे कितनी कमाई होगी, इसकी भी चिन्ता वह नहीं करते थे। १९१५-१६ से उन्होंने मुझे रगड़ना शुरू किया और राजाबहादुर के मुक़दमे में उन्होंने मुझसे खूब काम लिया।

उन दिनों के बाद से मंचेरशा का और मेरा सम्बन्ध केवल सालिसिटर का या मित्रता का नहीं रहा। आज भी वे मेरे प्रति ऐसा सद्भाव प्रदर्शित करते हैं मानो मैं उनका पुत्र हूँ। मैं जब असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में जेल जाने को तैयार हुआ, तब उनकी वृद्ध आँखों से टप-टप आँसू गिरते मैंने देखे थे।

राजाबहादुर की मल्कियत में अपार सम्पत्ति थी और अनेक पक्ष-कर्ताओं में ज़िद भी अपार थी। परिणामस्वरूप ज़रा-ज़रा-सी बात पर अरज़ियाँ होतीं, बड़ी-बड़ी फीसें दी जातीं। अरज़ी बड़े-बड़े दिनों तक चलतीं, अपीलें होतीं, कानून के विषयों की छानबीन होती और सैकड़ों गिनियों के प्रोत्साहन से वे कोर्ट में उपस्थित होतीं।

इन अरजियों में राजा बंसीलाल की ओर से जमशेद कांगा हाज़िर थे और १९२१ में बालिग पुत्रों की ओर से मैं उपस्थित हुआ। यह दावा १९२२ के अक्तूबर या नवम्बर में न्यायमूर्ति प्रेट के पास आया। जिन्ना और भूलाभाई वादी पुत्रों की ओर से थे। कांगा राजा बंसीलाल की ओर से, काणिया और मैं बालिग पुत्रों की ओर से थे। प्रेट हमेशा हमारा मज़ाक करते। जब इस दावे की बात आती और हम अपने नाम लिखवाते, तभी वे ऐनक चढ़ाकर पूछते—

"Where is the rest of the bar?"[1]

इस दावे में मुख्य विषय यह था कि हिन्दू-शास्त्र के अनुसार पिता दो पुत्रों के साथ अविभक्त रह सकता है या नहीं। मंचेरशा की तैयारी में कोई कमी तो नहीं होती थी, पर मिताक्षर और व्यवहार मयूख के अंग्रेज़ी अनुवाद से बाहर जाने की शक्ति उनमें नहीं थी। काणिया और

---

१. शेष धाराशास्त्री कहाँ हैं?

मैंने भी खूब मेहनत की थी। ऐसे बड़े केस में उदीयमान धाराशास्त्री के अग्रस्थान पर खड़े हुए हम अग्रगण्य धाराशास्त्रियों की गणना में आने के लिए तत्पर हुए। मंचेरशा की जानकारी से बाहर एक शास्त्री की मदद से मैं भी वेदकाल से हिन्दू पिता के अधिकार क्या हैं, इसका अनुसंधान कर रहा था।

केस निकला। इस विषय पर पहले हमें बोलना था। धारपुर जैसे धर्मशास्त्र के ज्ञाता विपक्ष की सहायता में थे। कांगा ने निर्णय पर आधार रखा; मैंने पिता के अधिकार के विषय में वेद से लेकर अब तक के आधारों द्वारा अपने मंतव्य का प्रतिपादन किया। मैं दो या ढाई दिनों तक बोला हूँगा। जब मैं बैठ गया तब मेरी कठिन परीक्षा करने वाले भूलाभाई ने मुझसे जो प्रेमपूर्ण शब्द कहे, उनसे मुझे प्रतीत हुआ कि व्यवसाय की सीधी चढ़ान के ऊपरी सिरे को मैंने पार कर लिया था।

१६२२ के अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर की मेरी आमदनी इतनी अधिक थी कि वह विशुद्ध ब्राह्मण को रौरव नरक का अधिकारी बना देती।

दूसरा खण्ड

मध्यरण्य

असम्बद्ध भूमिका

पूर्वकाल में जिस प्रकार नैमिषारण्य में ऋषिगण शौनक के पास गये थे, उसी प्रकार पाठक, लेखक के पास जाकर, नम्रता से हाथ जोड़कर प्रश्न करता है—"हे लेखक, इस खण्ड का शीर्षक 'मध्वरण्य' मैंने पढ़ा। यह मध्वरण्य क्या ? यह खण्ड मध्वरण्य क्यों कहलाता है और यह शब्द इस खण्ड के नाम के रूप में क्यों व्यवहृत हुआ है ?"

लेखक ने—जिसका हृदय पाठक की इस जिज्ञासा से आर्द्र हो गया है—उत्तर दिया—"हे वत्स, राम और सीता के संस्मरण जिसमें अब तक ताजे हैं, वह सुभग दण्डकारण्य जहाँ आरम्भ होता है, उस पुण्यभूमि में मध्वरण्य नाम का गिरिग्राम स्थित है, ऐसा अनेक लोग मानते हैं और अनेक नहीं मानते।

---

१. इस खण्ड को लिखते हुए, यह विनोदपूर्ण लेख मौज में आकर लिख गया। इसे पढ़कर यदि पाठक के कोमल हृदय को ठेस पहुँचे, तो उसके लिए क्षमा माँग लेता हूं; परन्तु इसे यह समझकर यहाँ प्रकट करता हूँ कि इसका स्थान इसी स्थान पर हो सकता है।

"इस रमणीक गिरिग्राम पर से सागर और सह्याद्रि दोनों के सुभग दर्शन होते हैं। अलकापुरी से भी रम्य मुम्बापुरी से यह बहुत निकट है। और आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी, ये तीन प्रकार के लोग इसका आश्रय लेते हैं।"

यह सुनकर पाठक की आतुरता बढ़ती है। वह पूछता है—"हे लेखक, गिरिग्राम मध्वरण्य कहलाता है?"

वह लेखक, जिसके मुख पर उदारतापूर्ण हास्य प्रसरित है, उत्तर देता है—"हे पाठक, मध्वरण्य शब्द 'मधु' और 'अरण्य' इन दो शब्दों की संधि से बना है और इसका अर्थ होता है—मीठा अरण्य।

"यह गिरिग्राम मीठा अरण्य क्यों कहलाता है, इसके अनेक कारण हैं; हे वत्स, तू उन्हें जान। इस अरण्य में मधु बहुत होता है। चारुलता[1] नाम की अप्सरा के स्नान से सुन्दर बना हुआ वहाँ के सरोवर का पानी है। मानो उस अप्सरा के चारु अंगों का माधुर्य ही प्रवाही स्वरूप पा गया हो, इस प्रकार वह पानी मधुर है।

"हे वत्स, वहाँ समीर की लहरें भी मीठी आती हैं। इसके अतिरिक्त हे तात, यह अरण्य मधु से भी मीठा है, कारण कि वहाँ हरे-हरे बड़े वृक्षों ने मण्डप की रचना की है। वहाँ डोलते हुए कुसुमों से भरपूर झाड़ियों में वनदेवियों के सुकुमार पदस्पर्श के लिए निर्मित अस्पष्ट-सी सीढ़ियाँ हैं। वहाँ सुमधुर पक्षी विरही हृदय में रस-कुहुक की प्रतिध्वनि करते हैं।

"हे वत्स, वहाँ मरुत गह्वरों में मृदु संगीत बहाते हैं और सारी सृष्टि वहाँ गान-मुग्ध होकर डोलती है। वहाँ कभी-कभी नीचे तलहटी में ग्वाले की बाँसुरी, जमुना के उस पार बजती हुई राधा को रिझाते हुए नटवर की वंशी के समान, अपनी मोहक ध्वनि से संध्या की आह्लादकता को उत्तेजित करती है।"

पाठक यह सब मुग्ध होकर सुनता रहता है, परन्तु वह इस प्रकार

---

१. Charlotte Lake

पूछता है जैसे अभी उसकी जिज्ञासा की संतुष्टि नहीं हुई—"इस अरण्य को मध्वरण्य क्यों कहा गया है, इसके और भी कुछ कारण हैं ?"

"हे वत्स, हे तात, तू चित्त लगाकर श्रवण कर ! जिस समय इस खण्ड का आरम्भ होता है, उस समय इस कथा का नायक इसी मध्वरण्य में उत्साह से पागल बनकर मुम्बापुरी की ओर बढ़ने के लिए तत्पर खड़ा हुआ है।

"१९१४ में, हे विशाल-बुद्धि पाठक, इस नायक ने इसी रमणीक स्थान पर रहकर 'वेरनी वसूलात' का अधिक भाग लिखा, और उसके स्मरण में जगत और रमा के प्रणय की पूर्णाहुति[1] इसी स्थान के अद्भुत-से 'पंखीवन'[2] में की।

"हे वत्स, इसके पश्चात् प्रतिवर्ष मई, अक्तूबर और दिसम्बर में यह नायक वहाँ स्वास्थ्य प्राप्त करता रहा; इसने शक्ति और शान्ति के जप किये, मौजें कीं और मित्र बनाये; साथ-साथ आदर्श सेवन के लिए प्रयत्न किये।

"१९१५ के मई मास में 'कोनो वाँक' उपन्यास इसी स्थान पर लिखा गया। अक्तूबर मास में 'पाटणनी प्रभुता' लिखा गया। १९१६ में 'गुजरातनो नाथ' भी यहीं लिखा गया। १९१९ में 'पृथ्वीवल्लभ' की रचना हुई।

"हे तात, १९२१ के मई मास में इसी 'पंखीवन' में बैठकर उसने भावनात्मक अपूर्वता को जीवन का सिद्धान्त बनाया और उसके 'बल-वर्धन'[3] नामक शृंग पर बैठकर भगवान् व्यास की 'शतसहस्री संहिता' का पाठ आरम्भ किया।

"और हे वत्स, इसी रमणीक मध्वरण्य के पंखीवन में बैठकर १९२२ के अक्तूबर में इस नायक ने भगीरथ संकल्प किया, जिसके फलस्वरूप

---

१. मुन्शी-कृत 'वेरनी वसूलात'।

२. Birdwood Point.

३. Belvedere Point.

उसका सारा जीवन परिवर्तित हो गया।

"और १९४२ में यह खण्ड भी, अथ से इति तक वहीं लिखा गया है। हे वत्स, उसे यहां मधु से भी अधिक मधुर अनुभव हुए थे, इस कारण इस अरण्य का नाम मध्वरण्य रखा गया है। परन्तु हे तात, अल्पज्ञ इसे माथेरान कहते हैं।"

विस्मित होकर पाठक स्वस्थता रखने में अशक्त होकर ऊँचे स्वर से बोल उठता है—"तो आप भी इसे माथेरान क्यों नहीं कहते ?"

गाम्भीर्य से अचल-सी मुखमुद्रा में लेखक ने इस प्रकार कहा, जैसे कृपा कर रहे हों—"शान्तम् प्रश्नम् ! यह नाम 'स्तालिन[1]-न्याय' के अनुसार रखा गया है, यह तुम्हें मालूम होना चाहिए।"

पाठक ने उत्सुकता से पूछा, "हे लेखक, यह 'स्तालिन-न्याय' क्या है, यह मुझे विस्तार से सुनाइए।"

"हे तात," लेखक ने कहा, "पूर्व-काल में एक विज्ञान-शास्त्री ऋषक[2] देश के मूषकपुर[3] में स्तालिन नामधारी सर्वसत्ताधिकारी से मिलने गये।

"वे विज्ञान-शास्त्री पहले स्तालिन के विद्यामंत्री से मिले। विद्यामंत्री ने अपनी पुस्तकों को खड़ी करके एक लाइन में जोड़ने के बदले एक के ऊपर एक रखकर जोड़ा हुआ था। उन विद्यामंत्री को जब एक पुस्तक की आवश्यकता हुई, तब उन्होंने उन जोड़ी हुई पुस्तकों में से एक खींच निकाली और परिणामस्वरूप उसके ऊपर रखी हुई सारी पुस्तकें नीचे आ गिरीं।

"इस विचित्र पद्धति से विस्मित होकर उन विज्ञान-शास्त्री ने पूछा कि, हे मंत्रिवर, पुस्तकालय में जिस प्रकार खड़ी करके पुस्तकें रखी जाती हैं, उस प्रकार आप भी रखें, तो इस प्रकार एक पुस्तक निकालने से

१. Stalin स्तालिन।

२. Russia रूस।

३. Moscow मास्को।

अन्य पुस्तकें कभी न गिरें। और आप इन सबकी सूची कैसे बनाते है ?"

मंत्रिवर ने उत्तर दिया, "हे विद्यानिधि ! ये पुस्तकें मेरी हैं, और मैं उन्हें जिस प्रकार चाहूँगा, उस प्रकार रखूँगा।"

विचार-ग्रस्त विज्ञान-शास्त्री वहाँ से स्तालिन के अर्थमंत्री के पास गये। उन मन्त्री ने अपने खण्ड में मिलने आने वालों के लिए बारह कुरसियाँ अपने सामने नीचे जुड़वाने के बदले छत के साथ लटकाई हुई थीं; और शास्त्री ने देखा कि जितनी कुरसियों की आवश्यकता होती थी, उतनी बटन दबाकर नीचे उतारने की यांत्रिक योजना वहाँ काम में लाई गई थी।

शास्त्री के मुख पर विस्मय छा गया। उन्होंने पूछा, "हे मन्त्रिवर, कुरसियाँ भूमि पर रखने के बदले इस प्रकार छत पर क्यों लटकाकर रखते हैं ? इससे आपको कठिनाई भी होती है और बिजली की शक्ति का अपव्यय भी होता है।"

मन्त्रिवर ने उत्तर दिया, "ये कुरसियाँ मेरी हैं और मैं इन्हें जिस तरह चाहूँ, रख सकता हूँ।"

विस्मय में डूबे हुए वे पण्डित वहाँ से सर्वसत्ताधिकारी स्तालिन के खण्ड में गये। बात करने के पश्चात् शास्त्री ने हाथ जोड़कर कहा, "हे प्रभो, आपके राज्य में सब अच्छा है, परन्तु आपके ये दो मन्त्रिगण पुस्तकें और कुरसियाँ जिस प्रकार रखते हैं, उसे देखते हुए मुझे उनमें कार्यदक्षता के चिह्न नहीं दीख पड़ते।"

सर्वसत्ताधिकारी ने उत्तर दिया, "हे शास्त्री, ये दोनों मन्त्री मूर्ख हैं, यह तुम्हें जान लेना चाहिए।"

शास्त्री ने तुरन्त प्रश्न किया, "हे प्रभो, यदि ये मूर्ख हैं, तो आपने किस लिए उन्हें मन्त्री-पद पर रखा हुआ है ?"

सर्वसत्ताधिकारी हँस पड़े और प्रत्युत्तर दिया, "हे विद्यानिधि ! ये मूर्ख मेरे हैं और मैं उन्हें जहाँ उचित जान पड़े, रख सकता हूँ।"

"हे पाठक," लेखक ने कहा, 'स्तालिन-न्याय नाम से जगत् की

मीमांसा में यह एक नवीन न्याय इस लोकशासन के युग में सर्वमान्य हुआ है और उस न्याय के आधार पर इस खण्ड का नाम मैं माथेरान न रख-कर मध्वरण्य रख सकता हूँ।"

"वह किस प्रकार ?" नम्रता से पाठक ने पूछा।

"हे पाठक, इस 'स्तालिन न्याय' के अनुसार यह आत्मकथा मेरी है और यह खण्ड भी मेरा है, इसलिए मैं इसे जो ठीक समझूँ, कह सकता हूँ।"

इस न्याय की गहनता को परखने में असमर्थ पाठक पुनः पूछता है, "हे लेखकवर, इस कारण से मुझे संतुष्टि नहीं हुई। सबके समझने योग्य माथेरान शब्द क्यों व्यवहृत नहीं किया, इसका मुझे संतोषजनक उत्तर देने की कृपा कीजिए।"

लेखक सस्मित वदन से कहता है, "मैं जान गया कि यह प्रश्न तुम्हें अब तक परेशानी में डाले है कि मैं इस खण्ड को मध्वरण्य किसलिए कहता हूँ। हे वत्स, मैं इसका प्रत्युत्तर दे सकता हूँ।"

"क्या ? वह जो भी हो, तुरन्त कहिए," हाथ जोड़कर पाठक ने कहा।

"प्रिय वत्स, कुपित नाग को सिर पर रखा जा सकता है, रेत से तेल निकाला जा सकता है, परन्तु हे वत्स, अनेक को संस्कारी और असंस्कारी शब्दों के बीच का भेद समझाया नहीं जा सकता।"

वह प्रबुद्ध पाठक, जिसके हृदय के संपूर्ण संशय इस उत्तर से नष्ट होते हैं, वहाँ से लुप्त होता है और मध्वरण्य नामक यह खंड अब आगे चलता है।

१९१३-१९२२

मध्वरराय

चन्द्रशंकर, मास्टर और कांतिलाल पंड्या मुझे गुजराती में लिखने के लिए प्रेरित किया करते थे, परन्तु मेरी हिम्मत नहीं पड़ती थी। मैं स्कूल में गुजराती नहीं पढ़ा था। बचपन में मैंने 'सरस्वती-चन्द्र' का पहला भाग, नारायण हेमचन्द्र के कई अनुवाद और अन्य अनेक उपन्यास आदि पढ़े थे। १९११ में 'कलापी नो केकारव' और कवि नानालाल का 'वसंतोत्सव' बड़े रसपूर्वक पढ़े थे। इसके अतिरिक्त बाकी गुजराती साहित्य मैंने नहीं पढ़ा था। गुजराती में एक अच्छा-सा पत्र तक मैं नहीं लिख सकता था; फिर भी १९११-१२ से मनु काका को गुजराती में पत्र लिखने का कार्य मैंने आरम्भ किया।

१९१२ में चन्द्रशंकर मेरे पीछे पड़े। वे मुझे हमेशा रमेशचन्द्रदत्त का उदाहरण दिया करते। मेरे ही समान कठिनाई अनुभव कर रहे दत्त से किसी बंगाली लेखक ने कहा था कि तुम जो बंगाली भाषा लिखोगे, वह अच्छी मानी जाएगी; और इस सलाह से प्रेरित होकर दत्त ने मातृ-भाषा में लिखना आरम्भ किया था।

जब-जब मुझे किसी भी प्रकार का तीव्र उद्वेग होता था, तब-तब उसके सहारे से कोई काल्पनिक प्रसंग खड़ा करके उसे लेखन द्वारा व्यक्त

करने की मुझे बचपन से आदत थी, परन्तु वह अंग्रेज़ी में ही। १९१२ के जून या जुलाई में जब मुझे ऐसा उद्वेग हुआ, तब गुजराती में वह व्यक्त हो सकेगा या नहीं, इसका प्रयोग करने के लिए मैंने 'मारी कमला' नामक संक्षिप्त कहानी लिख डाली। चन्द्रशंकर ने उसकी प्रशंसा की और भाषा शुद्ध करके 'स्त्री-बोध' में छपने के लिए भेज दी।

उस कहानी का कैसा स्वागत होगा, इसके लिए मुझे बहुत ही चिन्ता हो रही थी। परन्तु चन्द्रशंकर मुझे लगातार प्रोत्साहन देते रहे। १९१२ की ९ अगस्त को शोलापुर से उन्होंने मुझे अंग्रेज़ी में लिखा—

'इतनी सुन्दर गुजराती लिखने में तुमने जो सफलता प्राप्त की है, उसके लिए मैं तुम्हें हार्दिक बधाई देता हूँ। तुम्हारी शैली तुम्हारी अपनी है। और थोड़े लेख लिखोगे, तो गुजरात को मालूम हो जाएगा कि तुम्हारी शैली कितनी सरस है। तुम्हारी शैली सरल और अर्थवाहक है। तुम्हारा सुन्दर शब्द-संग्रह और छोटे वाक्य तुम्हारी शैली को अधिक आकर्षक बना देते हैं। और कुछ नहीं तो जिस छटापूर्ण शैली में तुम अपने विचार व्यक्त करते हो, उसी के लिए मैं तुमसे विनती करता हूँ कि तुम अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य की सेवा करो···केवल तुम्हारी शैली ही सुन्दर नहीं, कहानी कहने की तुम्हारी कला भी असाधारण है···'

गुजरात में उस समय एक प्रखर और लगन वाले साहित्यकार थे, जो गुजराती साहित्य की रग-रग से परिचित थे। उन्होंने साहित्य-सेवा में ही जीवन की सार्थकता समझी थी। उन्होंने 'स्त्री-बोध' में छपी हुई 'घनश्याम व्यास' की कहानी पढ़कर उस 'व्यास' का पीछा किया। यह नया लेखक है कौन? पुराने लेखकों में से कोई नहीं लिख सकता। उन्होंने 'स्त्री-बोध' में तलाश की और चन्द्रशंकर का पता प्राप्त किया। फिर चन्द्रशंकर को साथ लेकर वे मेरे पास आये।

नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया मेरे कमरे में! मैंने उनका सत्कार किया। नरसिंहराव भाई ने मुक्तकण्ठ से गुजराती साहित्य-क्षेत्र में मेरा

स्वागत किया। उन्होंने मेरी शैली की विशिष्टता पर ज़ोर दिया। मेरी शैली के मुख्य अंग अंग्रेज़ी शैलीकारों के अध्ययन से उत्पन्न हुए हैं, यह उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से छिपा नहीं था। इस आकस्मिक मुलाकात से मुझमें बड़ी हिम्मत आ गई और इससे एक अमूल्य स्नेह-सम्बन्ध की नींव पड़ी।

कहानी-लेखक के रूप में, मेरी सृजन-कला के तीन प्रकार मुझे दिखाई देते हैं। पहले प्रकार में मैं केवल आत्मकथन करता; अपना अनुभव किया हुआ दुःख या सुख वर्णन करता। दूसरे में मैं अपने किसी अनुभव को पहले कल्पना में एकत्र करके, बाद में उसे मूर्तिमंत करते हुए काल्पनिक व्यक्ति या प्रसंग का सहारा लेकर कहानी लिखता। तीसरे प्रकार में बिना अनुभव की हुई मनोदशा गढ़कर, कल्पना से उसका अनुभव करके उस पर मुख्य पात्र या प्रसंगों की रचना करता।

'मारी कमला' से मैंने पहला प्रकार आरम्भ किया; इसी में मैंने 'कोकिला', 'वेरनी वसूलात' (१६१३-१४) और 'कोनोवांक' (१६१५-१६) लिखे। 'पाटणनी प्रभुता' से मैंने दूसरा प्रकार आरम्भ किया। 'पृथ्वीवल्लभ' में पहला' प्रकार ही मुख्य है। 'भगवान कौटिल्य (१६२४-२५) से मैंने तीसरा प्रकार अपनाया। 'जय सोमनाथ' (१६३४-३७) में मुझे इसकी प्रबलता दिखाई देती है।

'मारी कमला' लिखने से मुझे नया भान हुआ। जब मैं अंग्रेज़ी को अपने कथन का वाहन बनाता, तब मेरी रचना शब्दाडम्बर से घुट जाती; मेरी आत्मा सरलता से प्रकट नहीं हो पाती। जाज्वल्यमान शब्दों के प्रवाह में कथन की सरलता और भाव की सूक्ष्मता दोनों दब जाते। 'मारी कमला' लिखते हुए मेरी अविकसित गुजराती में भी शब्द गौण बन गए। भावना और कल्पना-चित्र मुझ पर अधिकार जमाकर मुझे शब्दों की प्रेरणा देने लगे। यह सत्य मेरी समझ में आया कि अपनी मातृभाषा द्वारा ही अपना जीवन ठीक-ठीक व्यक्त होता है। और तभी रचना सरल, प्रभावकारी और कलात्मक भी बनती है।

अगस्त मास में मैंने 'भार्गव' त्रैमासिक निकाला। उसके लिए लिखना, आये हुए लेख सुधारना और प्रूफ़ देखना आदि काम दलपतराम के और मेरे सिर पड़े। परिणामस्वरूप गुजराती लिखने और सुधारने का मुझे अभ्यास होने लगा। संपादक के रूप में मेरी लिखी हुई पहली टिप्पणी इस प्रकार थी—

"संभवतः इस त्रैमासिक के विषय में कई प्रकार के मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं। अनेक लोगों को इसकी आवश्यकता नहीं मालूम होगी। अनेक को अपने हास्य और कटाक्ष का कारण इसमें दीख पड़ेगा। अनेक इससे होने वाले लाभ के प्रति निराशा प्रकट करेंगे। ऐसे सज्जनों से हम नम्रतापूर्वक कहेंगे कि अच्छे काम में पहले ही गन्दे भविष्य का विचार करना ज़रा अनुचित-सा है। प्रत्येक कार्य निर्विघ्न पूरा नहीं होता।

"इस त्रैमासिक जैसे प्रयास को आजकल के ज़माने में शायद ही कोई निरर्थक समझेगा। जब तक मनुष्य शब्दोच्चारण करने की शक्ति प्राप्त न कर ले, जब तक दृढ़ विचार करके अपनी बुद्धि को प्रकाश में नहीं लाए, तब तक वह पशुओं की अधमता से बाहर निकला हुआ नहीं माना जाएगा। बोलना, विचार प्रदर्शित करना, मनुष्य का पहला भूषण, मनुष्यता का पहला अधिकार, और उच्च जीवन का पहला कर्तव्य है।"

ये वाक्य स्पष्ट रूप से अंग्रेजी वाक्यों का संस्कृत शब्दों में और भड़ौंच की अशुद्ध गुजराती में मस्तिष्क का अनुवाद किये हुए हैं। परन्तु कुछ महीनों में इन सम्पूर्ण तत्वों का समन्वय हो जाता है।

'अपनी रसेन्द्रियों के इस जन्म में परितुष्ट न होने से अगले जन्म में स्वर्ग के कल्पित सुखों पर अपना अधिकार रखकर बैठे हुए लोग; समझे बिना ही सवेरे के समय संध्या का झूठा आडम्बर रचकर, गोमुखी में हाथ डालकर, गाँव-भर की पंचायत करके ईश्वर को धोखा देकर भूले-चूके मोक्ष पाने की आशा रखने वाले; गीता का गड़बड़ पाठ करके, कर्मयोग का एक अक्षर भी समझे या उसके अनुसार आचरण किये बिना योगी कहलाने वाले; पैसे देकर, ब्राह्मण को भोजन कराके अथवा जीवन-भर

अनाचार करके मरते समय चार पैसे दक्षिणा देकर या मन्दिर बनवाकर पुण्य खरीदने वाले सचेत मारवाड़ी—इन सब लोगों को बुद्ध का शासन ज़रा कठोर मालूम होगा । आजकल हम धर्म के नाम पर अनेक बुराइयाँ होते देखते हैं और कायरता से आँखों पर पट्टी बाँध लेते हैं । अर्थहीन शुष्क मंत्रों में, बिना समझ की विचित्र विधियों में पैसे खर्च करके पुण्य संचय करने में, या आँख बन्द करके सब-कुछ स्वीकार करने में मोक्ष नहीं है; इस जन्म में या अगले जन्म में इससे सिद्धि नहीं मिल सकती !'[1]

इस प्रकार अपनी शैली बनाने के प्रयत्नों से अन्त में मेरी शैली जमने लगी ।

१६१३ के 'गुजराती' के 'दीवाली अंक' के लिए 'कोकिला' लिखकर मैंने आत्मकथन का दूसरा मनका फेरा । इसमें कथन की सरलता और प्रभावकारिता सिद्ध करने की कला का विकास दृष्टिगोचर होता है ।

'जब मैं कॉलेज में थी, तब सुखी थी । उस समय मेरा एक मित्र था । उसकी मोहक छवि, बाहर से दीखने वाला स्नेही स्वभाव, सुन्दरता से पूर्ण और अनेक बार बड़े भोलेपन से बोलने की रीति, इन सब बातों से मेरा अनुभवहीन हृदय वशीभूत हो गया । हम साथ-साथ घूमते और साथ-साथ पढ़ते । मेरी बुद्धि और शक्ति सबल थी, हृदय प्रणयी था, उसने उसे प्रभु बनाया ।'

'किशोरलाल ! मैं अभिमान नहीं करती; परन्तु मेरी भावनाएँ अपूर्व थीं । उन्हें शायद ही कोई प्राप्त कर सकता । मेरा वह देव इस उपहार के योग्य नहीं था, पर मैं अन्धी थी और उसे सब बातों से पूर्ण समझती थी···जब मैं उच्च भावना के व्योम में विहार करती, तब मेरे भविष्य के भर्त्ता, जिह्वा के रस या शरीर के आराम की खोज में व्यस्त रहते । मैं अपने कल्पना-संसार से जाग पड़ी । मैंने आँखें खोलकर अपने देव के इन रंगों को परखा । हे भगवान्, उस दिन के दुःख की कुछ भी स्मृति मन में

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो', गौतम बुद्ध, पृष्ठ १३-१४ ।

आते ही मेरा जीवन विष हो जाता है।'[1]

मेरी कल्पना ने मित्र-वियोग का विष भी रचना द्वारा उतारा।

दो

'गुजराती' साप्ताहिक में एक धारावाही उपन्यास निकला करता था, और दीवाली पर एक उपन्यास की पुस्तक उसके ग्राहकों को भेंट दी जाती थी। गुजराती उपन्यासों की परीक्षा करने में 'गुजराती प्रेस' के संचालक बड़े सतर्क माने जाते थे।

१९१४ के आरम्भ में अम्बालाल जानी ने मुझसे 'गुजराती' में धारावाही कहानी लिखने का आग्रह किया। पहले तो मेरी हिम्मत नहीं पड़ी; परन्तु फिर कालम के चौदह आने छोड़ना मुझे भला न लगा। इसलिए कहानी लिखने का निश्चय किया और 'वेरनी वसूलात' का पहला खंड लिखकर अंबालाल भाई को दिया। 'गुजराती' के संपादक ने उसे स्वीकार किया और उस साप्ताहिक में १९ अगस्त से 'वेरनी वसूलात' धारावाही कहानी के रूप में प्रकाशित होने लगा।

मेरे इस प्रथम प्रयत्न का प्रारम्भ में ही स्वागत हुआ। लेखक के रूप में मैं अपना नाम गुप्त रखना चाहता था; कारण कि यदि जमीयतराम काका और अन्य सालिसिटर यह जान जाएँ कि मैं कहानी लिखने में समय बिताता हूँ, इसलिए व्यवसास में ध्यान नहीं देता हूँगा, तो वे ब्रीफ़ देना बन्द कर देंगे। परन्तु काका के दरबार के सूरती सालिसिटर 'तनमन' से प्रसन्न हो गए थे। प्रति सोमवार को जब 'गुजराती' में पिछले सप्ताह प्रकाशित हुई मेरी कहानी की वहाँ चर्चा होती, तब अपने प्रयत्न की प्रशंसा मैं मूक-भाव से सुना करता। उस कहानी ने काका और पकवासा के समान वृद्ध दुनियादारी में रमे हुए व्यक्तियों का मन भी हर लिया।

एक मित्र की स्त्री ने उस कहानी को बहुत अधिक मान दिया। उनके

---

१. मुन्शी-कृत 'नवलिकाओ' ('मारी कमला अने बीजी वातो' का नया संस्करण) 'कोकिला', पृष्ठ ३६-३७-३८।

अंतिम दिन बीत रहे थे। पूरी कहानी पढ़ने से पहले ही कहीं उनकी मृत्यु न हो जाए, इस विचार से वे मित्र उस कहानी के शेष भाग की हस्तलिपि लेने मेरे पास आये।

'वेरनी वसूलात' केवल उपन्यास ही नहीं, वरन् वह मेरे आत्म-विकास का एक सीमा-चिह्न है। इसमें केवल स्वानुभव ही नहीं, परन्तु आबदार स्वानुभवों का आलेखन है। यह सुन्दर कल्पना-सृष्टि यदि सच्ची होती, तो मैं कैसा होता; मेरी अपूर्ण आकांक्षाएँ पूर्ण हुई होतीं, तो मैं सृष्टि कैसे रचता; वैराग्य प्राप्त करने के मेरे सारे प्रयत्न सफल हुए होते, तो मैं कैसा होता, इन सबका वह चित्र है। उसमें 'अरविन्द घोष' के स्पर्श और गीता के अध्ययन से स्रजन की हुई मेरी आर्यत्व की भावना 'अनंतानंद' के रूप में मूर्त हुई है। मुझे किसी गुरु की चाह थी, उसे मैंने 'जगत' को गुरु देकर पूर्ण किया।[1]

योग में एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा योगी अपनी असंतुष्ट आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए इसी जन्म में दूसरा स्वरूप धारण करके उन आकांक्षाओं को सन्तुष्ट कर सकता है। इसी प्रकार मैंने अपने पिछले नौ वर्षों की भावतरंगों और अनुभवों को इस कल्पना-संसार में व्यक्त करके उस असंतोष को दूर किया।

१९१४ के सितम्बर की १२ तारीख को मैंने वह उपन्यास सम्पूर्ण किया और निम्न विचार अंकित किया—

"छः महीने के परिश्रम के पश्चात् अपना बड़ा उपन्यास सम्पूर्ण करने का सौभाग्य मुझे मिला है। सूक्ष्मतम भावों की तरंगें और कल्पना-सृष्टि

---

१. 'वेरनी वसूलात' जिन लोगों ने नहीं पढ़ा, उनके लिए : 'जगत' बचपन में बालिका 'तनमन' से प्रेम करता है। तनमन के मरने पर वह पागल हो जाता है। स्वामी अनन्तानन्द उसे बचाते हैं; उसे गीता का आदेश और देश-भक्ति की शिक्षा देते हैं। अन्त में वह राजनीतिज्ञ रघुभाई की पुत्री रमा से विवाह करता है और रत्नगढ़ का दीवान बनता है।

के विहार इस प्रकार पूर्ण हुए, जैसे बीते जन्म के सुखद स्मरण हों—दूसरों के लिए असत्य और मेरे लिए सत्य। पिछले कई हफ्तों से मुझे निस्तेज परन्तु सुन्दर रमा दीख पड़ रही है—अवास्तविक सृष्टि के उस पार से; घूमती-फिरती, बातचीत करती हुई; यह विचार करती हुई कि जगत भूमि पर सोए, तो उससे बिस्तर में सोया जाएगा या नहीं; कुन्दन भाभी से खाना पकाना सीखती हुई। मैं बेचारी गरीब शिरिन को देखता हूँ—एल्फिस्टन कॉलेज में जाते हुए, अकेले, स्वजनहीन, गंभीर; और मेरा हृदय भारी हो जाता है। मैं जगत के दृढ़ कदम, शिष्ट आवाज़ और शुष्क जीवन को देखता हूँ; और देखता हूँ अक्खड़ और उद्दण्ड रामकिसन को—रत्नगढ़ के युवक नरेश रणुभा को अपने स्वर्गीय स्वामी के तरीकों पर चलाते हुए; आनंद से उछलता हुआ बाल अरुण, 'भाई' और 'रमा बहन' के साथ दौड़-भाग करता हुआ।

"मैं जगत को देखता हूँ—इस प्रकार, मानो वह मैं स्वयं ही हूँ—उन्नत मानवता के पंखों पर उड़ते हुए; 'अनन्त-मण्डल' को कीर्ति के और देश-भक्ति के पथ पर ले जाते हुए; अनन्तानन्द के महान् भारत के स्वप्न को सिद्ध करते हुए। यह सब मेरे लिए सत्य है; अपने वास्तविक जीवन से भी अधिक सत्य। इसे लिखते हुए मैंने जो आनन्द अनुभव किया, वैसा आनन्द मैंने कभी अनुभव नहीं किया। यह सृष्टि ऐसी जीती-जागती बन गई है कि मैं आधी नींद में यह विचार कर रहा था कि कल सवेरे मैं त्योहार की बधाइयाँ किन पारसी मित्रों को दूँ तो विचार-ही-विचार में शिरिन सजीव हो गई—विवाह को भावना-सम्बन्ध मानती हुई; जिसे पति समझा था, उसे गुरु स्वीकार करती हुई। उस बहादुर प्रणयिनी को भी मैंने इस सूची में जोड़ लिया।

"मेरे लिए यह बहुत बड़ा प्रयत्न कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त उसमें आत्मकथा के परिच्छेद हैं, आत्मलक्षी प्रसंग भी हैं, मेरी व्यक्तिगत भावनाएँ भी हैं, और इससे यह कहानी मुझे बहुत प्रिय मालूम होती है।

"आत्मकथन करने का यह प्रयत्न तब आरम्भ किया था, जब एक

मित्र के किये हुए विश्वासघात के कारण आत्मा को संयत करने वाली गीता का उपदेश स्वीकार किया था। अब मुझे पहले की तरह आत्मकथन की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पहले मैं ऐसा लिखता था, जैसे कोई संयमहीन अरण्य में क्रन्दन कर रहा हो; अब उसके स्थान पर स्वस्थ कथन कर सकता हूँ। सिर फोड़ डालने की वृत्ति को प्रबल होने दिए बिना अब मैं प्रिय वस्तु की बात कर सकता हूँ। अपनी उद्वेग-कथा मैं स्थिरता और शान्ति के साथ लिख सकता हूँ। वैराग्य साधने के अपने प्रयास के बिना यह कभी सम्भव न होता। इस प्रकार आत्म-संरक्षण की वृत्ति से स्वीकार किये हुए और बुद्धि द्वारा गौरवपूर्ण माने हुए गीता के आदेश के अनुसार ही मैं एक कदम आगे बढ़ा—या पीछे हटा।

"तीन विभागों में बँटी हुई इस कहानी के पहले दो भागों में आत्म-कथा का समावेश है, परन्तु तीसरे भाग के विषय में स्पष्ट करना पड़ेगा। तीसरे भाग का जगत मैं स्वयं हूँ; परन्तु आदर्श के चित्रपट पर चित्रित स्वप्नचित्र के समान, जिसकी सिद्धि अनन्तानन्द और रमा के प्रभाव में सदा असाध्य है—नि:श्वास छोड़कर मृगजल की ओर जाने के समान।

"शिरिन एकदम काल्पनिक है—रमा का बुद्धि-प्रधान अर्धभाग, जिसे मैं प्रणयहीन विवाह के गढ़े में नहीं डाल सका; इससे तो उसका हृदय ही टूट जाता। रमा भी काल्पनिक है। आजकल की हिन्दू बालिका के सीता और सावित्री द्वारा रचित मानव-बिम्ब में—जिसके लिए मृदुता, नम्रता और आत्म-समर्पण सरलता से साध्य हैं—तेजस्वी स्त्रीत्व ऐसा ही रहेगा। सशक्त और वीर मानवता, वैराग्य-प्रधान मनोदशा का अभ्यास करने के पश्चात्, ऐसी ही कन्या के साथ मेल खा सकती है। रघुभाई की उस क्षीण और सुकुमार पुत्री के साथ जगत की तरह मैं भी प्रेम करने लगा हूँ। आज मेरा हृदय मग्न हो गया है, फिर भी यदि इस प्रकार की युवती मेरे साथ हो, तो मैं भी जगत् के साथ सन्धि कर लूँ।

"रघुभाई की रेखाएँ ऐसी हैं कि तुरन्त पहचानी जा सकें। प्रत्येक पाप करने पर भी टूटे-फूटे गौरव को धारण करतीं, झूठी मुस्कान और

असत्य शब्दों से नीच और स्वार्थी खिलाड़ीपन को ढकती हुई पुराने जमाने की प्रतिष्ठा की वे मूर्ति हैं। श्यामलाल के समान अत्याचारी, लोभी और उद्दण्ड व्यक्ति हमारे प्रत्येक सामाजिक क्षेत्र में मिलेंगे।

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अनंतानंद का आलेखन करने में मैं पूरा सफल नहीं हो सका। अपने आदर्शों के एकीकरण की कल्पना करना सरल था, परन्तु उसे जीवित व्यक्तित्व देना कठिन हो गया। तीसरे भाग में समय और अवकाश के अभाव के कारण उस पात्र की ओर उचित ध्यान नहीं दे सका। उसके अपूर्व चरित्रांकन के मुकाबले उसका अन्त जितना भव्य होना चाहिए था, नहीं हो सका।

"यह कहानी जिसकी प्रेरणा से लिखी गई है, वह जगत की हृदयेश्वरी तनमन सुन्दरता से चित्रित हुई है। परन्तु इस चित्र से मैं असंतुष्ट हूँ। जो सत्य था उसे उचित स्थान दिया है। जो काल्पनिक भाग था, वह भी अशोभनीय नहीं है। दूसरा भाग लिखते समय मेरे उद्वेग का पार नहीं था। यही मेरा अहोभाग्य था कि मैं उसे सूखी आँखों और अभग्न हृदय से पूर्ण कर सका। परन्तु उसका प्रत्याघात कठोर हुआ।

"इस प्रकार साहित्य द्वारा हृदय खोलने की मेरी रीति के प्रति चुस्त श्रेणी के टीकाकार अप्रसन्नता प्रकट करेंगे और मेरे इस अपराध को अक्षम्य समझेंगे। परन्तु मुझे अपने-आपको बीते काल से अपना सम्बन्ध तोड़ डालने का पाठ पढ़ाना था। योगी अथवा योगाभ्यास की इच्छा रखने वाले के लिए भूतकाल नहीं होता। हृदय के रहस्य एक बार प्रकट किये कि उनका विष उतर जाता है। फिर सारा ढाँचा नीरोग हो जाता है। बचपन की मूर्खता की कुछ निजी बातें किसी कठोर-हृदय, विवेक-शून्य व्यक्ति से कह दी गई हों और वह उनका मनमाना अर्थ लगाए, उसकी मदद से मनमानी गप्पें उड़ाए और मुझ पर मनमाने आक्षेप करे, इसकी अपेक्षा यदि मैं स्वयं उन्हें दुनिया के आगे उपस्थित करूँ, तो इसमें क्या बुरा है? मैं इस प्रकार आत्म-निवेदन करूँ, वही अच्छा है। जो सत्य मैंने लिखा है, उससे मैं चिपटा रहूँगा। एक भी आवश्यक शब्द मैंने

छोड़ा नहीं है। एक भी आवश्यक प्रसंग मैं भूला नहीं हूँ। बारह वर्ष की वेदना, उद्वेग और प्रणय-द्रोह, किया अथवा नहीं किया—इसकी हृदय-वेधक या विषम आकुलता सब-कुछ पूर्ण रूप से देखते हुए मुझे लज्जित होने का कोई कारण नहीं है।

"शिरिन की तरह संसार, उसके कर्तव्य और मेरी आशाओं के भग्नावशेष ही अब मेरे हाथ में रह गए हैं; और वे भी जगत के समान गुरु की प्रेरणा से रहित। वे ही अब मेरे अपने हैं।

"और यह आधी सत्य, आधी काल्पनिक सृष्टि, जो कि मेरे लिए सदा ही सत्य है, अब सिमट गई है; इस प्रकार जैसे पूर्वजन्म खत्म हो गया हो। किसी नवीन ही सृष्टि का सृजन करने के लिए मैं अपनी निर्बल लेखनी फिर से उठाऊँगा; उसी प्रकार की कठिनाइयों के कारण जीवन में भी नई सृष्टि की रचना करनी पड़ती है।

"और कौन जाने कब, मेरा वास्तविक और काल्पनिक जगत एकाकार हो जाएगा और मुझे निर्वाण मिलेगा!

"इस प्रकार जैसे मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ मनुष्य अन्तिम बार 'राम-राम' कहता है, उसी प्रकार रत्नगढ़ में मानवता और सुकुमारता की गुथी हुई भावनाओं को मैं 'राम राम' करता हूँ। ये दोनों कल्पना-सृष्टि के सुमधुर जीवन-पथ पर जाती हैं···मेरी आँखों के आगे से अदृश्य होती हैं···और पीछे से मेरे जगत् में रह जाते हैं केवल मैं और अन्धकार!"

इस प्रकार मैंने अपने जीवन की जन्म-कुण्डली बनाई। इससे मेरा स्वभाव, मेरी अभिलाषा और मेरा भविष्य बखूबी पढ़े जाते हैं।

१९१५ की २५ जुलाई को गुजराती भाषा में यह सम्पूर्ण उपन्यास छप गया।

तीन

ज्योंही मेरी परीक्षा का परिणाम निकला त्योंही मनु काका ने मुरारजी

चाल में उसी मंज़िल पर एक खाली ब्लाक किराये पर ले लिया। मेरी नई प्रतिष्ठा को शोभा देने वाले घर के बिना कैसे काम चल सकता था? तेतीस रुपये महीने किराया। जिस दिन मैं भड़ौंच से आया, उसी दिन शाम को चोर-बाज़ार में जाकर हमने टूटा-फूटा फर्नीचर खरीदा और उसे मज़दूर के सिर पर लादकर ज्योंही हम ऊपर कमरे में घुसे, त्योंही उस नये ब्लाक की एकमात्र कुरसी पर छोटूभाई मलजी को बैठे देखा। वे मुझे बधाई देने आये थे। चोर-बाज़ार की टूटी-फूटी कुरसियों की भव्यता में मढ़ी हुई मेरी नई प्रतिष्ठा डोल उठी।

हमने नया जीवन आरम्भ किया।

जीजी माँ और लक्ष्मी आईं। फिर से हम सब मानपत्र लेने गये। मई महीने में वापस आकर जब हम शान्तिपूर्वक स्थिर होकर बैठे, तब मैंने हिसाब लगाकर देखा—कम-से-कम सवा सौ रुपये के बिना यह घर नहीं चल सकता; और ये कहाँ से लाए जाएँगे?

भड़ौंच से ज़मीन और शेयर आदि से जो रकम मिलती थी वह केवल नाम-मात्र की थी। 'वेरनी वसूलात' लिखने से महीने में पन्द्रह-बीस रुपये मिलते थे। मामा के परिचय से भड़ौंच के एक सराफ के यहाँ खाता खोलकर यह व्यवस्था की कि जब मुझे आवश्यकता हो, तब महीने में सौ रुपये वह भेज दे।

मुझे वह समय अच्छी तरह याद है। मैंने कभी खाता खुलवाकर कहीं से पैसे नहीं लिये थे। मामा के साथ सराफ के घर जाते मुझे बहुत ही शर्म आई। हस्ताक्षर करके पैसे ले तो आया, पर मुझे न जाने कब तक यह बात खटकती रही।

महीने की अन्तिम तारीख को मैं महीने का हिसाब किया करता; कितनी फीस जमा हुई, यह सोचता। घर-ज़मीन बेच दूँ तो कितने वर्ष निभा सकूँगा, इसका अन्दाज़ा लगाता और फिर भड़ौंच के व्यापारी से आवश्यकतानुसार पैसे मँगा लेता।

हर तीसरी तारीख को ब्लाक का किराया देना पड़ता था। इसलिए

एक-दो मित्रों से जब-तब कुछ रुपये लाकर तेतीस रुपये इकट्ठे कर रखता था, ताकि किराया वसूल करने वाला आये तो एडवोकेट साहब की इज्ज़त खराब न हो। इस सम्बन्ध में मेरे स्वर्गीय मित्र ठाकुरदास मुनीम मुझे अनेक बार सुविधा कर देते थे।

पिताजी की संपत्ति का अधिकांश रुपया मेरे एक दूर के मामा की सलाह से 'स्पीशी बैंक' के शेयर में रुका हुआ था। उस समय बम्बई में चुनीलाल सरैया की धूम थी। उन्होंने 'बैंक आफ़ इण्डिया' खोला और वहाँ से अलग होने पर 'स्पीशी बैंक' खोला। रोकड़ के मामले में वे बेजोड़ माने जाते थे। अपनी पूँजी उनको सौंपकर हम निश्चिन्तता से सो रहे थे; परन्तु पहले भारतीय बैंक का 'बनिया' संस्थापक, ईर्ष्या का शिकार हुआ और नवम्बर में बैंक के दिवालिया होने की अरज़ी हुई। मैंने नोट किया—

' बैंक के केस में चुनीलाल सरैया का बयान लिया गया। बादल बिखर गया। चार दिन तक वे कसौटी पर चढ़े। विरोधी सुनने वालों, क्रूर न्यायाधीश और हिंसक पशुओं के समान जाँच-पड़ताल करने वालों के सम्मुख वे स्वस्थता और निश्चिन्तता से खड़े रहे—सारी परिस्थिति का तीक्ष्ण दृष्टि से अवलोकन करते हुए।" १३-११-१९१३

"चुनीलाल सरैया के विरोध वाली अरज़ी निकल गई। अब बैंक निर्भय हुआ। चुनीलाल महापुरुष हैं। इस समय उन्होंने खूब शान दिखलाई; उनका व्यवहार शान्त और विश्वस्त था। उनके हिसाब सही-सही और उनकी युक्तियाँ अनन्त हैं। वास्तव में वे बड़े ही कुशल व्यक्ति हैं।"
२४-११-१९१३

परन्तु उन्होंने पहला बड़ा हिन्दुस्तानी बैंक खोलने का अपराध किया था, इसलिए उन्हें दबाने के अनेक प्रयत्न चलते रहे।

"चुनीलाल सरैया आज सवेरे साढ़े आठ बजे गुज़र गए। कहा जाता है कि हृदय की गति बन्द हो गई। 'स्पीशी बैंक' दिवालिया हो

गया। बादल टूट पड़ा। अपनी अल्प आय के दिनों में, जिस रकम पर भरोसा रखा था, वह साथ ही डूब गई।" २६-११-१९१३

अब केवल भड़ौंच के बनिये का ही आधार रहा। परन्तु ईश्वर ने लाज रख ली। उसके पास से लगभग सात सौ रुपये से अधिक रकम लेने की आवश्यकता न पड़ी।

१९१२ या १३ में हमारे गृह-संसार के अनुभव की विचित्र परीक्षा हुई। ठाकुरलाल पंड्या—पंड्या काका—बड़ौदा के पुराने मित्र थे।[1] बड़े विनोदी, बड़े स्नेही। उन्हें गायकवाड़-सरकार ने स्कॉलरशिप देकर अमेरिका भेजा। पंड्या काका की पढ़ने में गति कम थी, परन्तु लोगों के हृदय पर अधिकार पाने में वे एक ही थे। अमेरिका में रहकर डॉक्टरेट की तैयारी के दिनों वे वहाँ के बड़े-बड़े लोगों के घर में प्रिय बनते जा रहे थे। अपने वहाँ वाले मित्रों के हृदय पर काबू करने के लिए वे हमेशा भारत की अनोखी चीजें हमसे मँगाया करते थे। हम लोगों को वे सब लानी पड़तीं, पार्सल तैयार करने पड़ते और अमेरिका भेजने पड़ते। अन्त में हम सब तंग आ गए। पंड्या पढ़ने गये हैं या खुशामद करने, यह हमारी समझ में नहीं आया। एक दिन हमें मौका मिल गया और एक पार्सल की चीजों के साथ हमने बूट-पॉलिश की खाली डिबियाँ और एक जोड़ा फटा जूता भी रखकर भेज दिया।

जब पार्सल पहुँचा, तब पंड्या काका किसी पैसे वाले के मेहमान बनकर मजे कर रहे थे। हिन्दुस्तान से आई हुई चीजें देखने के लिए उन्होंने घर के सब आदमियों को इकट्ठा किया। पार्सल खोला गया। फटे जूते का जोड़ा और पॉलिश की डिबियाँ भी अन्य अनोखी चीजों के साथ बाहर निकल पड़ीं।

गुस्से में भरे हुए पंड्या काका ने हमें गालियों से भरा हुआ पत्र लिख भेजा। इसके बाद हमारा पारस्परिक व्यवहार जरा कम हो गया।

---

१. **मुंशी-कृत 'आधे रास्ते', पृष्ठ १५८।**

बाद में जब वे हिन्दुस्तान लौटे, तब उनके वृद्ध पिता उन्हें लेने के लिए बम्बई आये। अंकलेसरिया, प्राणलाल भाई, मैं, मनु काका और पी० के०—हम सबने निश्चय किया कि पंड्या काका ने हमारे साथ जैसा अभिमानपूर्ण बरताव किया है, उसका अच्छी तरह बदला लिया जाए।

लक्ष्मी, मैं और मनु काका भोज की तैयारी के विषय में विचार करने बैठे। तीनों में से किसी को पता नहीं था कि प्रति मनुष्य कितना हलवा बनाया जाए। बड़े विचार के बाद यह निश्चय हुआ कि प्रति मनुष्य तीन पाव सूजी होनी चाहिए।

हम पंड्या को लाने के लिए गये। बन्दर पर से हार पहनाकर अपने घर लाए और दरवाज़े अन्दर से बन्द करके सब पंड्या काका को मारने बैठ गए। पंड्या की समझ में कुछ न आया।

कोई कहता—'चिवड़ा', कोई कहता—'बूट पालिश', कोई कहता—'बादाम की पूरी।' पंड्या काका के अमेरिका के शानदार और इस्तरी किये हुए कपड़े बिखर गए। उन्होंने जो अभिमान प्रदर्शित किया था, उसके लिए माफ़ी मंगवाकर ही हमने चैन ली। इसके बाद सब खाने के लिए बैठे। घी और शक्कर डालने पर हलवा तीस आदमियों के खाने लायक बन गया था और हम थे केवल दस आदमी। बड़ा पतीला देखकर सब लोग हँसने लगे। लक्ष्मी की लज्जा की सीमा नहीं थी। हमने निश्चय किया कि जिस प्रकार भी हो, पतीला खाली किया जाए। पंड्या काका के लिए तो कॉलेज में यह कहावत मशहूर थी कि 'पंड्या के पेट में पिचासी पूरियाँ' और उन्होंने इसे वहाँ सार्थक कर दिखाया। अंकलेसरिया और अन्य लोगों ने भी ऐसे पराक्रम कर दिखाए, जो न कभी सुने गए थे और न कभी वर्णन किये गए थे; परन्तु द्रौपदी के अक्षयपात्र की थाह मिलते किसी ने सुनी है!

महारथी हार गए!

चार

ता० १२-८-१३ को मुझे बधाई का पत्र लिखने के बाद से जीजी माँ की स्थिति भी बदल गई। उनकी तपश्चर्या फलीभूत होती मालूम हुई। बचपन की बैरिन रुखीबा अब सहचरी बन गई थीं। एक सम्बन्धी के गोद लिये लड़कों को पालना शुरू किया था; वे भी अब बड़े हो गए थे।

मृत पुत्रियों के बालक भी ठिकाने लगने लगे थे। अध्यात्म-ज्ञान से उनके मन को सन्तोष मिल रहा था। बहू को दिन चढ़े हुए थे, इससे यह चिन्ता भी दूर हो गई थी कि वह अवसर कभी आएगा या नहीं और अब 'भाई'[1] भी पास हो गया।

दूसरे दिन जीजी माँ और बहू बम्बई के लिए रवाना हुईं। उनके उत्साह की सीमा नहीं थी। वे बम्बई के नये घर में आकर रहीं। 'भाई' को मानपत्र मिलते देखकर वे हर्ष से फूली न समाईं।

हम सब पुनः भड़ौंच आये। टेकरे पर फिर से चमक आई। परिवार के नाई से हण्डे साफ कराये गए। तख्तों की गन्दगी दूर कराई गई। गलीचे झड़वाकर बिछवाये गए। पहले की तरह लोग मिलने के लिए आने लगे। हार, गुलदस्ते, चाय-पानी, मानपत्र का ताँता लग गया। "आखिर कनु ने पिता की इज़्ज़त रखी। कहीं आज इसके पिताजी जीवित होते, तो!" जीजी माँ के जीवन की यह एक अभिलाषा पूर्ण न हुई। उस वर्ष जीजी माँ ने अंकित किया—

"जीवन के इन उनसठ वर्षों का निरीक्षण किया। इनमें सुख और दुःख दोनों निरन्तर आते हैं और जाते हैं। मनुष्य उत्पन्न होता है और मरता है। वर्षा आती है और शीत और ग्रीष्म भी आते हैं। क्षण में सुख और क्षण में दुःख। क्षण में चिन्ता और क्षण में सन्तोष। हर्ष और शोक की इस रचना के सिवा मैंने और कुछ भी नवीनता नहीं देखी। फिर मन

१. पुत्र के लिए प्रेम से किया हुआ सम्बोधन। गुजरात में 'बहन' और 'भाई' सम्बोधन प्रत्येक के लिए प्रयुक्त होता है।

के इस मिथ्या भ्रम में डूबकर अशान्ति क्यों भोगते रहें ? अतः शान्ति ! शान्ति !

जोनी जीव तुं जागी रे, आ मोह नी माया;
मिथ्या माया दे त्यागी रे, आ मोह नी माया।

(यह सब मोह-माया है, तू जागकर जीवन बिता, इस मिथ्या माया का त्याग कर दे)···चित्त में माया ने अत्यधिक प्रवेश किया है, इससे सारे जीवन में इसका अनुभव हुआ। पश्चात् पार्वतीबाई माता (बढ़वान की एक भक्त वृद्धा) मिलीं। विह्वल मन को कहीं शान्ति मिले, इसके लिए भटकना शुरू किया। इस प्रकार करते हुए सम्वत् १९६६ में तिलोत्तमा और रसिक[1] का जन्म हुआ···

१९६८ के वैशाख में हम हज़ीरे गये; १९६९ की फाल्गुन सुदी में सीमन्त लेकर कुमुद[2] आई। दस दिन का स्नान किया···भादों सुदी पूर्णिमा को बोलते-बोलते स्वर्गवासिनी हुई—पन्द्रह दिन का छोटा बच्चा छोड़कर। मायावी दृष्टि से देखते हुए उसमें रूप-गुण की कमी नहीं थी। मैं, अति, रसिक, सरला देवी बम्बई आये हुए हैं···" ६-११-१९१३

इस अंकन में अपने जीवन पर लिखी हुई कविता भी थी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ उनकी मनोदशा व्यक्त करती हैं—

रमतां जमतां कूदतां करतां झाझां लाड;
माणेक आभूषण पहेरी ने करतां केसर आड।
नाहतां निर्मल जलथकी तापी जे कहेवाय;
स्वर्ग समुं सुख माणतां आनन्द अंग न माय।
गगने ऊँचे देखतां तारागण चमकार;
मन रेखा त्याँ ओपती ईश्वर नो उपकार।
जोत-जोता माँ त्यांतो जड़ी अलभ्य वस्तु एक;
ईश्वर नी सत्ता थकीं करता चमन कलोल।

---

१. मेरी बहन और भानजे की लड़कियाँ।

२. मेरी छोटी बहन की लड़की।

निर्भय थई ने महालतां दया लावता मन;
घनश्याम मूर्त्ति आवी रही, दिवस थयो त्यां धन्य।
सूर्य समोवड वदन ने सविता जेवुं रूप;
आ समे ते जाणतां सघली बात अनूप...।'

(खेलते, खाते, कूदते और बड़े लाड़ करते, 'माणिक' का आभूषण पहनकर केसर की बिन्दी लगाते, जो तापी कहलाती थी, उसके निर्मल जल से नहाते, स्वर्ग के समान सुख भोगते, आनन्द की सीमा नहीं थी। ऊपर गगन पर तारों का चमत्कार देखते, वहाँ मन की रेखा ईश्वर के उपकार से दीप्त हो जाती थी। देखते-देखते इतने में एक अलभ्य वस्तु प्राप्त हुई; ईश्वर की सत्ता से वाटिकाएँ कल्लोल कर उठती हैं। निर्भय होकर घूमते हुए, मन में दया लाते हुए, वह धन्य दिन आया, जिस दिन घनश्याम की मूर्ति आई। सूर्य के समान उसका वदन और सविता के समान रूप था। इस समय यह सारी बात अनुपम मालूम होती है...)

इस प्रकार जीजी माँ ने सारे जीवन का सार अंकित किया। और अन्त में कहती हैं—

'हवे लक्ष्मी अति घणी, आवी छे घर मांय;
स्वप्नुं एक पूरुं थयुं ने, बीजो दिवस त्यांय।'

(अब घर में अत्यधिक लक्ष्मी आ गई है। एक स्वप्न पूर्ण हुआ और दूसरा दिन आया।)

बाद में इस अंकन में जीवन-मुक्ति खोजने वाला एक भजन लिखा है।

जीजी माँ के हृदय में भी सुधारक पुत्र का उत्साह उत्पन्न हो गया। जो किसी भार्गव स्त्री ने नहीं किया था, वह उन्होंने किया। लाड़ले बेटे की बहू के सीमन्त का भोज अपनी खुशी से रोक दिया। लोग तड़पे। समधिन ने गालियाँ निकालीं। "मेरे बेटे ने दस वर्ष तक इस सुधार के लिए प्रयत्न किये हैं। किसी ने नहीं माना। आज मैं ही इसे अमल में ला रही हूँ।"

जीजी माँ के पास आध्यात्मिक या व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के

लिए अनेक विधवाएँ आया करती थीं। उन सबको वैधव्य की दासता की एक ही प्रथा कष्ट देती थी—प्रति सप्ताह नाई के आगे सिर झुकाने की। अट्ठावन वर्ष की आयु में जीजी माँ ने उन्हें सान्त्वना दी; स्वयं इस दुष्ट प्रथा को बन्द किया और सिर पर बाल रखने आरम्भ किये।

शिष्टाचारी बुद्धिमानों को आघात पहुँचाने वाले कार्य करने की आदत मुझे जीजी माँ से वसीयत में मिली है।

पुत्र और बहू का ठिकाना हो जाने पर, जीजी माँ के हृदय में जो अड़सठ तीर्थों की यात्रा करने की लालसा थी, उसे पूर्ण करने की उनकी इच्छा हुई। उन्होंने ठाकुर भाई से कहा, ठाकुर भाई ने भाभी से कहा, भाभी ने अपनी माँ से कहा। चारों व्यक्ति अड़सठ तीर्थ करने के लिए निकल पड़े—जिस प्रकार छोटे बच्चे मौज करने निकल पड़ते हैं, उसी प्रकार। उस यात्रा का हिसाब और रोज़-रोज़ लिखी हुई डायरी आज मेरे सामने पड़ी हुई है।

पाँच

पुराण की कथाओं से सराबोर उनकी स्मरण-शक्ति ने इन तीर्थ-स्थानों के परिचय से पौराणिक जीवन को मूर्तिमान किया। जीजी माँ को नई प्रेरणा मिली। इसके बाद वे बम्बई आईं। वहाँ भी जीजी माँ ने आसपास की स्त्रियों को आकृष्ट किया और अपनाया। उनमें की एक चतुर, परन्तु अनपढ़ स्त्री, चंचल पति के अत्याचार से पिसकर, आत्म-घात करने का विचार कर रही थी। जीजी माँ ने उसे बचा लिया; उसे घर सँभालने वाली और भजन गाने वाली बनाया। इस विषय में उनके पत्रों में अंकित है।

जीजी माँ इसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करती रहती थीं कि 'भाई' और उसकी बहू का सम्बन्ध आपस में सुन्दर और प्रेमपूर्ण हो जाए।

श्रावणी पूर्णिमा का दिन था। हठ करके जीजी माँ ने बहू को मेले में ले जाने के लिए 'भाई' से कहा। बहू को साथ लेकर जाना 'भाई' को

ज्ञान की बातें कहाँ रहीं ? एक तो ज्ञान में गहन कार्य करे, दूसरा ज्ञान-अज्ञान क्या है, यह समझने का कष्ट भी न उठाए, क्या यह अर्धांगिनी है ? इससे तो बेचारे पुरुष को तुम पक्षाघात का रोगी बनाती हो। आरम्भ में ब्रह्मा के पाँच मुख थे। एक बार वे देव-सभा में बैठे थे। चार मुखों से उन्होंने वेदोच्चारण किया और पाँचवाँ, जो गन्धर्व-मुख था, उससे भों-भों शब्द हुआ। हमारे महादेवजी को जानती हो न ? उन्हें बड़ा क्रोध आया और उसी समय उन्होंने ब्रह्मा का वह सिर काट डाला।'

और उनका मन पुनः-पुनः परशुराम की माता रेणुका की ओर झुका। उस पर उन्होंने कविता रची। १-४-१५ को उन्होंने सास के कर्तव्य पर लेख लिखा। त्रैमासिक के लिए स्त्रियों को परामर्श देती हुई और ज्ञानतृषा के लिए प्रेरित करती हुई कविताओं की रचना की। जाति के अन्तर्विभागों में विवाह-सम्बन्धी जारी कराने का आग्रह 'भाई' किया करता था, उन्होंने उसका समर्थन किया और साथ ही दो-तीन अन्तर्विभागीय विवाहों का आयोजन कराकर उन्होंने पुत्र को यश दिलवाया।

१९१६ में दुःख का बादल घिरता मालूम हुआ और जीजी माँ के प्राण होंठों पर आ गए। 'भाई' के हमेशा पेट में दर्द हुआ करता था। डॉक्टर ने कहा कि इसका कारण 'एपेण्डिसाइटिस' का रोग है। बम्बई के डॉक्टर पर विश्वास नहीं हुआ, अतः डॉक्टर वानलेस द्वारा उसकी शल्य-क्रिया कराने के लिए दलपतराम-सहित सब मिरज गये। पैसे की दृष्टि से स्थिति ख़राब, एक-मात्र लड़के का ऑपरेशन; परन्तु जीजी माँ ने सोचा कि हर तीन महीने बाद लड़का कष्ट पाए, इसकी अपेक्षा रोग निकलवाना ही अच्छा है।

मिरज जाने के लिए पैसे नहीं थे, इसलिए 'भाई' ने एक मित्र से पाँच सौ रुपये लिये। ऑपरेशन कराने के लिए टेबल पर सोने से पहले 'भाई' को एक ही चिन्ता थी कि यदि वह इस ऑपरेशन से न बचा, तो जीजी माँ और लक्ष्मी का क्या होगा ? जीजी माँ ने हिम्मत बढ़ाई—"भाई ! महादेवजी बैठे हैं, वे हमें कैसे भूल जाएँगे ?"

जीजी माँ ने लगकर सेवा की और 'भाई' का जन्म-दिवस आने तक मिरज में रहीं। उस दिन उन्होंने अंकित किया—

"साल ओगणीस ने सोल माँ,
गयो तुज तन रोग
धनवन्तरि वानलेस मल्यो,
गाम मीरज संयोग ।
पूरुं सत्तर साल ;
श्रीशंभु आनन्द थी
सुख संपत ने संतति ,
रहो तने चिरकाल ।" २९-१२-१६

(१९१६ में संयोग से मिरज गाँव में वानलेस-रूपी धन्वन्तरि मिला और तेरे शरीर का रोग दूर हुआ। १९१७ में तेरा तीसवाँ साल आनन्द से पूर्ण हो और तुझे चिरकाल तक सुख, सम्पति और सन्तति प्राप्त रहें।)

मिरज से वापस आने पर पैसे की बड़ी तंगी रहने लगी। स्पीशी बैंक के टूटने से वहाँ रखी हुई पूंजी चली गई थी। 'भाई' चिन्ता किया करता। मित्रों से उधार लेता, व्यापारी से पैसे लेता। 'अब क्या होगा' की चिन्ता जीजी माँ को हमेशा हुआ करती।

जीजी माँ ने बहू को प्राचीन सती बनाया था। किसी पर-पुरुष को वह अपने पाथ से पानी भी नहीं देती थी; देना होता तो प्याला भूमि पर रख देती थी···अब उन्होंने उसे अर्वाचीन बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इच्छा बहन बहू को ले जातीं और उनके संसर्ग से कुछ सुधार हो रहा था। परन्तु अभी वह 'भाई' के मित्रों के साथ नहीं हिल-मिल सकती थी।

'भाई' के मित्रों में स्नेही मंगलभाई जीजी माँ के साथ पुत्र की तरह बरतता था। उसकी नम्र और मृदुभाषिणी पत्नी पर जीजी माँ का असीम प्यार था। कणिया और उसकी पत्नी पर भी प्यार था। चन्द्रशंकर, मास्टर और तारा बहन, इन्दुलाल, विभाकर, ये सब तो पुत्रों के समान प्रेम से भरे जीजी माँ के आकर्षण-वर्तुल में आए।

'भाई' के राजनीतिक क्षेत्र में आने पर वे भी उसमें दिलचस्पी लेने लगीं। अखबार में उसका नाम छपता, तो वह अंश काटकर सँभालकर रख लेती थीं। 'होमरूल' के विषय में जानकारी प्राप्त करके उसे अंकित किया; भड़ौंच में आन्दोलन के सिलसिले में स्त्रियों की सभाएँ कीं। १९१८ में जब लोकमान्य तिलक आये और सारा शहर उलट पड़ा, तब भड़ौंच की स्त्रियों की ओर से उनका स्वागत करने के लिए वे गई थीं। इस प्रकार 'भाई' की प्रवृत्ति के साथ जीजी-माँ ने तादात्म्य किया और उसे सहायता देने के लिए सींग तुड़वाकर बछड़ों में शामिल हुईं।

१९१८ में जब जगदीश उत्पन्न हुआ, तब जीजी-माँ बड़ी प्रसन्न हुईं। सरलादेवी और जगदीश दोनों ने जीजी-माँ को जगत् के साथ नये तंतु में बाँध लिया। उनके आने से 'भाई' भी बदल गया। उसका और उसकी बहू का सम्बन्ध अधिक स्नेहपूर्ण हो गया।

दोनों बच्चे भाग्यशाली थे। एक के आने पर 'भाई' पास हुआ, दूसरा पैसे लेकर आया; वह आया और पहली अलमारी खरीदी गई। बहू ने पहला आभूषण देखा।

आमदनी बढ़ी कि तुरन्त अस्सी रुपये किराये के मकान में हम रहने के लिए गये। पर बाद में पता लगा कि वह घर अशुभ था। ठीक हवादार भी नहीं था। रोज़ रात को जगदीश चीख पड़ता। घर बदलने का विचार किया। 'भाई' दो सौ रुपये किराये का घर ठीक कर आया—सुघड़, सुन्दर, हवा और रोशनी वाला। सवेरा होते ही बाबुलनाथ के शिखर के वहाँ से दर्शन होते थे।

अब पैसे की तंगी दूर हो गई, ऋण चुका दिया गया; आवश्यक चीज़ें लेने के लिए हाथ बढ़ाया जा सकता था। मुहम्मद को बारह रुपये की जगह पच्चीस रुपये देने आरम्भ किये; वह भी दुःख-सुख का भागी था, उसे कैसे भूला जा सकता था! इस प्रकार 'भाई' के हाथ में पैसे आते, पर टिकते नहीं थे।

भड़ौंच में 'गुजरात शिक्षा सम्मेलन' हुआ। 'भाई' लगभग पन्द्रह

मेहमानों को ले आया। टकरे पर धूम-धाम मच गई। मास्टर की पत्नी तारा-देवी और उनकी बहनें भी साथ थीं। उनके स्वतन्त्र रहन-सहन से भार्गवों में हलचल मच गई। चन्द्रशंकर था विनोदी, उसके विनोद की सीमा नहीं थी। सम्मेलन में जीजी-माँ जिस समय उपस्थित हुईं, उस समय महात्मा गांधी अध्यक्ष थे।

उस समय जीजी-माँ ने अनुभव किया कि अब हवेली में गुज़ारा नहीं हो सकता, और अर्वाचीन ज़माने की सुविधाएँ भी वहाँ नहीं थीं। कसनदास मुन्शी ने हवेली बनवाई थी, तो उनका वंशज क्यों न बनवाये ? 'भाई' से कहा, उसने स्वीकार कर लिया। नक्शे बने, औसत निकाली गई और जीजी-माँ हवेली बनवाने के लिए भड़ौंच में रहने लगीं। भड़ौंच में रुखीबा भी थीं। अब एक रसोइयन खाना बनाने वाली रखी और एक ऊपर काम करने वाली भी रखी। पैसा आता और खर्च हो जाता। ठाकुर भाई और मुहम्मद सहायता के लिए थे ही। भड़ौंच में इतने बड़े घर के सिवा लड़के का परिवार कैसे समाता ?

छः

उस समय भड़ौंच में एक आदर्श ब्राह्मण था—दुर्गाशंकर दवे। १८९७ में जब परिवार का विभाजन हुआ तब जीजी-माँ ने युवक दवे को कुल-ज्योतिषी निश्चित किया था। वह अथर्ववेदी था और उसी समय काशी से पढ़कर आया था, इसलिए जीजी-माँ को उस पर श्रद्धा थी।

दुर्गाशंकर था भी टेक वाला ब्राह्मण। यजमान न बुलाता तो एकादशी को भी उसके घर दक्षिणा लेने नहीं जाता था। १९१९ में दुर्गाशंकर ने चालीस वर्ष की आयु में विप्रत्व के आदर्श सिद्ध करने आरम्भ किये थे। तीन बार रेवाजी में नहाते, त्रिकाल सन्ध्या करते, रोज़ घण्टा-दो घण्टा ध्यान लगाकर बैठते और जाति-भोजों में पैर भी न रखते थे। नये ज़माने में पुरोहित ज्योतिषी जहाँ दुतकारने पर भी दक्षिणा के लिए घर-घर घूमते हैं, वहाँ दवेजी कुछ घरों के सिवा, बुलाने पर भी शायद ही जाते थे।

जिसे ज्योतिष लगवाना होता, वह उनके घर जाता। खाने को न मिलता, तो वे और उनकी पत्नी उपवास रख छोड़ते थे।

जीजी-माँ जब भड़ौंच जातीं, तब दवेजी को बुलातीं। वे भागे हुए आते, बैठते और गीता, योगवासिष्ठ और पंचदशी की बातें करते। जीजी-माँ जानती थीं कि दवेजी के कठिन व्रतों के कारण कभी-कभी उन्हें खाने को भी नहीं मिलता था। 'भाई' से पूछकर जीजी-माँ ने उन्हें पन्द्रह रुपये देने की बात कही। परन्तु उस विप्र ने इनकार करते हुए कहा—

"जब तक आप भड़ौंच रहेंगी, मैं रोज़ आऊँगा, कुछ पढ़ा करूँगा, परन्तु अध्यात्मज्ञान की बातें करने के लिए पैसे नहीं लूँगा।"

दवेजी पैसे किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं, यह एक प्रश्न था। सीदा भेजा जाए, तो वह ठीक समझेंगे तभी लेंगे।

उस समय जीजी-माँ ने स्वाध्याय पर एक विचार लिखा था।

"ज्ञानी जन कहते हैं कि जहाँ दृष्टि डाले वहाँ ताव ही है, यह कथन झूठ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ के प्रति ऐसी तन्मयता प्राप्त कर लें, तो उसका स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। जहाँ एक बार ऐसी तन्मयता सिद्ध हुई कि उस मार्ग पर तुम दौड़ते चले जाओगे; कभी तुम्हें पाँच क्षण के लिए कोई रोक ले तभी रुकोगे, अन्यथा चलते रहोगे। कारण कि तुम्हारा लक्ष्य-बिन्दु तन्मयता सिद्ध करके प्राप्त किया गया है। चाहे व्यवहार-ज्ञान प्राप्त करना हो, चाहे पढ़ाई का ज्ञान; जहाँ भी जाओ, ज्ञान-प्राप्ति के लिए सबसे पहले तन्मयता का उपयोग करना, जिससे उच्च जीवन बिताया जा सके।"

धीरे-धीरे दवेजी ने दुष्कर व्रत रखने आरम्भ किये। सवेरे दस बजे तक ध्यान लगाकर बैठते, दोपहर से रात तक जीजी-माँ के समान किसी से मिलने जाते या देव-दर्शन के लिए बाहर निकलते। ज्योतिषी का व्यवसाय भी उन्होंने बन्द कर दिया।

जब मैं भड़ौंच जाता, तब वे मुझसे मिलने आते। मैं भी उनसे मिले बिना नहीं रहता था।

कुछ वर्ष पहले मैं भड़ौंच गया और दवेजी का हाल पूछा। वे अपने घर के ऊपरी खंड पर सारा दिन पूजा-पाठ में बिताया करते थे। उनकी पत्नी दो बार भोजन कराने ऊपर जाया करती थीं। दो बार वे स्वयं रेवाजी-स्नान के लिए जाया करते थे। इसके अतिरिक्त बाहर न निकलते थे। मैं दूसरे दिन बम्बई वापस जाने वाला था।

उनकी स्त्री ने उनका ध्यान भंग करते हुए कहा—"कनु भाई आये हैं।"

तब उन्होंने खिड़की खोली। कौपीन पहने, हाथ में माला लिये, दवेजी मृग-चर्म पर बैठे थे। व्रत कर-करके उनका शरीर हड्डियों के पिंजर के समान बन गया था। मैंने उनके स्वास्थ्य का हाल पूछा। दवेजी ने कहा—"जब तक चोला है, तब तक तो मुझे ब्राह्मण-धर्म का पालन करना ही पड़ेगा। भगवान् मेरे समीप हैं, फिर और मुझे क्या चाहिए!"

इन शब्दों में दम्भ नहीं था। भार्गव ब्राह्मणों में इस अल्प-परिचित, परन्तु शुद्ध ब्राह्मण को मैंने अन्तःकरण से प्रणिपात किया। नीचे उतरकर मैंने उनकी पत्नी के हाथ पर पच्चीस रुपये रखे। वे ऊपर जाकर पूछ आईं। दवेजी ने कहा—"कनुभाई ने दिये हैं, इसलिए पाँच रख लो, बाकी वापस कर दो।"

मैं विचार करता हुआ घर आया। यह है ब्राह्मण, जिसने विद्या प्राप्त की, पर बेची नहीं। दान लिया पर यजमान की कृपा से नहीं, अपनी कृपा के मार्ग से; जिसने अपनी आत्मा को एकनिष्ठ ब्राह्मणत्व की अटलता से प्रभु के चरणों पर रख दिया। ऐसे लाखों व्यक्तियों के आत्म-बल से ही आज हज़ारों वर्षों से ब्राह्मणों की संस्कृति टिकी हुई है, मुझे ऐसा विचार आया।

जीजी-माँ 'भाई' के हृदय के एकाकीपन को समझती थीं और उसे दूर करने के अनेक प्रयत्न कर रही थीं। जब वह बच्चा था, तब उसका स्वभाव जैसा विशुद्ध था, आज भी वैसा ही था। जीजी-माँ पूछतीं और 'भाई' अनेक बातें करता कोर्ट की, न्यायाधीशों की और राजनीति की;

बीसेण्ट और तिलक की, दास और गांधीजी की। अपनी पिछली लिखी हुई कहानी या निबन्ध पढ़कर सुनाता। पिछली प्रकाशित हुई कहानी पर कहीं टीका निकली होती, तो वह भी सुनाता। गीता और योगसूत्र की अपनी कठिनाइयों के विषय में भी चर्चा करता, और जीजी-माँ प्रसन्न होतीं। 'भाई' के हृदय में उठती तरंगों और भावनाओं में भी वे दिलचस्पी लेतीं।

१९२० में 'भाई' अपनी बहू के साथ घूमने-फिरने लगा। इससे उसका असन्तोष अदृश्य हो गया हो, ऐसा प्रतीत हुआ।

उसी वर्ष उषा का जन्म हुआ और जीजी-माँ ने लक्ष्मी से कहा—"सरला और जगदीश मेरे; और यह लड़की अब तेरी है, इसे तू पालना।"

अनेक बार जीजी-माँ 'भाई' को देखती रहतीं—सोफे पर पड़कर ब्रीफ पढ़ते हुए, और उसकी छाती पर होती थी गोल-मोल श्वेत रूई की तरह सुकोमल उषा। वह न बोलती थी न रोती थी; समझदारी से बाप की ओर वह टुकुर-टुकुर ताकती रहती, शान्ति और स्थिरता से, मानो पूछ रही हो—"पिताजी, तुम कैसे मूर्ख हो?" और जब उसे उस सिंहासन से उतरना होता, तब अपने-आप उतरती और चढ़ना होता, तब फिर चढ़ जाती।

जीजी-माँ को अपने दौहित्र की चिन्ता सताती। धनु उसे एकदम छोटा छोड़कर मर गई थी। बाप का मुख भी उसने नहीं देखा था। स्वयं उसे पाला था, उसका विवाह किया था। 'भाई' ने अपनी तंगी की ओर न देखकर उसे पढ़ाया था। स्वभाव का वह उतावला था। न बोलने योग्य बातें बोल बैठता और जीजी-माँ को बुरा लग जाता। अशिष्टता होते देखकर जीजी-माँ हमेशा काँप उठतीं; वे न किसी से हीन वाणी बोलतीं न किसी की सह सकती थीं।

सात

सरला का जन्म होने पर मैंने अंकित किया—

'मैं पिता बन गया। एक कर्तव्य बढ़ गया। एक जिम्मेदारी अधिक हो गई। निस्त्रैगुण्य होने के लिए अधिक प्रयत्न करने पड़ेंगे। प्यार के योग्य बने, तो अच्छा।'

निस्त्रैगुण्य होने की बात अंकित तो की, पर सरला जब से पैदा हुई, तभी से मेरी लाड़ली बन गई। और इससे आगे जाकर लक्ष्मी का और मेरा सम्बन्ध नये स्वरूप में बँध गया। मैं उस समय निस्त्रैगुण्य होने के लिए बच्चों के-से प्रयत्न कर रहा था।

मेरा भगवद्गीता का अध्ययन विचित्र था। उसके एक श्लोक का जप कर-करके आवश्यक मनोदशा का पोषण करने की तो मुझे कभी से आदत पड़ी हुई थी। 'हो मने भूली गयो छे मारो छेलडो रे' ('मेरा प्रियतम मुझे भूल गया है') बोल-बोलकर मैंने प्रणय-विह्वलता पोषित की थी। 'मैं पगली या दुनिया पगली' गा-गाकर मैंने क्रन्दन किया था।

"तुं जाता हुँ नहिं रहुँ,
जीवन नो लोभी नथी हुँ कदी;
तूं स्वर्गे कर वास,
के समजजे आ दास ऊभो त्यहीं।"[१]

और—

"प्रिय क्याँ हशे जल वन विषे?
नथी जल गगन नी दश दिशे;
प्रिय ज्याँ तुं हो त्याँ प्योंचजो,
मुज प्रेम पूर्ण प्रणाम आ।"[२]

('तेरे जाने पर नहीं रहूँगा, मैं कभी जीवन का लोभी नहीं; तू स्वर्ग में निवास कर और समझना कि मैं वहीं खड़ा हूँ।)

(प्रिय कहाँ होगा जल वन में? जल गगन की दसों दिशाओं में नहीं

---

१. गुजराती कवि कलापी—'ज्याँ तुं त्याँ हुं' (जहाँ तू वहीं मैं)।

२. गुजराती कवि बा० हि० देसाई—'स्नेह नुं स्वप्न (स्नेह-स्वप्न) (वाक्य माधुर्य)।

है। प्रिय, तू जहाँ भी हो, वहीं तुझे मेरा यह प्रेमपूर्वक प्रणाम पहुँचे।)

इन पंक्तियों को रट-रटकर मैं 'देवी' के प्रति अपनी आतुरता को सजग रखता। रोग बढ़ाने के इस तरीके को मैंने जिस प्रकार हस्तगत किया था, उसी प्रकार उसे वश में करने का नुस्खा भी मेरे हाथ लग गया। जब मुझे पेट-दर्द होता, तब 'तांस्तितिक्षस्व भारत' जप-जपकर मैं अपना दुःख भुलाता था। जब कठिनाइयाँ मुझे बहुत घबराहट में डालतीं, तब घंटा-दो घंटा चौपाटी पर घूमता और—

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा।
निराशीर्निममो भूत्वा युद्धचस्व विगत ज्वरः॥'[1]

बोलता रहता और जब उदासीनता में डूब जाता तब—

'प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते?'[2]

की रट लगाता और जब हताश होता, तब—

'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥'[3]

का जप करता।

इस प्रकार इच्छित मनोदशा उत्पन्न होने तक श्लेकों का जप करते रहने से एक विशिष्ट नियम मेरी समझ में आ गया।

---

१. अध्यात्म-वृत्ति रखकर सब कर्म मुझे अर्पण करके आसक्ति और ममत्व को छोड़ रागरहित होकर तू युद्ध कर। श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ३ श्लो० ३०।

२. चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःख टाले टल जाते हैं और प्रसन्नता पाने वाले की बुद्धि तुरन्त ही स्थिर हो जाती है। श्रीमद्-भगवद्गीता, अ० २२ श्लो० ६५।

३. हे पार्थ! तू नामर्द मत बन। यह तुझे शोभा नहीं देता। हृदय की पामर निर्बलता का त्याग करके हे परन्तप! तू उठ। श्रीमद्भगवद्-गीता, अ० २ श्लो० ३।

जो मनोदशा मुझे प्राप्त करनी होती, वह प्राप्त हो गई है, ऐसा मन्त्र बोलते रहने से वह मुझे सचमुच प्राप्त हो जाती।

जप को मैं जैसी जड़-विधि समझता था, वैसी वह नहीं थी। जपयज्ञ के पीछे 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'[1] वह महा प्रभावशाली शक्ति छिपी हुई मैंने देखी।

और भी एक अन्य प्रयोग मैंने किया। १९०७-८-९ के उद्वेगपूर्ण वर्षों में मुझे ऐसी धुन लगी थी कि यदि मैं एकाग्रता से 'देवी' का ध्यान करूँ, तो वह अवश्य आकर मुझसे मिलेगी। योगशास्त्र की मान्यता है कि जो ज्योतिष्मती पर ध्यान करता है, उससे सिद्ध आकर मिलते हैं। त्राटक करने से ज्योतिष्मती का कुछ प्रकाश मुझे दिखने लगा था, इससे अपनी धुन में मुझे पागलपन नहीं मालूम हुआ। जब मैंने 'वेरनी वसूलात' लिखा, तब मुझे इसका खयाल आया कि एकाग्रता से कल्पना में प्रयत्न करके देखा हुआ व्यक्ति शब्दों में कैसे सजीव होता है और जीवित मनुष्य पर किस प्रकार प्रभाव डालता है।

इस खयाल से नई बात सूझी। यदि एकाग्रता से अनेक गुणों का आरोपण दूसरे व्यक्ति पर किया जाए, तो वे गुण उसमें अवश्य विकसित हो सकते हैं। यह नियम योग की दृष्टि से सच्चा तो है, परन्तु यह मैं भूल गया कि उसे व्यवहार में लाने की मेरी शक्ति बहुत ही मर्यादित थी।

सरला के जन्म के बाद मैंने यह प्रयोग आरम्भ किया। लक्ष्मी की सरलता में अपने इच्छित गुणों का समावेश करके मैंने 'रमा' का निर्माण किया था। अब उन गुणों को पुनः लक्ष्मी में आरोपण करके उसे 'रमा' बनाना था। 'रमा' के नाम पर पत्र लिखकर लक्ष्मी को उसके प्रति दिल-चस्पी लेने वाली बनाया। कहानी के उससे सम्बन्धित परिच्छेदों को मैं उसे पढ़कर सुनाता। कविता मैं नहीं लिख सकता था, पर एक बार तो वह भी लिख गया; और यह मानने के लिए मैं योग करने लगा कि यह 'रमा' ही है।

---

१. योग सूत्र।

लक्ष्मी के आत्म-समर्पण की सीमा नहीं थी, परन्तु उससे पढ़ाई नहीं होती थी। उसकी ऊर्मियाँ बालक के समान, ठंडी, मीठी और आर्द्रता से रहित होती थीं; हृदय के भाव शब्दों या व्यवहार में व्यक्त करने की उसकी शक्ति भी परिमित थी। मैं था विद्या का भूखा, स्वभाव था कथनात्मक और दूसरे का कथन सुनने का प्यासा, आविर्भाव का रसिक तथा अंकुशरहित तादात्म्य पर रचित प्रणय-भावना का पोषण करने वाला मूर्ख।

अपने प्रयत्न की सफलता देखने के लिए उत्सुक मेरे हृदय को ज़रा-ज़रा-सी बात से आघात पहुँचता और उसका डंक निकालने के लिए मैं तितिक्षा का जप करता।

आज अपनी इस निर्बलता पर हँसी आती है और फिर साथ ही अपनी अनगिनत निर्बलताओं को जीतने और जगत् के साथ समाधान करने के लिए अकुलाते हुए इस मूर्ख युवक के करुण जीवन का खयाल आता है।

१६१८ से लक्ष्मी में बड़ा परिवर्तन हो गया—कुछ अंश में इस प्रयोग से और बहुत अंश में अपनी नैसर्गिक शक्ति से। नौकर, रसोइये, पैसे, साहबी, सबकी व्यवस्था वह करने लगी। इच्छा बहन के साथ वह सब जगह जाती, मित्रों और मित्र-पत्नियों से मेल-जोल रखती; परन्तु मेरी परिचर्या के अतिरिक्त और किसी बात में उसे आनन्द न आया।

मैं उदासीन होता तो उसका कारण पूछना उसे उचित न मालूम होता। वह समझ लेती कि मुझे पर्याप्त सुविधा नहीं मिली। मैं क्या करता हूँ, क्या तूफान मचाता हूँ, किस प्रकार कमाता हूँ, मेरे विचार कैसे हैं, मेरे आदर्श क्या हैं—इसकी उसे लेश-मात्र भी परवाह नहीं थी। जब मेरी कहानियाँ छपतीं, तब वह उन्हें पढ़ती; परन्तु विशेष उत्साह के बिना ही। जब मैं लिखने बैठता, तब मेरी लिखाई के प्रति उसे बड़ी-से-बड़ी दिलचस्पी यह होती थी कि दवात में स्याही है या नहीं, काग़ज़ है या नहीं, बच्चे रोकर गड़बड़ तो नहीं मचा रहे हैं।

बाबुलनाथ पर रहने आने से पहले भटवाड़ी वाले घर में हवा नहीं थी, इससे रात को जगदीश रोता था। जब जगदीश रोने लगता, तब उठाकर वह दीवानखाने में घण्टों तक उसे खिलाती रहती, कि कहीं मैं जाग न पड़ूं। मेरे शरीर के संरक्षण के लिए वह प्राण भी दे देती। उसके न होने पर मुझसे कुछ-न-कुछ अनियमितता हो जाती और मैं बीमार पड़ जाता। इस प्रकार लक्ष्मी मेरे जीवन का अनिवार्य अंग बन गई थी।

जब से मणिलाल नानावटी सालिसिटर हमारे नीचे रहने के लिए आये, तब से लक्ष्मी का उनकी स्नेहमयी पत्नी बाबी बहन के साथ खूब प्रेम हो गया। बाबी बहन खूब बोलने वाली और बहादुर थीं; और लक्ष्मी कम बोलने वाली और गम्भीर थी। हम चारों व्यक्ति इस प्रकार रहते थे, जैसे एक ही परिवार के हों। उस भावार्द्र दम्पति के साथ बैठकर आनन्द करते देखकर हम भी अपने दाम्पत्य-जीवन को कुछ अंशों में समृद्ध कर सके।

आठ

गीता और योगसूत्र को व्याकरण या कोष की दृष्टि से मैंने नहीं पढ़ा। मैं विद्यार्थी की दृष्टि से उन्हें नहीं पढ़ता था और टीकाएं पढ़ने से तो मुझे बहुत ही उकताहट होती थी। इन दोनों का पारायण और मनन मैं केवल प्रेरणा प्राप्त करने और जप करके शक्ति पाने के लिए किया करता था। उस समय अपनी निर्बलता और हृदय से उठती हुई अशान्ति को वश में करने के लिए मैंने प्राणायाम का भी थोड़ा-थोड़ा प्रयोग आरम्भ किया।

१९१३ से १९२२ तक, वर्ष में दो-तीन बार मैं माथेरान जाया करता था। इस समय के अन्तर्गत, केवल १९१७, १८ और १९ को छोड़कर, शेष वर्षों में गरमी की डेढ़ महीने की छुट्टी भी वहीं बिताई थी।

जब मैं वहाँ होता, तब सवेरे किसी शृंग पर खड़ा होकर, नीचे खाई

में शक्ति के सागर के विस्तारित होने की कल्पना किया करता। फिर उस शक्ति का जल श्वास में लेकर मैं अपने अन्दर खींच रहा होऊं, ऐसी कल्पना करता और श्वास तथा निःश्वास के साथ 'ॐ शक्तोऽहम् और ॐ शान्तोऽम्' धीरे-धीरे बोलता।

इस प्रयोग से मुझमें स्वस्थता आती और काम करने का नया उत्साह उत्पन्न होता।

१९१२ से १९१४ तक योगाभ्यास करने का मुझे बड़ा उत्साह था। मैं नियमित रूप से ध्यान करने बैठता। पहले बुद्ध की तस्वीर सामने रखता, घूमते-फिरते इस ध्येय को दृष्टि के आगे लाने के प्रयत्न करता। रोज़ योगसूत्र का पाठ करता, ॐकार का जप भी करता और त्राटक करने का प्रयोग भी करता था।

पंडित दुर्गाप्रसाद, जो पिताजी के जीवित रहने के समय भड़ौंच के घर में आये थे, उन्हीं दिनों मुझे बम्बई में अचानक रास्ते में मिल गए। मैं उनके कमरे में जाने लगा और उन्होंने मुझे जप, प्राणायाम और त्राटक किस प्रकार करने चाहिएँ, यह सिखलाया। बाद में उनके यहाँ सट्टेबाज़ लोग आने लगे। उन्होंने भाव-ताव बताने का व्यवसाय शुरू किया और उनके प्रति मेरा आदरभाव कम हो गया। वे सट्टे में अपना हिस्सा भी रखवाते हैं, यह भी मालूम हुआ और तब से मैंने उनके यहाँ जाना छोड़ दिया।

कोर्ट का काम-काज, कहानी लिखने का मानसिक श्रम और अन्य प्रवृत्तियों के कारण ध्यान करना मेरे लिए सुविधाजनक नहीं रहा। सारा दिन सिर दर्द करता और रात को नींद न आती। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं उल्टे मार्ग पर जा रहा था। मैंने बड़ी देर तक किसी अनंतानन्द के मिलने की प्रतीक्षा की। अन्त में थककर मैंने अरविन्द घोष को पत्र लिखा—'यदि मेरे भाग्य में योग-सिद्धि लिखी हो, तो उत्तर दीजिएगा। यदि उत्तर न आया, तो मैं समझ लूँगा कि वह मेरे भाग्य में नहीं है।' उस समय योगाभ्यास करने के लिए मुझमें बड़ा उत्साह था। उत्तर की

एक महीने तक प्रतीक्षा की। उत्तर न आने पर मैंने योगी बनने की नादान आकांक्षा को छोड़ दिया। मेरे भाग्य में यह सिद्धि नहीं लिखी थी।

मेरी मूर्खता की सीमा नहीं थी। मैं समझता था कि गुरु के बिना ही मैं गीता के श्लोक रट-रटकर योग को अपना सकूंगा।

अन्त में मैं और सब छोड़कर 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का जप करने लगा और इस विधि से अपने विकास की साधना आरम्भ की। 'निस्त्रैगुण्य' का शास्त्रीय अर्थ मैंने ग्रहण नहीं किया था। सत्व, रज और तम—मैंने यह अर्थ ग्रहण किया था कि शान्त, प्रवृत्तिमय और शैथिल्यमय, इन तीनों गुणों में से जो गुण प्रसंगानुकूल व्यक्त करने के योग्य हो उसे जो जान सके और उस गुण के अनुसार आचरण कर सके, वही 'निस्त्रैगुण्य' है और इसके अनुसार मैंने बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना डालीं।

एक ही स्वभाव वाला मनुष्य यदि स्वभाव में से निथरते हुए भिन्न-भिन्न परस्पर-विरोधी लक्षण प्रदर्शित करना चाहे, तो उस प्रयत्न में कठिनाई और जोखिम निहित है; परन्तु उस समय मुझे इसका खयाल नहीं था। मैंने अपनी समझ के अनुसार किन लक्षण और शक्तियों को 'निस्त्रैगुण्य' होने के लिए विकसित करना चाहिए, इसकी सूची बनाई। इन लक्षणों और शक्तियों ने जिस ऐतिहासिक या काल्पनिक व्यक्ति में पूर्ण रूप से विकास प्राप्त किया हो उसे मैंने सौ अंक दिये। इस लक्षण या शक्ति वाला प्रभावशाली मनुष्य मेरे परिचय में हो, तो उसे सौ अंकों के परिमाण में कम अंक दिये। और प्रति सप्ताह इस लक्षण का मुझमें कितना विकास हुआ, इसके अनुसार मैं अपने-आपको अंक देने लगा।

१९१५ के अन्त में, १९१६ के लिए बनाये हुए कार्यक्रम का सारांश इस प्रयोग का परिचय देगा। इसमें स्वाध्याय शब्द के आगे जो पुस्तकें लिखी हैं, वे वर्ष-दिन में फिर-फिर से पढ़कर मनन करने के लिए थीं।

१. निस्त्रैगुण्यत्व: व्यवसायात्मिका बुद्धि और निष्काम कर्म।

२. व्यवसायात्मिका बुद्धि के पोषण के लिए ज्ञान, अध्ययन और तितिक्षा चाहिए। उसे प्राप्त करने के लिए निस्त्रैगुण्य पुरुष के ध्येय के छः

अंग हैं—(१) देही,[1] (२) कुटुम्बी, (३) कर्मचारी, (४) साहित्यकार, (५) धाराशास्त्री, (६) राष्ट्र-सेवक।

वर्ष का अध्ययन क्रम—दैनिक स्वाध्याय—गीता और योग-सूत्र।

१. देही

अ—शक्ति (Strength) क्ष[2] (२०) मांटेक्रिस्टो[3] (१००) (१) डंबेल (२) दंड ५० (३) बिलियर्ड्स, २५ का ब्रेक (स्वाध्याय—Foote's Course)

आ—सौन्दर्य (Grace)

(१) चलने का ढंग (२) शरीर का सौन्दर्य (स्वाध्याय—Making of personality) ३—६२००० प्राणायाम

२. कुटुम्बी

स्नेहमयता (Lovingness) क्ष (२०) आब्रले[4] (१००)

३. कर्मचारी

अ—तौर-तरीका (Manner) क्ष (२०) मांटेक्रिस्टो (१००) (१) शिष्टता (२) सुन्दरता (३) संकोचहीनता (४) मृदुता (५) गौरव।

स्वाध्याय—Popularity; Emerson; Manners; Chesterfield letters) आ—प्रगल्भता (Boldness) क्ष (२०) मिराबो[5] (१००) (१) हिम्मत (Courage) (स्वाध्याय—Carlyle—Mirabeau, Dante, Emerson, Self-Reliance) (२) हलकापन (Lightness) (स्वाध्याय—Mark Twain—Innocents Abroad.

---

१. यह शब्द शरीर धारण करने वाली आत्मा के अर्थ में नहीं परन्तु देह को धारण करने वाले मनुष्य के अर्थ में व्यवहृत किया गया है।

२. जीते-जागते मनुष्यों के नाम के स्थान पर मैंने 'क्ष' अक्षर का प्रयोग किया है।

३. ड्यूमा की इसी नाम की कहानी का नायक।

४. मेरी कोरेली की कहानी Treasure of heaven का नायक।

५. फ्रेञ्च विप्लव का नेता।

(३) प्रभावशीलता (Impressiveness). ३—शान्ति (Calmness) क्ष (२०) मांटेक्रिस्टो (१००) (१) स्वस्थता (Self-Composure) स्वाध्याय—Gordon—Power of personality (२) नियमितता (Regularity) वीसेंट (१००) स्वाध्याय—Todd—(Student's Manual) ई—इच्छा-शक्ति (Will) क्ष (४०) नेपोलियन (१००) (१) कार्यसाधक शक्ति (Effectiveness) (२) अप्रमाद Thoroughness) (स्वाध्याय—Plutarch—Ceasar, Foster—Decision of Character.) ३—शैली (Style) जॉन मिल (१००) (१) बुद्धि-प्रधानता (Intellectuality) रानाडे (४०) (स्वाध्याय—Mill—Representative Government) (२) भाव-प्रधानता (Emotionality) विक्टर ह्यूगो (१००) (स्वाध्याय—Michelet—French Revolution; Hugo—Lyrice कलापी नो केकारव (४) वर्णनात्मकता (Descriptiveness) ड्यूमा (१००) (स्वाध्याय—Washington Irwing—Sketch Book Ibsen. सरस्वतीचन्द्र भाग (२) ऊ—वाक्पटुता (Eloquence) क्ष (३०) वीसेंट (१००) (५) आवाज़ (२) भाषा (३) पद्धति। (स्वाध्याय—ज़बानी बोलने वाले, Moore—Indian Appeals Bombay Law Reporter, How to Argue and to win) ए—वार्तालाप (Conversation) क्ष (३०) मांटेक्रिस्टो (१००) (१) समझाने की कला (२) रंजन करने की कला।

४. साहित्यकार

(१) पठन Carlyle—Miscellany Michelet : French Revolution सरस्वतीचन्द्र भाग २। गुलाबसिंह, दो हिन्दी की पुस्तकें। (२) लेखन, ३ अंग्रेज़ी लेख; ३ गुजराती लेख; ३ गुजराती कहानियाँ; २ अंग्रेज़ी कहानियाँ; १ गुजराती उपन्यास; १२ व्याख्यान। 'भार्गव त्रैमासिक।'

५. धाराशास्त्री

(१) कापियाँ तैयार करनी; क्ष (४०) इन्वेरारिटी (१००)

(स्वाध्याय—Odger : Pleadings) (२) कानून का ज्ञान डॉ० घोष, (१००) (स्वाध्याय—Roscoe : Visi Pris) (३) मुकदमे चलाने की कला; क्ष (४०) लाउण्ड्स (१००) (स्वाध्याय— Harris Advocacy)

६. राष्ट्र-सेवक

(१) लेखक (२) वक्ता; वीसेण्ट (१००)।

१९१४—१५—१६—१७ में मैं प्रतिवर्ष इस प्रकार कार्यक्रम बनाता था। आठ-पन्द्रह दिन बाद अपने-आपको नम्बर देता और कम आने पर अपने अंकन पर दण्ड लगाता था।

यह सूची इस बात का परिचय देती है कि ह्यगो, ड्यूमा और कार्लाइल का मुझ पर कितना प्रभाव था। कम अंकों वाले आदर्शों में जिन्ना, सीतलवाड और भूलाभाई के नाम भी आ जाते थे।

असल में देखा जाए, तो यह मेरा 'कर्मसु कौशलम्' प्राप्त करने का क्रम था; परन्तु कौशल प्राप्त करने की इस विधि में मुझे सफलता नहीं मिली। कभी-कभी तो कुल १७०० अंकों में से १०० से लेकर ३०० तक ही मैं प्राप्त कर पाता था।

मुर्गी को उन्मत्त होकर भैंस बनते कभी सुना है?

नौ

मुझे याद है कि १९१२ में मैं चन्द्रशंकर के साथ यूनियन का मंत्री बना था। १९१३ में हमने उसका सारा ढाँचा बदल दिया। संस्था का नाम 'गुर्जर सभा' रख दिया। त्रिभुवनदास राजा उस समय बी० ए० में थे, वे और मैं मंत्री नियुक्त हुए।

१९१३ के आरम्भ में नृसिंहदास विभाकर बैरिस्टर होकर आये। वे बहादुर आदमी थे; उनकी बोलने की छटा निराली थी। साहित्य-क्षेत्र में भी उनकी थोड़ी-बहुत कीर्ति थी; और हमारे मंडल के वे अग्रणी थे। 'बॉर लायब्रेरी' में हम दो साथी हो गए। उस समय 'षड्रिपुमंडल'—

चन्द्रशंकर, मास्टर, विभाकर, कान्तिलाल पंड्या, इन्दुलाल याज्ञिक और मैं —फलने-फूलने लगा। हम लोग लगभग रोज़ मिलते, चाय-पानी लेते और साहित्य की तथा अन्य बातें करते। कभी-कभी शोर-गुल मचाते, एक-दूसरे की उलझनें सुलझाते या बढ़ाते। हम सब बहुत बोलने वाले, महत्त्वाकांक्षी, रसिक और भावनाशील थे; सभी जोशीले थे।

हम रोज़-रोज़ नयी बातें खड़ी करते और अपनी शक्ति के विकास के लिए अवसर करने के प्रयत्न प्राप्त करते। संसार हमारे सामने अविजित पड़ा हुआ था।

विभाकर ने एक कहानी लिखी और वे नाटक की ओर घूम गए। उनका लिखा हुआ पहला नाटक 'मधुबंसरी' बहुत अच्छा रहा। गुजराती-रंगभूमि पर जीवन के प्रश्नों को हल करने का यह पहला प्रयास था। बाद के प्रयास इतने सफल न हुए, कारण कि मुख्य पात्रों के इच्छानुकूल उन्होंने परिवर्तन करने आरम्भ कर दिए। विभाकर बोलते बड़े सुन्दर ढंग से थे; उनके काठियावाड़ी उच्चारणों से माधुर्य टपकता था।

दो-तीन वर्ष तक विभाकर के और मेरे बीच मंडल में, साहित्य में और व्यवसाय में खींच-तान रही; परन्तु हमारा सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों मधुर रहा।

'षड्रिपुमंडल' की धुरी थे, चन्द्रशंकर। उनका मुख्य काम था हम लोगों को प्रोत्साहन देना, एकत्र रखना और बातें करना, अपने साहित्य-प्रेम की लगन औरों को भी लगाना। इसे उन्होंने अपना प्रथम धर्म माना था। मुझे उत्तेजना देने के लिए वे सब तरह के प्रयास करते। उस समय वे रस-भरे काव्य लिखते और हम उन्हें आनन्द से पढ़ा करते।

१९१३ के अक्तूबर में 'कपोल' के दिवाली-अंक के लिए मैंने 'एक साधारण अनुभव'[1] नाम की कहानी लिखी। यह भी आत्म-कथा के रूप में थी—आगे वर्णित किये हुए प्रकारों में से पहले प्रकार की। बम्बई के चमक-दमक वाले संसार के प्रति मुझे ईर्ष्या होती थी। क्षण-भर के लिए

१. मुन्शी-कृत 'नवलिकाओ' (कहानियाँ) (गुजराती) पृष्ठ १०-१७।

यह इच्छा भी मन में जागती था कि पैसे मिलें, तो महल में निवास करूँ, घोड़े और कुत्ते रखूँ। 'रघुनन्दन' नामक पात्र इस इच्छा की मूर्ति था। वह कितना तिरस्करणीय है, यह बताने के लिए अपने आदर्श के अनुकूल किया हुआ प्रयत्न ही यह कहानी है।

जब यह कहानी प्रकाशित हुई, तब चन्द्रशंकर ने मुझे अंग्रेज़ी में पत्र लिखा। उससे हमारे स्नेह-सम्बन्धों की पराकाष्ठा का परिचय मिलता है।

२६-१०-१३, आधी रात,

परम प्रिय मुन्शी,

तुमने अधिकांश में यह समझा है कि जैसे मैं संगमरमर की पाषाण मूर्ति हूँ। सम्भव है, परिचय अधिक प्रगाढ़ होने पर तुम्हारा मत बदल जाए। चाहे जो हो, परन्तु मैं आशा करता हूँ कि इस पत्र को लिखने की प्रेरणा करती हुई मेरी आन्तरिक भावना तुम देख सकोगे।

इस समय लगभग आधी रात है। 'कपोल' के दीवाली अंक में प्रकाशित तुम्हारी कहानी 'एक साधारण अनुभव' अपनी प्रिय पत्नी को मैंने आधा घण्टा हुआ, पढ़कर सुनाई थी।

प्रिय मित्र, एक करुण अनुभव का ऐसा अद्भुत आलेखन करने के लिए तुम्हें मेरी हार्दिक बधाई! यदि समय होता, तो अधिक विस्तार से और पृथक्करण के साथ मैं तुम्हें लिखता; परन्तु उसके अभाव में मुझे तुमसे इतना ही कहकर सन्तोष मानना पड़ेगा कि मेरी पत्नी को और मुझे तुम्हारा आलेखन बहुत पसन्द आया है। एक शब्द और कि, आलेखित की जाने वाली जो संस्कारिता और भावनाशीलता लेखक के हृदय में विद्यमान है, उसका मैं मूल्य आँकता हूँ। उन्नत और उन्नति-प्रेरक आत्मा की आर्द्रता से प्रेरित कृतियाँ तुम गुजरात को देते जाओ, यह मेरी कामना है। दिन-प्रतिदिन हम लोग निकट आएँ, एक-दूसरे से भली-भाँति परिचित हों और सामान्य ध्येय के लिए सहयोगी बनें, ऐसी इच्छाओं के साथ,

तुम्हारा स्नेही

चन्द्र

यह मैं देख सका था कि इस पत्र में चन्द्रशंकर ने स्नेह-अतिशयोक्ति का आश्रय लिया था ; परन्तु उन दिनों मैं चन्द्रशंकर के ऐसे प्रोत्साहन के बिना अपने संकोच को किस प्रकार विजित कर सकता था !

मास्टर और तारा बहन के साथ भी स्नेह-सम्बन्ध बढ़ गया । तारा बहन ने सगी बहन का स्थान ले लिया। दीवाली के बधाई-पत्र में मास्टर ने लिखा—

२६-१०-१३

प्रिय भाई मुंशी,

आखिर हमारा सम्बन्ध बढ़ गया । शरमीले सम्बन्ध की शरम हट गई । अन्त में सम्बन्ध प्रिय बन गया, स्थिर हो गया । वीणा के तारों का सम्बन्ध समझ में आया, वीणा से मधुर स्वर निकले । जितना स्नेह है, उससे भी अधिक रखना । सम्बन्ध की मधुरता और सरलता ज्यों-की-त्यों रहेगी न ?

स्नेही

मन का अभिवादन

कान्तिलाल के साथ भी ऐसा ही स्नेह-सम्बन्ध था, यद्यपि उसका प्रकट करने का ढंग अधिक संयमपूर्ण था । १६११ की जुलाई में वे पढ़ने के लिए बंगलौर गये, परन्तु बीच-बीच में बम्बई आया करते थे । १६१३ की जुलाई में वे आगरा कॉलेज में नियुक्त हुए, इसलिए उनका बम्बई आना बन्द हो गया ।

१६१३ में इन्दुलाल याज्ञिक अपने भाई रमणलाल के साथ, जहाँ मैं रहता था, उनके पास वाले मेरे पुराने कमरों में रहने के लिए आये, और इससे हम लोग निकट परिचय में आ गए । रोज रात को दिन में लिखी हुई चीजें हम एक-दूसरे को पढ़कर सुनाते । 'वेरनी वसूलात' शाम को चेम्बर में लिखी जाती । उसके पहले श्रोता इन्दुलाल थे । उनका मन उस समय राजनीति की ओर झुक रहा था, इसलिए मेरी राष्ट्रीयता के विचारों की चर्चा करने में खूब आनन्द आता था ।

इस प्रकार 'षड्रिपुमंडल' एक सुन्दर संस्था बन गई। हमारी उदित होती हुई भावनाएँ एक-दूसरे की प्रेरणा को पोषण देतीं, जीवन-विग्रह में लगने वाले घावों को भरतीं, और उदार आदर्शों के आदान-प्रदान से हमारे नन्हें जगत् को रसमय बनाती थीं। इन्दुलाल अलग हो गए; विभाकर, चन्द्रशंकर चले गए; कान्तिलाल ने आगरा में निवास किया; मास्टर और मैं अपने भिन्न व्यवसायों के बहाव में बहे। फिर भी आज उस मण्डल का स्मरण करने पर मुझमें उत्तेजना आ जाती है। आज जब सान्ताक्रुज़ में 'डाक्टर्स बंगलो' में क़दम रखता हूँ, तब तारा बहन के आतिथ्य का स्वाद फिर से ताज़ा हो उठता है और किलोलें याद आ जाती हैं।

१९१४ में गुर्जर-सभा प्रौढ़ हुई। नगीनदास मास्टर, अम्बालाल जानी आदि तो थे ही, और जमनादास द्वारकादास, सेठ रतनश्री मुरारजी और हरिसिद्धभाई दिवेटिया भी दिलचस्पी लेने लगे। हमारी ख्याति भी बढ़ने लगी। डॉ० कल्याणदास देसाई और उनके भाई देवीदास सालिसिटर भी 'गुर्जर-सभा' में रस लेने लगे। १९१४ की ११ अप्रैल को 'षड्रिपुमण्डल' उन दोनों भाइयों के साथ नासिक-गुरुकुल के महोत्सव में गया। पडधुभाई शर्मा—आर्य समाज के मुख-पत्र 'आर्य प्रकाश' के सम्पादक—गुर्जर-सभा के एक प्रखर अग्रणी थे, जिन्हें मैं मज़ाक में Demosthenes of Dead Ideals कहा करता था, वे भी साथ थे।

बचपन से ही मुझे आर्य समाज में दिलचस्पी थी, जब से स्वामी नित्यानन्दजी भड़ौंच में व्याख्यान देने आया करते थे, तभी से—मैंने बचपन में ही 'सत्यार्थ प्रकाश' और गुरुदत्त विद्यार्थी के लेख पढ़े थे। १९०५ या १९०६ में मैंने एक अखबार में महर्षि दयानन्द के विषय में एक लेख भी लिखा था। पडधुभाई के साहचर्य से यह दिलचस्पी फिर जागृत हुई।

'यदि कहीं भी राष्ट्रीयता के पाठ पढ़ाए जाते हों, यदि कहीं भी बातें करके नहीं, वरन् आत्म-बलि से, त्याग और उत्साह से, भविष्य के आर्यावर्त

के गौरव की नींव डाली जाती हो, तो वह यही संस्था है। जिसने 'नासिक-सम्मेलन' का उत्साह देखा होगा...उसे इसका ख़याल आएगा कि आर्य-समाज क्या सेवा करता है।' [1]'

नासिक हो आने के बाद रणछोड़दास लोटवाला ने हमसे 'हिन्दुस्तान' और 'प्रजामित्र' के अग्रलेख लिखने के लिए कहा। हमने बारी-बारी से वे लिखने शुरू किए; परन्तु कुछ समय बाद यह काम भाई विभाकर ने अकेले ही उठा लिया।

इसके पश्चात् आर्य समाज की प्रवृत्ति के साथ मेरा थोड़ा-बहुत सम्बन्ध बना रहा; परन्तु जब तक उसके सारे सिद्धान्त मैं स्वीकार न कर लूं, तब तक उसका सदस्य बनने से मैंने इन्कार कर दिया।

'यदि किसी ने दीर्घ दृष्टि से देखा हो कि...हिंदू धर्म को नया स्वरूप देकर उसे विजयी, आगे बढ़ा हुआ, दुनिया को जीतने वाला धर्म बनाना पहला कर्तव्य है, तो वे स्वामी दयानन्द ही थे...पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से हम बुद्धि-प्रधान हो गए हैं और विचारों की भँवर में हमारी कार्यदक्षता का ठिकाना नहीं रह गया है। हमारी रगों में जिन भावनाओं का संचार होना चाहिए, वे एकरूप हुए बिना कभी आनी सम्भव नहीं हैं। और हमारी हिन्दू-संस्कृति के पुनर्जीवन के बिना यह एक-रूपता कभी नहीं आएगी। हमारे देश के देवता ही हमारा उद्धार करेंगे, बिदेशी तो केवल पुतले हैं।[2]

यह अनंतानंद की दृष्टि पुनः-पुनः सोने के तारों की तरह जीवन में बुने हुए ताने-बाने में चमकती है।

दस

राजनीतिक दृष्टि से इस दृष्टि-बिन्दु का मैंने आगे जाकर इस प्रकार

१. मुंशी-कृत 'केटलाक लेखो', 'गुरुकुल नी शिक्षण-पद्धति' (१९१४) पृष्ठ १८-१९।

२. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो', 'दी आर्य समाज' (१९१५) पृ० ५९।

वर्णन किया—यूरोपियन संस्कारों की प्रबलता को वश में करने और आर्य संस्कारों का साम्राज्य स्थापित करने के लिए जो महात्मा हमारे देश में प्रकट हुए हैं, उनमें दयानन्द, विवेकानन्द, अरविंद और गांधीजी ये चार आर्य संस्कृति की प्रागतिक पुनर्सिद्धि करने में साधनभूत हुए हैं। इन चारों में अरविंद का क्या स्थान है, इस पर हमें विचार करना है। दयानन्द का मन्त्र था—हमारी ऐतिहासिक सततता—Historical Continuity—का हमें भान कराना। विवेकानन्द ने हमारे संस्कार की समृद्धि के प्रति गर्व उत्पन्न करवाने का प्रयत्न किया था; परन्तु अरविंद हमें एक कदम आगे ले जाते हैं ।

वे सदा यह सीख देते थे कि राष्ट्र को ईश्वर के रूप में पूजना; उसके भूत, वर्तमान और भविष्य का गौरव बढ़ाना; उसकी विशेषताओं को आगे करना और उसके दूषणों को बिसारना चाहिए। उनका यह संदेश था कि हमारी संस्कृति दृढ़ और सबल रूप धारण करे; भारतीयों को प्रतापी और दुर्जय बनाए और देश के अन्दर और बाहर अपनी सत्ता स्थापित करे। प्रत्येक रीति से, प्रत्येक प्रकार से राष्ट्रीय अस्मिता विकसित हो, प्रत्येक क्षेत्र में हमें अपने राष्ट्रीय गौरव और महत्ता का भान हो—यह उनका अन्तिम लक्ष्य था।

वे मानते थे कि इस लक्ष्य की सिद्धि में पहले विदेशी सत्ता की अपेक्षा विदेशी संस्कारों का बहिष्कार होना चाहिए। उनका सिद्धांत था कि जब तक विदेशी माल का और विदेशी संस्कारों का बहिष्कार नहीं होगा, तब तक राष्ट्रीय स्वाभिमान या अस्मिता प्रकट नहीं होगी। और इसी कारण वे 'Boycot'—'बहिष्कार' को अनुपम अस्त्र मानते थे।[1]

मैं मानता था कि देश-भक्ति के मूल, भारत की भूमि के इसके सागरों पर से उड़कर आते हुए समीर और इसकी नदियों के जीवन-दाता जल के स्पर्शों में थे; इसके भूतकाल-विषयक गर्व में, इसकी वर्तमान-

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो', 'अरविंद घोष' (१६२०), पृष्ठ १६१-६२।

विषयक वेदना में और इसके भविष्य के विषय की अभिलाषा में थे; भारतीय वाणी, संगीत, कविता, भारतीय जीवन के दृश्य, नाद, स्वभाव और रीतियों में थे। इस भक्ति के अनेक रूप मुझे दिखाई देते थे—माता का दुःख निवारण करने में होने वाला उत्साह; उसकी स्वतन्त्रता के लिए अपना रुधिर बहता देखने का उल्लास; पितरों के साथ मिल जाने की आकांक्षा और उसके लिए आत्मसमर्पण करने का दैवी आनन्द। जन्म-भूमि तो जननी से भी अधिक प्यारी है। उसकी भक्ति माता के सनातन दर्शन से होती है; मातृभूमि को ईश्वर के रूप में देखने से होती है; माता के अखंड मनन, कीर्तन और सेवा से होती है। मैं यह मानता था कि इस प्रकार की भक्ति ही सच्ची राजनीतिक प्रवृत्ति का प्रेरक तत्त्व बन सकती है।

अपनी इस भक्ति का मैं इंदुलाल के आगे वर्णन करता और उसे बड़ा आनन्द आता था। १९२८ में मैंने इस भक्ति का वर्णन 'स्वप्नद्रष्टा' में किया।

'भार्गव-त्रैमासिक' और 'आर्य प्रकाश' में लेख लिखने से मुझे पूर्ण सन्तोष नहीं होता था। उन्हीं दिनों १९१४ में महायुद्ध शुरू हुआ। हृदय में उमड़ती हुई राष्ट्रीयता को व्यक्त करने के लिए १९१५ में इन्दुलाल ने और मैंने 'सत्य' मासिक निकालने का निश्चय किया और इन्दुलाल के सम्पादकत्व में जुलाई में 'नवजीवन और सत्य' आरम्भ हुआ। पीछे से उसे शंकरलाल बैंकर आर्थिक सहायता देने लगे।

राजनीतिक उत्साह के आवेश में मैंने उसके पहले अंक में लिखा—"जीवित राष्ट्र का जीवन और साहित्य वीर्यवान् होता है और समय के महाप्रश्नों का निराकरण करने के लिए कला को शस्त्र बनाकर निश्चयात्मक बुद्धि से आगे बढ़ता है।"

उस समय से जमनादास, द्वारकादास और मैं निकट सम्पर्क में आये। वे हाल में ही कॉलेज से निकले हुए बड़े मस्त, बोलने में शूर, श्रीमती बीसेण्ट के लाड़ले और प्रागजी सूरजी के करोड़ों के व्यापार में हिस्सेदार

थे। हम 'प्रेसिडेन्सी एसोसियेशन' में—जो संस्था सर फीरोजशाह मेहता की केवल परछाईं के समान थी—सम्मिलित हुए। वे स्वयं बीमार पड़े थे और उनके बिना कोई भी उसमें ठीक से काम नहीं करता था। उस संस्था की वार्षिक सभा में हम सबने इसकी अच्छी तरह खबर ली। 'संसार में परिवर्तन हो रहे हैं, पर यह संस्था क्यों कुछ नहीं करती? हिसाब कहाँ है? वह व्यवस्थित क्यों नहीं है?' हमारे शोर-शराबे का यह प्रभाव हुआ कि उसकी कार्यवाहक कौंसिल में जमनादास को और मुझे सदस्य के रूप में ले लिया गया।

हम लोग कोई नया काम कर दिखलाने के लिए बड़े उतावले हो रहे थे। उसी समय युद्ध शुरू हो गया। बीसेण्ट और विलियम वेडरबर्न आदि भारत के मित्रों में मंत्रणा हुई और उन सबको प्रतीत हुआ कि युद्ध के अवसर को देखते हुए छोटे-छोटे सुधारों की माँग करने की अपेक्षा यदि भारत 'होमरूल' की माँग करे, तो वह मिल सकती है। इस संकल्प का प्रचार करने के लिए बीसेण्ट ने १९१४ की जनवरी में 'कामनवेल्थ' पत्र निकाला, और छः महीने बाद 'New India' आरम्भ किया। १९१५ के फरवरी मास में गोखले स्वर्गवासी हो गए और सारे देश में लोकप्रिय इस नेता का कांग्रेस का सिंहासन खाली हो गया। बीसेण्ट ने रतनसी मुरारजी, जमनादास आदि अपने थियोसोफ़ी में विश्वास करने वाले अनुयायियों को 'होमरूल' के सम्बन्ध में आन्दोलन करने के लिए लिखा और सितम्बर में एम्पायर थियेटर में 'युद्ध के बाद भारत' इस विषय पर व्याख्यान देकर उन्होंने बम्बई में आन्दोलन प्रारम्भ किया।

बीसेण्ट का व्याख्यान मैंने अनेक बार सुना था, परन्तु यह व्याख्यान वाग्पुटता की दृष्टि से—अर्थात् वाग्वैभव, उच्चारण, भावना, अधीरता, सौन्दर्य और प्रभावशीलता, इन सबकी दृष्टि से इतना अपूर्व था कि मुझे प्रतीत हुआ कि बीसेण्ट को जगत् के सर्वोपरि वक्ता की जो कीर्ति मिली थी, वह सकारण है। इससे हमारा राजनीतिक उत्साह बढ़ गया। इसके बाद बीसेण्ट दादाभाई नौरोजी से मिलीं और 'भारत के दादा' ने

उनकी योजना का अनुमोदन किया ।

जमनादास, शंकरलाल, इन्दुलाल और मैं—हम चारों ने मिलकर निश्चय किया कि अंग्रेज़ी में साप्ताहिक निकाला जाए और जमनादास और मैं उसके संपादक बनें ।

इसके बाद बीसेण्ट लोकमान्य तिलक से अप्रकट रूप में मिलीं । उन्हें इस बात का भय हुआ कि यदि लोकमान्य बीसेण्ट से साथ एक संस्था में प्रकट रूप से शामिल हुए, तो कांग्रेस 'होमरूल' स्वीकार नहीं करेगी । बीसेण्ट का पहले यह विचार था कि पहले कांग्रेस से 'होमरूल' स्वीकार कराया जाए और उसके बाद लोकमान्य को उसमें लिया जाए । अंत में उन दोनों का यह निश्चय हुआ कि यदि कांग्रेस 'होमरूल' स्वीकार न करे, तो लोकमान्य और बीसेण्ट एक अलग संस्था बनाएँ । परन्तु सहयोगिता प्रदर्शित करने के लिए दोनों को एक-दूसरे की संस्था का सदस्य बनना होगा । यह बात उस समय हम कुछ लोग ही जानते थे ।

सितम्बर के अंत में जमनादास और मैं पेडर रोड पर नरोत्तम सेठ के बँगले पर बीसेण्ट से परामर्श लेने गये, और सम्पादकों के रूप में हमें क्या करना चाहिए, इस विषय पर उन्होंने हमें विस्तार से सलाह दी । उग्र-पक्ष को साप्ताहिक निकालना उस समय कठिन काम था, और मेरी स्थिति को देखते हुए यह एक बड़ा साहस था ।

हम श्रीनिवास शास्त्री का आशीर्वाद लेने गये । शास्त्रीजी ने हमारे प्रयत्न का स्वागत किया । देवधर वहीं थे । वे फीरोजशाही सम्प्रदाय के थे—और हाथों तूफान उठाने वाले । बीसेण्ट के कहे हुए ज्वलन्त राष्ट्रीय कार्यक्रम का हमें नशा चढ़ा हुआ था । शास्त्रीजी ने हमें पूरी सम्मति दी, महर्षि दादाभाई ने आशीर्वाद भेजा, और १९१५ के नवम्बर की १७ तारीख को हमने 'यंग इण्डिया' आरम्भ किया ।

थोड़े दिनों में सर फ़ीरोज़शाह मेहता स्वर्गवासी हुए । इस पर टिप्पणी करते हुए मैंने लिखा—'वे महापुरुष थे । उन्होंने बड़ी सेवा की थी, पर जनता में से प्रभाव प्रकट होता है, इसका उन्हें ख़याल नहीं था । नई

राष्ट्रीयता उनकी समझ में नहीं आती थी, इससे वे राष्ट्र के नेता नहीं थे।' इस लेख की बड़ी टीका हुई। बम्बई में कोई सर फ़ीरोज़शाह का नाम लेने की हिम्मत नहीं करता था।

१९१५ में बम्बई में कांग्रेस होने वाली थी, और जिन्ना ने उस समय बम्बई में मुस्लिम लीग की सभा बुलाई थी। मज़रुलहक उसके अध्यक्ष बने थे। जहाँ कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा हो, वहाँ मुस्लिम लीग का नहीं होना चाहिए; यह ज़िद पकड़कर अनेक मुसलमानों ने उसे भंग कर दिया।

अन्त में दिसम्बर की १५ तारीख को चाइनाबाग में बीसेण्ट द्वारा आयोजित नेताओं की गुप्त सभा हुई।

सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी सभापति थे। पुराने कांग्रेसियों के मतानुसार 'होम-रूल' का आन्दोलन आरम्भ करने की आवश्यकता नहीं थी। अन्त में यह निर्णय हुआ कि कांग्रेस को विचार करने के लिए नौ महीने का समय दिया जाए, और इसके बाद यदि कांग्रेस 'होमरूल' का कार्यक्रम स्वीकार न करे, तो बीसेण्ट नई संस्था का निर्माण करें।

उन्हीं दिनों मेरा शंकरलाल के साथ मेल न खा सका। खुशालदास मेरे निकटतम मित्र थे। उस समय वे सेंट जेवियर्स कॉलेज में लेक्चरर थे, और मेरे कहने से 'यंग इण्डिया' में लेख लिखा करते थे।

मैंने अपने चेम्बर में शंकरलाल से उनका परिचय कराया, और मेरे वहाँ से जाते ही शंकरलाल ने उनसे पूछा कि क्या वे 'यंग इण्डिया' का सम्पादक-पद ग्रहण करेंगे? शाह ने तुरन्त आकर मुझसे बात की। जिस संगति की पहले ही महीने मे इस प्रकार परीक्षा हो, वह संगति न करने का मैंने निश्चय किया और सम्पादक-पद से इस्तीफ़ा लिखकर भेज दिया। अन्त में यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस के समाप्त होने पर मैं सम्पादक-पद से पृथक् होऊँ।

कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर सर सत्येन्द्रप्रसन्न सिनहा थे। वे नरम दल में भी नरम थे। उनका स्वभाव कठोर था। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति

उनका तिरस्कार एक-एक शब्द से व्यक्त होता था। बीसेण्ट की कांग्रेस में न चली। इन्दुलाल याज्ञिक 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया' में शामिल हो गए थे या होने की तैयारी कर रहे थे। अतः मैंने भी 'नवजीवन' और 'सत्य' में लिखना कम कर दिया।

१९१५ में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका छोड़कर हिन्दुस्तान आये। उस समय गुर्जर-सभा ने जिन्ना के सभापतित्व में एक बड़े सम्मेलन का आयोजन किया। सभा के मंत्री के रूप में उस समय मैं पहली बार गांधीजी से मिला और इस धृष्टतापूर्ण नतीजे पर पहुँचा कि उनकी वेश-भूषा और रहन-सहन देखकर, तथा उनके विषय में प्रचलित बातें सुनकर मैं उनसे जो आशाएँ रखे बैठा था, वे सफल नहीं होंगी।

गांधीजी के सम्मान में जहाँगीर पिटिट के यहाँ समारम्भ हुआ था, इसका मुझे स्मरण है। बम्बई के सारे नेता और प्रतिष्ठित पुरुष उसमें उपस्थित थे। पाउडर और भड़कीली साड़ियों का जमघट था। अतिथि को देखने के लिए हम पंक्तिबद्ध खड़े थे। मेरे पास खड़ी हुई एक पारसी महिला गांधीजी को देखने के लिए बहुत ही अधीर हो रही थीं। गांधीजी आये; छोटी धोती, तनी वाला अंगरखा, सिर पर काठियावाड़ी फेंटा बाँधे और नंगे पैरों! मेरी पारसी पड़ोसिन मुख पर हाथ रखकर, बड़ी कठिनाई से हँसी रोककर बोल उठीं—

"यह तो धन्ना दरजी है!"

ग्यारह

१९१५ में 'हिन्दुस्तान' और 'प्रजामित्र' के सम्पादक रतनलाल शाह के आग्रह-वश होकर मैंने 'कोनो वांक' नामक उपन्यास लिखना आरम्भ किया। 'गुजराती' की अपेक्षा इसके कॉलम छोटे थे और प्रति कॉलम एक रुपया मिलता था। इस कारण यह व्यापार बुरा नहीं था।

'कोनो वांक' उपन्यास मेरे पहले प्रकार की दूसरी बड़ी कहानी है। जाति में एक मित्र की पत्नी बाल-विधवा हो गई थी। उसके दुःखों का

मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था, और वही इस कहानी के मूल में है। महायोगी महाराज की कहानी अगले खंड में वर्णित अनुभव से ली गई है। एल०-एल० बी० के समय, जब मैं काँदावाड़ी में रहता था, तब की मेरी मनोदशा से मुचकुन्द का उद्भव हुआ है। 'वेरनी वसूलात' के पुराने स्वप्न खत्म हो गए थे। यह स्पष्ट है कि मैंने मुचकुन्द और मणि को एक साथ लाकर कल्पना के कोने में छिपी हुई तृषा को मिटाया था।[1]

उस समय की मेरी सामाजिक कहानियों में मेरा, मेरे मित्रों का और जगत् का उपहास करने की एक नई दृष्टि है। अनेक कहानियों में तीस प्रकार की कला की साधना करने की तैयारी कर रहा होऊँ, इस प्रकार अनुभूत मनोदशा का पोषण करने की मैंने चेष्टा की है। इन कहानियों में निर्दोष विनोद-वृत्ति की अपेक्षा दंशपूर्ण कटाक्ष प्रधान हैं। बेढंगे प्रसंगों को एकत्र करके उपहास करने की इच्छा भी दीख पड़ती है। 'गोमती दादा नुँ गौरव', 'शामलशा नो विवाह', और 'खानगी कारभारी' लिखते हुए मुझे बड़ा आनन्द आया था।

'एक साधारण अनुभव' में मैंने 'रघुनन्दन' का चित्रण करके उसे व्यंग्य का निशाना बनाकर अपनी भावनाशीलता पर नियन्त्रण लगा दिया था। फिर भी मैं अपने व्यवसायी मित्रों के स्पर्श से और उनकी प्रणालियों के वश होकर पाश्चात्य रहन-सहन को अपनाने लगा था। प्रतिष्ठा बिना मिले न रह जाए, इस भय से मैं शराब पीने लगा और मांसाहारी बनते-बनते रह गया। यूरोपियन पहनावा मैंने अपनाया। भावनाशीलता की विडम्बना करना, पराई स्त्रियों के विषय में झूठी-सच्ची दिलचस्प बातें बनाना, अश्लील चुटकुले कहना, संसार में खाने, पीने, मौज करने के सिद्धान्त को प्रतिपादित करना, पाश्चात्य सभ्यता के बिना सफलता नहीं मिल सकती, इस सिद्धान्त को मानना और मनवाना;—अपने मित्रों में

---

१. इस उपन्यास में मुचकुन्द नामक ग्रेजुएट एक निराधार विधवा को बचाता है और बाद में अपनी पत्नी के मर जाने पर उसके साथ विवाह करता है।

प्रचलित इन जीवन-चर्याओं में मुझे उस समय आनन्द नहीं आया था, यह कहना असत्य है।

कभी-कभी ये प्रश्न भी उत्पन्न होते थे कि इस प्रकार के जीवन को हीन क्यों माना जाय? ता० ६-४-१६ का अंकन कहता है—

'जगत् में कोई कीर्त्ति पाने के लिए आतुर है,
कोई पैगम्बर के बहिश्त के लिए अधीर है,
परन्तु यह चिन्ता किसलिए?
उधार लेना छोड़ दे;
दूर के दुन्दुभि-नाद की परवा मत कर;
नकदी को सँभाल कर रख।

● ●

मिट्टी में मिलने से पहले
जो कुछ पास है, उसे कुशलता से खर्च कर।
मिट्टी में से उत्पन्न हुआ है और मिट्टी में मिल जाएगा;
और दबना भी मिट्टी में है।
सदा ही सुराहीन, संगीतहीन,
गाने वाली के साथ के बिना,
और इस दशा का अंत हुए बिना
परन्तु जिसका यह ध्येय हो, वह मनुष्य सुख उठा सकता है?'[1]

---

1. Some for The Geories of This World: and Some
Sigh for the prophet's paradise to come:
Ah, take the cash, and let the credit go,
Nor heed the music of a distant Drum!

● ● ●

Ah, make the most of what we yet may spend,
Before we too into the Dust descend;
Dust into Dust, and under Dust, to lie,
Sans wind, Sans song, Sans Singer, and—Sans End.

Rubaiyat of Omar Khayyam
Stanza 13 & 26.

परन्तु भावना न हो, तो तुरन्त तृप्ति हो जाए और तृप्ति हुई कि जीवन असह्य हो उठे। 'पतन्ति नरकेऽशुचौ।'

जिस दिन से मैंने निस्त्रैगुण्य का विचित्र अर्थ लगाया और उसकी छाया में सफल व्यावहारिक के लक्षण प्राप्त करने का परिश्रम करना आरम्भ किया, उस दिन से मैंने ऐसा मार्ग पकड़ा कि जिससे पाश्चात्य संस्कारों को अपनाने का कार्य सरल हो जाए। ज्योतिषी कहते हैं कि गुरु आध्यात्मिक ग्रह है और शुक्र रसिक, मौजी ग्रह है। कुण्डली में यदि ये दोनों एक स्थान पर एकत्र हो जाएँ, तो जातक वैराग्य और मौज-शौक, भावना और विलास के बीच झोंके खाते रहें। ज्योतिष जाने बिना ही मुझे इस सिद्धान्त का स्वयं अनुभव हो रहा था। उल्लास की प्रचण्ड तरंगें आतीं, विलास की आकांक्षा जागती और पुनः वैराग्य आकर्षित कर लेता, और मैं भावना-प्रधान हो उठता। इन दो कृतियों को एकरूप करने का मैं प्रयत्न करता, पर उसमें सफलता नहीं मिलती थी। गीता के सूत्रों के जाप से जब मैं उल्लास और विलास की तरंगों को क्षण-भर के लिए कुचल डालता, तब वे मेरी कहानियों में फूट निकलतीं। मैं अच्छा खाने-पीने और पहनने में लग जाता, प्रभाव और सत्ता की आकांक्षा को पूर्ण करता। 'आढ्योऽभिजनवानस्मि को कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'[1] और इस मनोदशा का पोषण करता, अतः विश्वमित्र और व्यास के समान जीवन के लिए तरसता, भावनाशीलता को खोने की वेदना अनुभव करता और दुखी होकर अपने मनोभावों को अंकित करता।

१६१४ में जब मैंने योगाभ्यास छोड़ दिया और निस्त्रैगुण्य को कर्म-योग में उतारने का प्रयत्न किया, तब से आत्म-दमन कम हो गया। और ज्यों-ज्यों वह कम होता गया, त्यों-त्यों गीता रट-रटकर मनोदशा सुधारने का प्रयास, जीव पर अत्याचार करने के समान प्रतीत होने लगा तथा प्रभाव-वृत्ति (Sense of Power) कल्पना में अधिक घूमने लगी।

---

१. मैं धनाढ्य हूँ, मेरे समान अन्य कौन है ?

श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १६ श्लो० १५।

मुझे गुजरात के इतिहास का आरम्भ से शौक था। जब कॉलेज में था, तब Brigg's 'Cities of Gujrat' पढ़कर 'The Graves of Vanished Empires' नामक लेख बड़ौदा-कॉलेज के पत्र में लिखा था। जब मैं गुजराती पढ़ने और लिखने लगा, तब मेरे हृदय में गुजरात की भक्ति के अंकुर फूटने लगे और मैंने गुजरात का इतिहास पढ़ना आरम्भ किया। उसी समय 'गुजराती' पत्र का निमंत्रण मिला और नब्बे रुपयों में मैंने उसकी भेंट पुस्तक के रूप में एक ऐतिहासिक उपन्यास लिख देने का वचन दिया।

'पाटण नी प्रभुता' ('पाटण का प्रभुत्व') को मैंने छुट्टियों में लगातार लिखकर खत्म किया और इससे वह सुसंबद्ध और एकरूप हो सकी। मेरी प्रणय-तरंगें वश में हो गई थीं। प्रभाव वृत्ति और भावनाशीलता की समन्वय-मूर्ति मुंजाल प्रकट हुआ। प्रभाव के अन्दर से व्यवस्था-वृत्ति झाँक रही थी और उस कल्पना में गुजरात की महत्ता का सृजन हुआ।

अनेक लोगों ने मुंजाल और मीनल के सम्बन्ध को ड्यूमा से प्रभावित माना है। पर मुंजाल में रिशल्यू या माजारिन का अंश नहीं है। वह तो प्रणययोगी, भावनाशील, उन्नताशयी और प्रचण्ड ऊर्मियों का धनी है; जब कि रिशल्यू प्रतिष्ठा का भूखा, द्वेषी और नीच है। वह रानी को प्रेम नहीं करता। माजारिन अधमता का अवतार है। दोनों रानियों में भी कोई समानता नहीं है।

मेरी लिखने की पद्धति ही ऐसी है, जिसमें ससंकल्प अनुकरण के लिए स्थान नहीं है। जब मैं कहानी लिखने बैठता हूँ, तब मुझे पहले दो-तीन परिच्छेद एक-दो बार पुनः-पुनः लिखने पड़ते हैं। बाद में वह सृष्टि मेरी कल्पना पर अधिकार जमा लेती है। उसके पात्रों में मैं तन्मय हो जाता हूँ। शब्द, व्याकरण या अक्षर-विन्यास की परवा किये बिना मेरी कलम कल्पना द्वारा निर्मित प्रसंगों, भावों, और वार्तालापों को केवल वेग-पूर्वक व्यक्त करने का अन्धा साधन बन जाती है। ऐसे समय मेरी उद्दीप्त कल्पना किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। अपने नियमों के अनुसार मेरी

पूर्वसंचित सामग्री की सहायता लेकर वह शाब्दिक सृजन करती है।

मेरे आलेखित किये हुए मिनल देवी और मुंजाल के प्रसंगों पर बहुत टीका हुई है। विधवा रानी तेजस्वी मंत्री के लिए प्रेम रखे, सेठानी कुशल वणिक की ओर आकर्षित हो, ऐसी घटना कभी घटित नहीं होती, यह कौन कह सकता है? दोनों प्रतापी और ऊर्मिवान हों, एक ही ध्येय की साधना के लिए सवेरे, दोपहर और रात को जिन्हें मिलने का काम पड़ता रहता हो, दोनों एक-दूसरे के गुणानुरागी हों, तिस पर भी प्रेम न होना अस्वाभाविक है। मुंजाल और मीनल में संयम है। उनके सम्बन्ध में विषय-तृप्ति से भिन्न सूक्ष्म तादात्म्य की भावना गुजरात की महत्ता सिद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा में लीन हो गई है। एक क्षण-भर की ही निर्बलता सारे तेजस्वी सम्बन्ध की शोभा बढ़ाती है। परन्तु यह तो कहानी लिखने के बाद का उसका पृथक्करण है।

मुंजाल और मीनल मेरी कल्पना के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। माँ अपने बच्चों को ससंकल्प निर्मित नहीं कर सकती। मैं अपने इन पात्रों को ससंकल्प निर्मित नहीं कर सका। वे मेरे प्राण के प्राण थे, मेरी अस्थि की अस्थि थे। मैं कलाकार के रूप में अनजाने ही अपने स्वधर्म का अनुभव कर रहा था।

यदि मैं कलाकार हूँ, तो कलाकृति का सृजन करने का मुझे अधिकार है। मेरी सृष्टि जिस प्रकार पाठक को सजीव मालूम हो, मेरी कल्पना की सन्तानें मानवता से छलकती प्रतीत हों, तभी मेरी सृजन-कला सफलता प्राप्त कर सकती है, और यदि मेरी निर्मित सृष्टि के स्त्री-पुरुषों में पाठक की कल्पना में घर करने की शक्ति हो, तो उस शक्ति से ही उनका अस्तित्व में आने का अधिकार सिद्ध हो जाता है। मीनल और मुंजाल यदि प्रचण्ड मानवता के अधिकारी बनकर पाठक के हृदय में निवास कर सकते हैं, तो उन्हें जन्म लेने का अधिकार क्यों नहीं हो सकता? यदि उनकी मानवता कृत्रिम या शिथिल होगी, तो वे मर जाएँगे और जगत् को इससे कभी दुःख न होगा।

परन्तु जब मैंने उनका सृजन किया, तब मुझे पता नहीं था कि गुजराती साहित्य-प्रणाली उभरे हुए मनुष्यों के स्वाभाविक व्यवहार को साहित्य-कृति में पढ़कर—दिलचस्पी से पढ़कर भी—व्याकुल हो उठती है।

'पाटण नी प्रभुता' ('पाटन का प्रभुत्व') में एक धर्मान्ध यति धर्म-विषय करने के लिए प्रतिपक्षी को डुबा देता है। इससे अनेक नव-शिक्षित जैनों की भावना को ठेस पहुँची। यह असहिष्णुता का युग है। उन्हें ऐसा दिखाई दिया कि पिनल-कोड की १५३ (अ) धारा के अनुसार यह मैंने जातियों के बीच वैमनस्य उत्पन्न कराने का अपराध किया है। उन्होंने इसकी खोज की, कि कहानी लेखक 'घनश्याम' कौन है? उस पर फ़ौज-दारी करने के लिए सरकार की मंजूरी लेने का आन्दोलन शुरू हुआ। मुंजाल भी श्रावक था और इस बात की ओर तो भला उनका ध्यान जाने ही क्यों लगा था, कि जब तक मैंने उसे जीवित नहीं किया, तब तक वह केवल नामावशेष ही था।

एक रात को स्वर्गीय वाडीलाल मोतीलाल शाह—वा० मो० शाह के नाम से वे परिचित थे—एक मित्र को लेकर मेरे पास आये। वे बहादुर आदमी थे। जैन धर्म के इतिहास को वीर्यवान बनाने की उन्हें अभिलाषा थी। 'पाटन का प्रभुत्व' पढ़कर, मेरी चित्रित की हुई जैनों की महत्ता पर वे खुश हो गए थे। जब अनेक लोगों ने मुझ पर फ़ौजदारी करने की चर्चा चलाई, तब उन्होंने विरोध किया और उनकी बात जब न मानी गई, तब वे 'घनश्याम' कौन है, इसका पता लगाकर मुझे अभय-दान देने आये। उन्होंने कहा कि यदि फ़ौजदारी होगी, तो वे बचाव का खर्च देंगे और प्रमाण भी उपस्थित करेंगे। यह बात सुनकर मेरी हिम्मत टूट गई। मैं कहानी लिखता हूँ, इस बात को मैंने बड़ी कठिनाई से अपने सालिसिटर मित्रों से गुप्त रखा था। यह बात मालूम हो गई, तो उनकी दृष्टि में कानून के समान ईर्ष्यालु स्त्री को त्याग करने का अपराध मैंने किया है, यह प्रसिद्धि फैल जाएगी। जमीयतराम काका भी सहायता देना

बन्द कर देंगे। अब यदि 'दि एम्परस्टि, कन्हैयालाल मुंशी उर्फ़ घनश्याम व्यास' पर फ़ौजदारी हो, तो क्या बने ? धाराशास्त्री के रूप में मेरे भविष्य का अन्त ही हो जाए।

इस मुसीबत में मैं घबराता हुआ काका के पास गया।

"काका, मैं तो बड़ी मुश्किल में आ पड़ा हूँ।"

"कैसी मुश्किल भाई ?"

"मैंने कहानियाँ लिखी हैं।"

"मैं जानता ही था कि तुमसे सीधी तरह व्यवसाय नहीं होने का।" सख्ती से काका ने कहा, "कैसी कहानियाँ ?"

"वेरनी वसूलात···"

चमत्कार हुआ। काका के मुख पर से क्रोध की रेखाएँ अदृश्य हो गईं। आश्चर्य छा गया, आश्चर्य हट गया, मुसकान फैल गई। परन्तु मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

"तनमन तुम्हारी लिखी है ? मैं तो सोचता था कि···ने लिखी है। Wonderful! डुमस के परिच्छेद तो मैंने अनेक बार पढ़े हैं। और जगत तो मालो···भाई[1] हैं।"

इस व्यावहारिक मनुष्य के हृदय में तनमन को इस प्रकार बसा हुआ देखकर मेरा भय दूर हुआ और मेरा मुख खिल उठा।

"परन्तु काका, मैंने 'पाटन का प्रभुत्व' लिखा है।"

और वाडीलाल शाह की बताई हुई सारी बातें मैंने विस्तार से उनसे कहीं।

"अब कर चुके फौजदारी। काग़ज़ात गुलाबचन्द के पास गये हैं न ? ठीक, कल लाइब्रेरी में देखा जाइगा।"

दूसरे दिन बारह बजे लाइब्रेरी में काका अपने दरबार में शोभायमान थे। गुलाबचन्द दमनिया सालिसिटर आये।

"गुलाबचन्द, इधर आओ" काका ने बात छेड़ी, "तुमने इन्हें

---

१. उनके एक परम मित्र।

पहचाना ? ये हैं मि० मुन्शी, अच्छा काम करते हैं। तुम्हें वह डुम्मसवाली कहानी याद है क्या—तनमन की ? तुम, कबलभाई और मैं जिसके विषय में बात कर रहे थे···?"

"हाँ-हाँ, वह कहानी मैंने सारी पढ़ी है। A fine book···"

"परन्तु भाई, इस पर तुम्हारे जैनी फौजदारी करने जा रहे हैं। इसने 'पाटन का प्रभुत्व' लिखा है।"

"Nonsense ! अध्यक्ष ने मेरे पास वह पुस्तक भेजी है। उसमें जाति-विग्रह जगाने का अपराध कहाँ से आया ! Absurd ! Don't worry, young man."

यह विषय इस प्रकार समाप्त हुआ। इसके पश्चात् अनेक मित्रों की ओर से मुझे सूचना मिली कि मैं कुमारपाल के विषय में कहानी लिखूँ, तो मुझे पाँच सौ रुपये पारिश्रमिक मिलेगा। मुझे गुस्सा आ गया और मैंने उत्तर दिया—

"पैसे कमाने के लिए मैं हाईकोर्ट में आया हूँ। भाग्य में होगा, तो वहाँ पैसे मिल जाएँगे। ईश्वरेच्छा होगी तो कुमारपाल पर कहानी लिखूँगा, पर पहले पैसे लेकर तो हरगिज़ नहीं लिखूँगा।"

बारह

इतिहासकार और उपन्यास-लेखक जिस प्रकार मनुष्य का पृथक्करण करते हैं, उसी प्रकार इस समय मैं भी अपना पृथक्करण कर रहा हूँ। वह वस्तु लोभ से हुई और यह देश-भक्ति से। वास्तव में जब यह कृत्य मनुष्य करता है, तब उसमें वही शक्ति-अशक्ति व्यक्त होती है, जिसका कि वह पुंज होता है। उसका आशय क्या है और वह एकरूप है या नहीं, यह भी उसकी समझ में नहीं आता। परन्तु आज सत्ताईस वर्षों में मैं इतना कह सकता हूँ कि जब से मैंने मुंजाल की कल्पना की, तब से मुझमें गुजरात की अस्मिता जागृत हुई।

१९१५ में गुजरातियों में—कुछ साहित्यकारों को छोड़कर—राष्ट्रीय

या सांस्कृतिक अस्मिता नहीं थी। 'जय जय गरवी गुजरात' एक-मात्र प्रसिद्ध गीत था; सामुदायिक संज्ञा नहीं थी। अस्मिता की वह मूर्ति 'साहित्य-परिषद्' भी थोड़े-थोड़े वर्षों बाद लगती और बिखर जाती थी। गुजराती साहित्यकार व्यक्तिगत काम करते थे। सामुदायिक प्रयत्न कदाचित् ही किया जाता था। राजनीतिक क्षेत्र में गुजरात का स्थान था ही नहीं। कुछ गुजराती बंगाल से राष्ट्रीयता की भावना लाए थे। मैं चन्द्रशंकर के मंडल के सिवा और किसी के संसर्ग में नहीं आया था। नर्मदा की कृतियों से मैं परिचित नहीं था। मैं कुछ-कुछ यह मानता था कि राष्ट्र-धर्म का पालन करने में प्रान्तीय भक्ति अन्तराय-रूप बनेगी।

उस समय गुजरात का इतिहास नहीं था। मैं अभी रणजीतराम से नहीं मिला था। मैंने फार्बस रासमाला के सिवा और विशेष कुछ नहीं पढ़ा था। परन्तु षड्रिपुमण्डल और गुर्जर-सभा के सम्पर्क से मुझे गुजराती साहित्य के प्रति प्रेम हो गया। साहित्य के इस स्पर्श द्वारा मैंने गुजरात के महत्त्व की कल्पना की। १६१६ में 'पाटन का प्रभुत्व' के उपोद्घात में मैंने लिखा—'गुजरात एक महावृक्ष है। उसकी जड़ में परमात्मा श्री कृष्ण का कर्मयोग छिपा हुआ है। उसकी डालियों पर दयानन्द और गांधी की[1] कोंपलें फूटी हैं।'

इस महत्त्व के विधायक की खोज में कल्पना ने मेरी प्रभाव-वृत्ति की सहायता से मुंजाल मेहता को जन्म दिया। इस प्रकार मुंजाल मेरी गुजरात की अस्मिता की सन्तान और पिता दोनों है।

'पाटन का प्रभुत्व' लिख जाने पर खुशालशाह ने गद्गद् हृदय से उसका स्वागत किया, और एक-दो परिवर्तन भी बताए। वे बैरिस्टर होकर आए और तुरन्त ही 'सेण्ट जेवियर्स कॉलेज' में लेक्चरर नियुक्त हो गए। उनके

१. पहले संस्करण में 'गुजरात' के संपादक ने मेरा लिखा 'गांधी' शब्द हटाकर नर्मद रख दिया। मैंने रणजीतराम पर लिखे लेख में मूल वाक्य रखा था। देखिए मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो' का 'रणजीतराम' (१६१७) पृष्ठ ६१।

रणजीतराम के स्वर्गवास पर मैंने उन्हें जो स्मरणांजलि अर्पित की थी, उसमें मैंने उनका ऋण माना था।

'मेरी लेखन-प्रवृत्ति निर्जीव और अपूर्व थी, फिर भी उनकी मीठी, अपरिचित वृत्ति ने उसे उत्तेजना दी; और उसे नवीन दिशा दिखाई। थोड़े समय बाद मेरी आदत हो गई कि मैं कुछ लिखता, तो उसके लिए उनकी सम्मति की प्रतीक्षा करता। मैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यदि वे न होते, तो मेरी दूसरी ऐतिहासिक कहानी 'गुजरात के नाथ' ('गुजरात नो नाथ') प्रस्तुत रूप में लिखी जा सकती या नहीं। उस कहानी के लिए जब भी आवश्यकता होती, वे साधन एकत्र कर दिया करते थे। जब भी आवश्यकता होती, तभी वे अपनी विचारशील सम्मति से मुझे मार्ग दिखलाने को तत्पर रहते थे।'

मेरे मन में रमी हुई गुजरात की अस्मिता की भावना ने उनके साहचर्य से प्रकट स्वरूप प्राप्त किया, और उन्हें अंजलि देते हुए उनकी विशिष्टता को मैंने इस प्रकार प्रदर्शित किया—

'रणजीतराम व्यक्ति नहीं थे—एक भावना थे, गुजरात की राष्ट्रीय अस्मिता (Self-consciousness) के वे अवतार थे। उसी के लिए वे जीवित थे, उसी के लिए उन्होंने त्याग-वृत्ति धारण की, उसी के लिए वे नये-नये मनुष्यों के संसर्ग में आने के लिए अधीर रहते थे, उसी के लिए वे सब-कुछ सहकर सबको उस भावना से प्रेरित करने के प्रयत्न करते थे। उनके हृदय में एक ही विचार था—हमारी संस्कृति कब विजय प्राप्त करेगी; और इन सबके परिणामस्वरूप कब नवीन गुजरात अवतरित होगा? उनकी दृष्टि के आगे नवीन गुजरात केवल स्वप्न नहीं था, वरन् एक सत्य था। वे सबको केवल एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित करते थे—गुजरात के गौरव, एकरूपता और अस्मिता की ओर।'[१]

इस प्रकार गुजरात की अस्मिता मेरे जीवन में एक प्रचंड बल बनकर रही और आज जब मैं भूतकाल की ओर दृष्टि डालता हूँ तब यह

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो' का 'रणजीतराम' (१६१७), पृष्ठ ८७-६०।

स्पष्ट रूप से देख सकता हूँ कि वह बल मेरे साहित्य और जीवन के अनेक प्रसंगों को एकरूप बनाने में समर्थ सिद्ध हुआ है।

तेरह

चन्द्रशंकर ने जब मेरा हाजी मुहम्मद अलारखिया शिवजी से परिचय कराया, तब वे 'सदी' निकालने के अनेक वर्षों के स्वप्न को सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। कला के सम्पूर्ण प्रदेश की उनकी जानकारी, योग्यायोग्य सजावट, निश्चित करने का विवेक और कला के विकास में उनका विश्वास—ये सब ऐसे थे कि मैं भी उनकी ओर आकर्षित हुआ। वे मुझे अपने एक खोजा मित्र के पास ले गए और उन्होंने मेरे भविष्य में लिखे जाने वाले पाँच उपन्यासों के अधिकार खरीद लेने की इच्छा प्रकट की। मैंने केवल 'बीसमी सदी' के लिए 'गुजरात के नाथ' लिख देने का वचन दिया।

रविशंकर रावल उस समय उदीयमान कलाकार थे। उन्होंने उसके लिए चित्र तैयार कर देना स्वीकार किया।

हाजी मुहम्मद का घर साहित्य और कला-प्रेमियों के क्लब के समान था, और मैं जब भी वहाँ जाता, तभी किसी कलाकार या साहित्य-प्रेमी से मेरा नया परिचय होता था। हाजी मुहम्मद बातचीत में कम भाग लेते, परन्तु उसकी अग्नि मन्द होने पर उसे दो-चार बातों से प्रज्ज्वलित कर देते थे। जब उनका अवसान हुआ, तब मैंने 'स्मरणांजलि' में लिखा—

'वह कला का भक्त था। संगीत, नाटक, अभिनय, नृत्य, कविता, कहानी, चित्र और शिल्प-कला—इन सब रूपों का वह पूजन करता था। वह सदा भक्ति-भाव में ही लीन रहा, कभी समालोचक नहीं बना और न बनने की इच्छा ही प्रकट की। भारत में—गुजरात में कला का शौक बढ़े, कलाकारों का मूल्य आँका जाए, कलामयता प्रसारित हो, यही उसके जीवन का आदेश था। प्रत्येक कोटि के कलाकार—कवि, नाटककार, कथाकार और हास्य-लेखक, चित्रकार तथा शिल्पी—सबके लिए उसे

मोह था और सबको वह उत्साहित करता था। ग्रीक कला-विधायकों के सौन्दर्य-आलेखन या भारतीय कला-विधायकों की आध्यात्मिकता के प्रति उसे पक्षपात नहीं था, न ही श्री नानालाल के मोहक शब्द-जाल के प्रति या श्री नरसिंहराव की भावना-प्रधान सरलता के प्रति था। जहाँ भी कला के दर्शन होते, वहीं वह प्रणिपात करता था।[1]

नरसिंहराव भाई 'बीसमी सदी' में बहुत दिलचस्पी लेते थे। इसलिए हम लोग बहुधा हाजी मुहम्मद के यहाँ इकट्ठे हुआ करते थे। कभी-कभी बांदरा के ब्ल्यू बँगले में भी मैं जाया-आया करता था। 'पाटन का प्रभुत्व' उन्हें बहुत पसन्द आया था, और 'गुजरात के नाथ' की कहानी जैसे-जैसे छप रही थी, वैसे-वैसे उनकी ओर से सूचनाएँ मिलती रहती थीं। उनकी विवेचक दृष्टि बड़ी ही तीव्र थी। शब्द, भाव, घटना और वार्तालाप—सबको वे कठिन कसौटी पर कसा करते थे। परन्तु पहले वे जितने भय-जनक मालूम होते थे उतने अब नहीं मालूम होते थे।

जीवन-भर उन्होंने साहित्य की सेवा की थी; सुख और दुःख में साहित्य ही उनका साथी था। तलवार की धार के समान विवेचक बुद्धि के कारण वे गुजराती साहित्य में सर्वमान्य न्यायाधीश के सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनके सद्भाव से मुझे प्रेरणा मिलने लगी। १९१८ में जब 'गुजरात के नाथ' बीसमी सदी' में समाप्त होने को आया, तब मैंने उनसे उसका उपोद्घात लिख देने की प्रार्थना की। उन्होंने उत्तर दिया—

ब्ल्यू बंगला, बांदरा,
बंबई, १४-३-१९१८

श्री भाई कन्हैयालाल,

सस्नेह नमस्कार।

श्री नेत्रमणिलाल ने थोड़ा-सा माँगने की अपेक्षा अधिक लम्बा कदम रखा है। पर कोई हर्ज नहीं। कहानियों की फ़ाइलें भेजीं, इसके लिए

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो'—'हाजी मुहम्मद' (१९१९) पृष्ठ १५२-५३।

कृतज्ञ हूँ। Guillotine पर चढ़ने वाले अपराधी के विषय में तुम जो लिख रहे हो, उसे मैं Serious नहीं मानता। यदि वह Serious हो तो उससे तुम्हारे अपने प्रति और मेरे प्रति भी अन्याय होता है। 'पाटन का प्रभुत्व' और 'गुजरात के नाथ' इन दो कहानियों के विषय में मैंने तुम्हारे आगे जो सम्मति प्रकट की थी, वह यदि स्मरण हो, तो फिर भय के लिए स्थान नहीं है। और भय किसका है? मैं भयानक हूँ? मुझमें कोमल भाव का अंश बिलकुल नहीं है?

अत्र कुशलं, तत्रास्तु।

शुभचिन्तक—नरसिंहराव

नरसिंहराव भाई ने जो उपोद्‌घात लिखा, उसमें गोवर्धनराम के साथ मेरी तुलना की। परिणामस्वरूप मेरे प्रति अनेक मित्रों का प्रेम पहले से कम हो गया।

उन दिनों प्रो० बलवंतराय कल्याणराय ठाकुर भी मुझमें बड़ा रस लेने लगे थे। ज्योंही वे आते, त्योंही अपने लाक्षणिक विनोद से कहते—''आ जाऊं क्या? यदि चाय बनवानी हो, तो तीन-चार प्याले बनवाना। इससे कम बनवाओगे तो मेरा काम न चलेगा।'' बालूभाई मुझे सदा नारियल का स्मरण दिलाते थे। उनकी दिखावटी कर्कशता को भेद-कर यदि उनमें बसे हुए सद्‌भाव और रसिकता के मीठे पानी को पीने का सौभाग्य आपको प्राप्त होता, तभी आप उनकी आन्तरिक सरसता से परिचित हो सकते थे। परन्तु इस प्रकार ऊपर का आवरण दूर करना बड़ा कठिन था। मेरे प्रति उन्हें पहले से ही ममता थी। 'वेरनी वसूलात' जब पुस्तक रूप में छपी, तब उसके साथ सादे काग़ज़ जोड़कर, उसमें उचित संशोधन करके मुझे देते हुए उन्होंने कहा—

"जब फिर से छपेगी, तब काम आएंगे।"

बालूभाई की साहित्यिक दृष्टि बड़ी ही सूक्ष्म थी। उनकी सरसता की भावना भी सूक्ष्म थी। उनकी विवेचन की पद्धति तीव्र थी। साथ ही युग के बहाव में भी अपनी पद्धति के साथ चिपके रहने की उनमें

विचित्र शक्ति थी।

उन वर्षों में उन्होंने मुझे बड़ा मार्ग-दर्शन कराया। 'पत्रकारिता और साहित्य में शत्रुता है। यदि पत्रकार बनोगे, तो साहित्य के झरने सूख जाएँगे।' एक बार यह कहकर उन्होंने मुझे रोका था। उन्हें यह भी भय था कि व्यवसाय में पड़कर मैं साहित्य को छोड़ दूँगा। यह बात वे दावे के साथ कहते थे। उनके एक अंग्रेज़ी पत्र को मैंने अमूल्य चेतावनी समझकर सँभालकर रख छोड़ा है; उस चेतावनी के ऋण को मैं आज स्वीकार करता हूँ, यद्यपि अपने स्वभाव से निथरती हुई भावनाओं का भक्त मैं उस शिक्षा से लाभ नहीं उठा सका।

वह पत्र इतना सुन्दर है कि उसे यहाँ उपस्थित करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—

पूना, २७-८-१५

प्रिय भाई मुन्शी,

हानि हम दोनों की हुई है, मुझे विशेष। कारण, कि मैंने आशा की थी कि यहाँ पूना की शान्ति में तुम्हारे साथ कुछ घण्टे बिताए जा सकेंगे और हम एक-दूसरे के विशेष परिचय में आ सकेंगे।

परन्तु तुम्हारा व्यवसाय तुम्हें निगलने लगा मालूम होता है। मैं तुम्हें एक चेतावनी देता हूँ। यह तुम्हारी बुद्धि, प्रतिभा सभी को निगल जाएगा। मैं ऐसे केवल दो पुरुषों को जानता हूँ, जिन्होंने व्यवसाय के प्रति पूर्णरूप से कर्त्तव्य-पालन करने पर भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा की थी; वे दो—एक स्वर्गीय और दूसरे जीवित—एक गुजरात के सुप्रसिद्ध दूसरे लगभग अदृश्य हुई पीढ़ी के भारतीय समाज-सेवकों में सबसे महान् और कुशल;—एक गोवर्धनराम त्रिपाठी और दूसरे मेरे गुरु राजकोट वाले सीताराम नारायण पंडित। परन्तु वे दोनों असाधारण बुद्धिशाली थे। पंडित इस समय इतने वृद्ध और अशक्त हैं कि उनका अब तक जीवित रहना एक आकस्मिक योग ही है। अत: उनके विषय में वर्तमान काल की अपेक्षा भूतकाल का प्रयोग अधिक उचित है। ये ऐसे पुरुष थे

जिनके लिए सम्पत्ति तुच्छ वस्तु थी। जीवन की सादगी ही उनके लिए जीवन का सच्चा रूप थी। और उनमें संकल्प बल—असली फौलाद-जैसा संकल्प-बल, हम मनुष्यों का सुपरिचित बड़े-से-बड़ा बल—जन्म-सिद्ध या प्रयत्नपूर्वक पोषित किया हुआ था।

तुममें प्रतिभा है, परन्तु यदि तुम (१) सादे जीवन के प्रति सच्चे अनुराग और (२) फौलादी संकल्प-बल को पोषण नहीं दोगे, तो वकालत की यह राक्षसी तुम्हें सारा-का-सारा—पगड़ी के छोर से लेकर पैर के तलुए तक—तुम्हारी प्रतिभा और सब-कुछ निगल जाएगी। तुम युवक हो, और यह तुम्हारा असाधारण सौभाग्य है कि तुम्हें पहले से चेतावनी मिल रही है। तुम कुशलपूर्वक होगे, ऐसी आशा रखते हुए,

तुम्हारा शुभचिन्तक

ब० क० ठाकुर

लैटिन कवि वर्जिन ने कहा है कि स्वर्ग में कवि लोग एक-दूसरे के हाथ-में-हाथ डाले घूमते रहते हैं; वहाँ इस प्रकार का घूमना तो भाग्य में जुड़ा होता है; पर इस जगत् में कवि एक-दूसरे के साथ मिलकर नहीं रह सकते। यह लगभग विश्व-नियम हो गया है, और यह बात तो प्रसिद्ध ही थी कि नरसिंहराव भाई और बलूभाई में सच्चा प्रेम था।

इन प्रखर विद्वानों के इतने अधिक सद्भाव को सहन करना मेरे लिए कठिन हो गया। नरसिंहरावभाई मुझे मिलते, तो 'तुम्हारे बलूभाई' या 'तुम्हारे ब० क० ठा०' की खबर पूछते। बलूभाई मिलते, तो 'उन्हें न० भो० दि०' की चिन्ता होती। एक-दूसरे के विरुद्ध बोले बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि 'गुजरात के नाथ' का नरसिंहरावभाई द्वारा लिखा हुआ उपोद्घात पढ़कर बलूभाई अप्रसन्न हुए थे।

बलूभाई में एक बड़ा गुण था—जिसे वे अपनाते, उसमें पूरी-पूरी दिलचस्पी लेते थे; उसकी छोटी-से-छोटी दिनचर्या भी उनके ध्यान से बाहर नहीं रहती थी और उसे सुधारने के लिए वे निरन्तर ज़ोर डालते

रहते थे। उनकी सलाह को अमल में न लाने से वे बुरा मान लेते थे। वे नये हितैषी जब मिलते, तब उनके मन को दुखाए बिना अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना मेरे लिए असिधाराव्रत के समान हो जाता था। मैंने उस व्रत को अंगीकार किया। कटु न्याय-वचनों को निगल जाने की स्वाभाविक शक्ति मुझमें थी ही।

चौदह

इन वर्षों में जब मैं माथेरान जाता, तब 'लक्ष्मी होटल' में ठहरा करता था। वहाँ उसका मालिक मेरे लिए एक अच्छा कमरा रख छोड़ता था। एक बार जब माथेरान पहुँचा तब होटल का मालिक स्टेशन पर मिल गया। उसने कहा कि मेरा कमरा कवि नानालाल ने ले लिया है और वे कहते हैं कि मुन्शी को मेरे लिए कोई आपत्ति नहीं होगी।

'वसन्तोत्सव' मेरी प्रिय पुस्तक थी, और है भी। इसलिए उसके रचयिता के साथ रहने का सुअवसर मिलने से मुझे बड़ी खुशी हुई। मैं नानालाल से मिला और कुछ ही घण्टों में हमारी एक-दूसरे के साथ खूब बन गई; मेरी खूब बन गई यह तो निश्चित है। खुशी की तरंग में होने पर नानालाल-जैसे विनोदी साथी का मिलना कठिन था। हम साथ-साथ घूमते, विविध विषयों पर बातें करते और रात को मैं उनके काव्य और गरबियाँ[1] गाया करता।

इस प्रकार साथ रहते हुए हमें चार-पाँच दिन हुए थे कि भूलाभाई और इच्छा बहन माथेरान आये। नानालाल के लिए भूलाभाई के संस्मरण बड़े पुराने थे—तब के, जब वे कवि के लड़के और भूलाभाई प्रोफ़ेसर थे। भूलाभाई को जब पता लगा कि मैं होटल में हूँ, तब वे आकर मुझे उस बँगले में रहने के लिए ले गए, जिसमें वे ठहरे हुए थे।

तीनेक दिनों के बाद जब भूलाभाई बम्बई वापस चले गए तब मैं फिर होटल में आ गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मुझे इसके लिए

१. स्त्रियों के राग में गाने की एक प्रकार की गुजराती कविता।

निःशब्द उलाहना दिया जा रहा है कि मैंने कविवर को छोड़कर भूलाभाई के साथ जाकर ठीक नहीं किया। नानालाल होटल के अन्य लोगों के साथ घूमने-फिरने जाने लगे। एक-दो दिन बाद उन लोगों को कवि के साथ ठीक न लगा और कवि पुनः हमारे साथ घूमने लगे।

जो लोग दूसरों के जीवन-सम्बन्धी विषयों के बीच में पड़ना धर्म समझ बैठते हैं, उनकी संगति असह्य हो जाती है।

कॉलेज की क्रिकेट-टीम के कैप्टन की तरह नानालाल मित्रों पर शासन करते थे। वे बम्बई आये और देवीदास सालिसिटर के यहाँ ठहरे। मित्रों के लिए आज्ञा-पत्र निकला—आज रात को नाटक में, कल एलिफेण्टा और परसों खाने पर। मेरे समय और शक्ति के लिए इतना भार उठाना असम्भव था, इसलिए मैंने इन्कार कर दिया।

१९२० में नानालाल कुछ महीनों के लिए बम्बई आये थे और शांताक्रुज़ में मित्रों के यहाँ रह रहे थे। तब मैं उनसे मिलने जाया करता था। कवि बड़ी कृपापूर्वक यह स्वीकार करते थे कि उनकी कृतियों के प्रकाश में आने के बाद दो बड़ी घटनाएँ घटित हुईं—एक तो 'सागर' की गज़लों की और दूसरी मेरे उपन्यासों की। जहाँ नानालाल जाते वहाँ फूट अवश्य पड़ जाती थी। शान्ताक्रुज़ में मास्टर और तारा बहन पर उनकी अपकृपा हो गई। उनके आचार-विचार पर आक्षेप होने लगे। जो मेरे लिए भाई-बहन के समान थे और जिनका जीवन शुद्ध और आदर्शमय था, उनके लिए कवि के कहने से मैं लज्जित होने या क्षमा-याचना करती हुई मनोदशा बनाने को तैयार नहीं था। चन्द्रशंकर दोनों को खुश रखने का प्रयत्न करते, इससे मैं रोज़ उनके साथ लड़ा करता था।

जब भी नानालाल से मिलता, तब वही प्रश्न—"वहाँ गये थे क्या?"

एक बार उन्होंने मेरे मुँह पर ही कहा—"यह मुन्शी मीठा ही बोला करता है। यहाँ, वहाँ और सब जगह।"

"हाँ, सच बात है। मैंने केवल कड़वा बोलने को ही जीवन का कर्तव्य नहीं माना है।" मैं नानालाल की डंडेबाज़ी से त्रस्त जगत् में

रहने को तैयार नहीं था।

फिर भी मैंने यथाशक्ति प्रयत्न करके उनके साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखा। १९२२ के दिसम्बर में जब मैं अहमदाबाद में लीला के पूर्वाश्रम में, काम से उसके घर ठहरा, तब मित्र-भाव से अन्तिम बार नानालाल से मिलने गया था। प्राणलाल देसाई साथ थे। उस समय सरदार बल्लभभाई पटेल पर कवि की अपकृपा हो गई थी।

जब कवि राजकोट छोड़कर अहमदाबाद आये थे, तब उनके मन में आकांक्षा रही होगी कि वे गांधीजी के प्रेरक और साहित्य-निर्माता बनेंगे। परन्तु गांधीजी के राज्य में तो जिसकी जितनी शक्ति और उपयोगिता थी, उतना ही उसका स्थान था। कवि का स्थान कवि-रूप में रहा। अहमदाबाद में जब कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब वहाँ नानालाल का व्याख्यान होने वाला था। उनकी पत्नी सौ० माणिक बहन जब सभा-मंडप में आ रही थीं, तब उन्हें न पहचानने के कारण एक स्वयंसेविका ने रोक लिया। कवि गरम हो गए। स्वयंसेविका ने माफ़ी माँगी। नानालाल ने कहा कि बल्लभभाई को माफ़ी माँगनी चाहिए। बात का बतंगड़ बन गया। झगड़ा गांधीजी के पास पहुँचा। गांधीजी ने फ़ैसला किया कि स्वयंसेविका को माफ़ी माँगनी चाहिए, बल्लभभाई को नहीं; उनका इसमें कोई दोष नहीं था।

गांधीजी की पचासवीं जन्म-तिथि पर जो कवि 'पचास-पचास घंटे बजवाया करते थे', वे गांधीजी और उनके अनुयायियों के विरोधी बन गए। बल्लभभाई को उन्होंने सन्देश भेजा—

"आ जाओ, स्थान नियत करके द्वन्द्व-युद्ध करने के लिए।" बल्लभ-भाई भी आखिर बल्लभभाई थे! उन्होंने जवाब में सन्देश भेजा—"मुझे स्थान नियत करने की आवश्यकता नहीं। जब भी और जहाँ भी तुम मिलोगे, वहीं तुमसे निबट लूँगा।"

दिसम्बर में जब मैं उनके घर गया, तब उनका मन इसी बात से भरा हुआ था। बात करते हुए मेरे मुख से बल्लभभाई का नाम निकल

गया और नानालाल उबल पड़े—

"बल्लभ···बल्लभ···" और एक घंटे तक यह पुराण मैं बड़े रस-पूर्वक सुनता रहा।

मित्र-भाव से इस प्रकार कवि मुझे अन्तिम बार मिले; बाद में लीला पर उनकी जो अपकृपा थी, वह मुझ पर भी हो गई। मैंने 'अविभक्त आत्मा' नामक नाटक लिखा; 'जया जयन्त' का यह दूसरा पार्श्व था। स्त्री और पुरुष—समतुल्य, प्रणयी और विवाह के योग्य हों, और फिर भी स्वेच्छा से विवाह न कर सकें, यह अस्वाभाविक, अमानुषिक मालूम हुआ। मेरी अपनी कला से लिखे हुए उस नाटक पर कवि को रोष उत्पन्न हुआ। और उसके बाद से कवि को मुझ पर रोष करने की मानसिक आवश्यकता पड़ गई है; इसके बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता।

दुर्वासा, परन्तु आखिर थे तो ऋषि न!

'Gujrat and its Literature' में गुजराती साहित्य में कवि के रूप में उनकी यश-गाथा मैंने मुक्त-कण्ठ से वर्णित की है।

मैं कवि को प्रशंसात्मक भाव से स्मरण करता हूँ और वे मुझे वैर-भाव से स्मरण करते हैं।

पन्द्रह

१९१६ की पहली अगस्त को बीसेण्ट की कांग्रेस को दी हुई नौ मास की अवधि समाप्त हो गई। लोकमान्य तिलक ने 'इंडियन-होमरूल लीग' स्थापित की। सितम्बर में बीसेण्ट ने मद्रास में 'ऑल इंडिया होमरूल लीग' की स्थापना की। थोड़े दिन बाद जमनादास, पी० के०, तैलंग और सेठ रतनसी ने हम लोगों को चायना बाग में एकत्र किया और 'ऑल इंडिया होमरूल लीग' की बम्बई की शाखा की स्थापना हुई। उसी वर्ष लोकमान्य ने हाईकोर्ट में की हुई अपील में जिन्ना को बैरिस्टर नियत किया और इस प्रसंग से उन दोनों का परिचय बढ़ा।

१९१४ में कांग्रेस के स्वीकार किये हुए कानून प्रयोग में लाये गए थे,

और सूरत के बाद जब लोकमान्य पहली बार लखनऊ-कांग्रेस में आये, तब उत्साह की सीमा नहीं थी। बीसेण्ट ने एक वर्ष में सारे हिन्दुस्तान में घूमकर डंका बजवाया था, अतः सर्वानुमत से उन्हें प्रथम स्थान मिला। कांग्रेस ने उनकी लीग को अपने एक अंग के रूप में स्वीकार किया।

जिन्ना ने कांग्रेस के उसी अधिवेशन में हिन्दू-मुस्लिम समझौता कराया। मुसलमान स्वराज्य के लिए लड़ने में मदद दें और हिन्दू उसके बदले मुसलमानों को कौमी मताधिकारी संघ का अधिकार प्रदान करें, यह लखनऊ-सन्धि काँग्रेस और मुस्लिम-लीग दोनों ने मान्य की।

इस लखनऊ-सन्धि की प्रशंसा हुई, परन्तु इससे हिंदू-मुस्लिम एकता नहीं हुई। आज वह विष का बिन्दु बन गई है। हिन्दू को स्वराज्य प्रिय है, मुसलमान को कौम। १६०६ में मिण्टो ने कांग्रेस की राष्ट्रीय एकता तोड़ने के लिए मुसलमानों को कौमी मताधिकारी संघ का अधिकार देना स्वीकार किया। जिन्ना ने उसका विरोध किया था। और बाद में जिन्ना ने उसी को पुनः कांग्रेस से स्वीकार कराया। "एक बार यह दे दो, तो मैं सात करोड़ मुसलमानों को साथ कर दूँ।" यह निमन्त्रण कांग्रेस ने स्वीकार किया—यह मान कर कि अब हिन्दू-मुस्लिम एकता हमेशा के लिए पक्की हो गई। परन्तु इस समझौते की नींव ही कच्ची थी। जब स्वराज्य की लड़ाई में मुस्लिम लीग की आवश्यकता होती, या कीमत देनी पड़ती, तब हिन्दू-मुस्लिम एकता दिल्ली की तरह 'दूरे अस्तः' हो जाती।

परन्तु उस समय हमने तो जिन्ना को हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैगम्बर समझकर उनकी कीर्ति फैलाई। हिन्दुओं के भोलेपन की सीमा नहीं है। महायुद्ध प्रचण्ड रूप से चल रहा था। १६१७ के मई मास में मेसोपोटेमिया में भारत सरकार की पैदा की हुई उलझन की रिपोर्ट विलायत में प्रकट हुई। उसमें कर्नल वेजवुड ने आग्रह किया कि भारतीयों को भारत की राज्य-व्यवस्था में बड़ा हिस्सा मिलना चाहिए; और मांटेग्यू ने इस रिपोर्ट की चर्चा करते हुए पार्लियामेंट में भारत सरकार को खूब फटकारा। १६ जून को यहाँ बीसेण्ट और उनके दो साथियों की धर-पकड़

हुई; और उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। देश में आन्दोलन जाग पड़ा और बम्बई की 'होमरूल-लीग' की पुनर्घटना हुई। जिन्ना उसके अध्यक्ष; बहादुरजी, जयकर, भूलाभाई और जमनादास उपाध्यक्ष; उमर सोमानी और शंकरलाल मंत्री; कानजी द्वारकादास कोषाध्यक्ष; चन्द्रशंकर, विभाकर मास्टर और मैं कार्यकारिणी-समिति के सदस्य थे; हार्निमेन और सैयद हुसेन उस समय 'बॉम्बे क्रानिकल' का संचालन करते थे, वे भी उसमें थे।

हमने तुरन्त ज़ोर-शोर से प्रचार करना आरम्भ किया। बम्बई में शांताराम की चालों को हम रोज गुंजाते थे। प्रति शनिवार और रविवार को दो-दो, तीन-तीन आदमी जाकर गुजरात में प्रचार कर आते थे। महाराष्ट्र में लोकमान्य प्रचार कर ही रहे थे। हम पत्रिकाएँ भी बाँटते थे। मैंने 'लोक-शासन', पर लीग के लिए निबन्ध तैयार किया और लीग ने ही उसे पहले प्रकाशित करके बाँटा।[1]

जुलाई में मेसोपोटेमिया की गड़बड़ पर चर्चा चलने के बाद सर ऑस्टिन चेम्बरलेन ने भारत-मंत्री का पद त्याग दिया और वह मांटेग्यू को मिला। अगस्त में बीसेण्ट छूट गईं। २० अगस्त को मांटेग्यू ने भारत में 'जिम्मेदार राजतंत्र की क्रमिक सिद्धि' करने का वचन दिया। बीसेण्ट के प्रयत्न इस प्रकार सफल हुए। हमारा उत्साह बढ़ा और हमने सबल प्रचार जारी रखा। सितम्बर में सर नारायण चंदावरकर की अध्यक्षता में हुई सभा में 'आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी' का चुनाव हुआ। चुनाव में लोकमान्य की लीग और हमारी लीग ने मिलकर नरम दल वालों को उड़ा दिया। बड़ी टीकाएँ हुईं। मत-निरीक्षकों पर आक्षेप किये गए, नरम दल के नेताओं ने 'टाइम्स' में सार्वजनिक जीवन की शुद्धि पर चर्चाएँ चलाईं। होमरूल लीगियों ने कांग्रेस पर अधिकार कर लिया।

नवम्बर में भारत-मंत्री मांटेग्यू भारत में आये। बीसेण्ट और लोकमान्य उन्हें दिल्ली-कांग्रेस में आने का निमन्त्रण दे आए। मांटेग्यू लिखता

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो' का 'लोक-शासन' (१६१६) पृष्ठ ६३-१४०।

है—'कांग्रेस में चला जाऊँ और लम्बा भाषण करूँ, इससे परिस्थिति बिगड़ने से बच जाएगी। परन्तु नौकरशाही इसे क्यों पसन्द करती ? मुझे रोक दिया गया।'

हमारी लीग ने मांटेग्यू के पास एक लिखित निवेदन भेजा। उसे तैयार करने वाली समिति में हार्निमेन, उमर और मैं, तीन थे। हार्निमेन की बहादुरी और भारत के लिए उसके स्वतन्त्रता-प्रेम के प्रति मेरे मन में बड़ा मान उत्पन्न हुआ।

दिसम्बर में कलकत्ता में बीसेण्ट की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और तब से यह प्रथा चल पड़ी कि कांग्रेस का अध्यक्ष पूरे वर्ष के लिए राष्ट्रपति के रूप में काम करे। सी० पी० रामस्वामी कांग्रेस के मंत्री नियत हुए और जमनादास और उमर सोमानी उपमन्त्री बने। अनेक लोगों को यह अच्छा नहीं लगा; परन्तु बीसेण्ट को सारा वर्ष काम करना था और इससे उनका आग्रह था कि उन्हें विश्वासी मन्त्री चाहिए।

मांटेग्यू और चेम्सफर्ड ने भारतीय सुधार का मसविदा प्रकट किया। बीसेण्ट ने उस पर मुहर लगाई—"यह इंग्लैंड के देने योग्य नहीं है और भारत के लेने योग्य नहीं है।"

१९१७ से मैं बीसेण्ट के कुछ अधिक परिचय में आया। अगाध व्यवस्था-शक्ति, अपूर्व वाक्पटुता, अदम्य उत्साह और भारत के प्रति निराली भक्ति—इन चार गुणों से उन्होंने भारत में अग्रस्थान प्राप्त किया था। मैंने बचपन में उन्हें भड़ौंच में देखा था। श्वेत रंगों से मुग्ध हुए सैकड़ों भारतीयों ने उनके मुख से आर्यत्व के गुण-गान सुनकर खोई हुई श्रद्धा फिर से प्राप्त की थी। शिक्षित लोगों में पहले-पहल गीता का प्रचार उन्होंने किया था। आर्य-संस्कृति को उन्होंने अपनाया था। भारत को माता समझा था। अब वे उसके स्वतन्त्रता-संग्राम की सेनानी भी बन गईं। छोटे या बड़े मामलों में वे व्यवस्थित रूप से काम करती थीं। वे फिजूल में कागज़ फाड़तीं, तो उसके भी समान ही टुकड़े होते थे। उनकी नियमितता घड़ी के घंटों से भी अधिक अचल थी। उन्हें स्नेह प्राप्त करना

और सुरक्षित रखना आता था। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और वे कूटनीतिज्ञ भी थीं। उनका व्यक्तित्व प्रभावित और प्रेरित करने वाला था। वे व्यवहार में कर्मयोगी थीं। योगि-पद प्राप्त किये बिना भी राग-द्वेष से जितनी दूर जाया जा सकता है, उतनी दूर पहुँची हुई थीं।

आवश्यकता के समय उन्होंने भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम को नई प्रेरणा दी। अपने ज़माने में वे समस्त जगत् की अग्रगण्य स्त्री-नेता थीं। वे एक जगद्विख्यात नैतिक बल का रूप थीं। भावनाशीलता, स्वातन्त्र्य और आर्य संस्कृति का प्रचार करने में उन्होंने जीवन बिताया। वे जब तक जीवित रहीं, अंग्रेज़ों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त किये रहीं। जिस भारत को उन्होंने जन्मभूमि माना था, उसकी वे एक विधायक थीं। आगे जाकर यदि वे भुला दी गई थीं, तो यह उनके दोष से नहीं, वरन् श्वेत रंग से त्रस्त हुए भारत के उनका रंग न भूल सकने के दोष से, और उनके बाद ही तुरन्त एक ऐसे भारतीय आगे आये जिनके चारित्र्य, कर्मयोग, त्याग, कार्यदक्षता, राजनीतिज्ञता और भावनाशीलता के आगे कोई भी नहीं टिक सकता था। भारत के विधान-मन्दिर में बीसेण्ट के स्थान को अमर रखना कृतज्ञ भारतीयों का कर्तव्य है।

सोलह

१९१५ में जब मैं गांधीजी से पहली बार मिला था, तब से फिर उनसे मिलने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ था। १९१५ की २५ मई को उन्होंने साबरमती पर सत्याग्रहाश्रम स्थापित किया। सत्याग्रह की पुकार से १९१५ में वीरगाँव का भूमि-कर उठवा दिया। १९१७ में प्रतिज्ञा-पत्र से बँधे हुए मज़दूरों को विदेश ले जाने की पद्धति रद्द करवाई। उसी वर्ष चम्पारन में उनका सत्याग्रह सफल हुआ। १९१८ में खेड़ा का सत्याग्रह सफल हुआ। उसी वर्ष अहमदाबाद के मिल-मज़दूरों के संघ का नेतृत्व ग्रहण करके उन्होंने समझौता कराया; पंच का सिद्धान्त मिल-मालिकों से स्वीकार कराया और दुनिया के लिए एक उदाहरण-रूप मज़दूर-संघ

की स्थापना की। उनके विषय में उस समय के अनेक राजनीतिक पुरुषों का मत मांटेग्यू की डायरी के शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—

'सुविख्यात गांधी से मिला। वे समाज-सुधारक हैं; कठिनाइयों को खोजकर दूर करने की उनकी सच्ची अभिलाषा है; प्रसिद्धि के लिए नहीं, वरन् अपने देश-बन्धुओं की स्थिति सुधारने के लिए। दक्षिण अफ्रीका में भारतीय प्रश्न का जो निबटारा हुआ है, उसके सच्चे नायक वे हैं; वहाँ उन्होंने जेल भी काटी। बिहार में वे गली के मजदूरों की मुश्किलें हल करने में सरकार की सहायता कर रहे हैं। वे मजदूरों-जैसी पोशाक पहनते हैं, निजी लाभ का परित्याग करते हैं, हवा पर जीते हैं और शुद्ध भावना को व्यवहृत करते हैं।' (नवम्बर १९१७)

१९१८ की २७ अप्रैल को वायसराय लार्ड चेम्सफर्ड ने दिल्ली में युद्ध-सम्मेलन किया। गांधीजी उसमें शामिल हुए। हिन्दी में भाषण करके सारे भारत का उपहास सहा, और उसके बाद फौज में भरती करने का काम आरम्भ किया। हम इस प्रवृत्ति के विरोधी थे। अगस्त में लार्ड विलिंगडन की अध्यक्षता में बम्बई में 'युद्ध-सम्मेलन' होने वाला था। मुझे ऐसा स्मरण है कि उस विषय पर विचार करने के लिए बीसेण्ट, लोकमान्य तिलक, गांधीजी, जिन्ना और हमारी समिति के अनेक सदस्य जमनादास द्वारकादास के ऑफ़िस में एकत्र हुए थे। लोकमान्य ने कहा कि यदि सरकार मेरी शर्तें स्वीकार कर ले, तो मैं युद्ध में मदद करूँ। 'युद्ध-सम्मेलन' में क्या करना चाहिए, इस विषय में वहाँ निर्णय हुआ।

जब 'युद्ध-सम्मेलन' हुआ, तब लोकमान्य बोलने के लिए खड़े हुए। वे यह कहने लगे कि किस शर्त पर युद्ध में मदद करेंगे। विलिंगडन ने उन्हें रोका और वे सभा छोड़कर चले गए। बाद में जिन्ना रह गए। उन्होंने सरकार को खूब फटकारा। दूसरे या तीसरे दिन शान्ताराम की चाल में लार्ड विलिंगडन के व्यवहार का विरोध करने के लिए सभा हुई। गांधीजी उसके सभापति बने। इस प्रकार वे पहली बार 'होमरूल-लीग' के वर्तुल में आये।

इस घटना के कुछ दिनों बाद टाउन-हॉल में सभा होने वाली थी; उसमें हमारी लीग के चार आदमियों—जिन्ना, जयकर, भूलाभाई और हार्निमेन—को बोलने का आमन्त्रण मिला। लार्ड विलिंगडन उसका सभापतित्व ग्रहण करने वाले थे। हमारी समिति ने निश्चय किया कि उसने लोकमान्य तिलक का अपमान किया था, इसलिए उसके सभापतित्व में होने वाली सभा में हमारे प्रतिनिध नहीं जाएँगे। भूलाभाई को यह उचित नहीं मालूम हुआ, इसलिए उन्होंने 'होमरूल लीग' से इस्तीफ़ा दे दिया और उस सभा में गये। भूलाभाई ने लीग से इस्तीफ़ा देकर हमारे व्यवसाय के निजी सम्बन्ध को देखते हुए यह मान लिया कि उससे इस्तीफ़ा देना मेरा भी कर्तव्य है। लीग के साथ मेरा सम्बन्ध इतना निकटवर्ती और उनसे स्वतन्त्र था कि ऐसा करने में मुझे अपना कर्तव्य न मालूम हुआ। मेरे जीवन पर इससे पड़ा हुआ प्रभाव मैं आगे वर्णित कर चुका हूँ। उन्हीं दिनों गोधरा में प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। वहाँ जिन्ना भी आये। एक मुसलमान, हिन्दू-मुस्लिम एकता का पक्षपाती हो, फिर हिन्दुओं की भावुकता का क्या कहना ? गोधरा की जनता ने गाया—

"आओ भाई जिन्ना,
पधारो भाई जिन्ना;
राम-रहमान को एक मानने वाले।"

उस सम्मेलन में अध्यक्ष थे गांधीजी, और उन्होंने जिन्ना से पहली बार गुजराती के बुलवाया। जिन्ना को उस समय अंग्रेजी और टूटी-फूटी कच्छी-गुजराती के सिवा अन्य कोई भाषा नहीं आती थी।

उस समय अछूतों का पहला सम्मेलन हुआ और गांधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण का झंडा उठाया।

जुलाई में मांटेग्यू-चेम्सफर्ड का मसविदा प्रकट हुआ। सितम्बर में उस पर विचार करने के लिए बम्बई में कांग्रेस की एक विशेष बैठक हुई। हसन इमाम उसके अध्यक्ष थे। हमारे-जैसे परदा उठाने वालों और विंग खींचने वालों को रंगभूमि के पीछे होने वाली घटनाओं का ठीक-ठीक पता

रहता था। १६१७ की कांग्रेस से बीसेण्ट और लोकमान्य में मतभेद हो गया था। बीसेण्ट का झुकाव समझौते की ओर था। लोकमान्य सदैव उग्रपक्षी रहे थे। बीसेण्ट का मंडल चाहता था कि दीनशा पिटिट स्वागत समिति के अध्यक्ष बनें, परन्तु अध्यक्ष बने विट्ठलभाई पटेल। विषय-विचारिणी-समिति में देशबन्धु सी० आर० दास और सत्यमूर्ति ने बीसेण्ट का विरोध किया। वे सम्पूर्ण प्रान्तीय स्वाधीनता चाहते थे। बीसेण्ट के भाषण के विषय में उस समय लोकमान्य के व्यवहृत किये हुए शब्द मुझे याद हैं—'स्त्रीयाणाम् रोदनम् बलम्'।

सत्रह

११ दिसम्बर को शेरिफ ने लार्ड विलिंगडन को मान-पत्र देने के लिए बम्बई के नागरिकों की एक सभा की। यह न्याय-तुला पर सरकारी छाप लगाने का एक यंत्र था और अधिकांश में है। हमे इच्छित अवसर मिल गया। इस सभा में विरोध प्रदर्शित करने के लिए हम लोगों ने बहुत पहले से प्रचार करना शुरू किया। जिन्ना बहादुर नेता थे। काम की जिम्मेवारी लेने के बाद सिर हथेली पर रखकर काम करते थे। वे किसी प्रकार की खटपट में नहीं पड़ते थे, पर हिम्मत और सफाई से उसे तोड़ डालते थे। उस समय हम लोग अधिक परिचय में आये। आज भी हमारी भिन्न रुचि को देखते हुए यह कहना कठिन है कि उनका मुझ पर प्रेम था या नहीं; परन्तु सद्भाव पूर्ण रूप से था। व्यवसाय में भी मेरे मन में उनके लिए बड़ा सम्मान था। उनको मुझसे बड़ी आशा थी। उनके अनेक सिद्धान्त बड़े कठोर थे, और मुझे प्रशंसा-मुग्ध करते थे। वे कभी चन्दे के लिए पैसे नहीं देते थे। 'मैं सार्वजनिक जीवन के लिए अपने समय की बलि देता हूँ, यही मेरी चन्दे की सहायता है।' सार्वजनिक जीवन के विषय में वे अविक्रेय थे। एक बार किसी ने धारा-सभा में किसी विषय पर प्रश्न करने की सिफ़ारिश की। उन्होंने स्वीकार कर लिया। दो-चार दिनों बाद उन्हीं लोगों ने किसी अन्य काम के बहाने से

सालिसिटर के द्वारा १०० गिन्नियाँ लिखकर उन्हें ब्रीफ भिजवाई। जिन्ना ने ब्रीफ देखी, उसका रहस्य समझा और उसे चेम्बर के बाहर सालिसिटर के पीछे फेंक दिया। "मैं जो सवाल करने वाला हूँ, उसकी कीमत दे रहे हो ? मैं ब्रीफ भी नहीं लूँगा और सवाल भी नहीं करूँगा…।"

उन्हीं दिनों उनके विवाह का अवसर उपस्थित हुआ। सर दीनशा पिटिटकी सत्रह-वर्षीय पुत्री रतु पिटिट के साथ उनका प्रेम-सम्बन्ध हो गया और दोनों को एक-दूसरे के साथ विवाह करने की इच्छा हुई। पारसी कौम में एक बड़ा ऐक्य है—जब अपनी कौम पर आक्रमण होते दीख पड़ता है, तब सब मिल जाते हैं। जिन्ना पर धिक्कार की वर्षा हुई। रतु पिटिट पर माता-पिता और कौम ने मनमानी की। मामला कोर्ट में आया। हमारी बॉर-लाइब्रेरी में पारसी बैरिस्टरों की टीकाखोरी की सीमा नहीं थी। सुने न जा सकने योग्य काव्य रचे गए। इस तूफान में जिन्ना अकेले पर्वत के समान अचल और स्थिर खड़े रहे। उनके बचाव में मैं भी अनेक के साथ मार-पीट पर उतर आता था।

श्रीमती जिन्ना से मैं बाद में मिला था, जमनादास के यहाँ, होमरूल लीग में और कभी-कभी जिन्ना के चेम्बर में। ऐसी तेजस्वी स्त्री मैंने कदाचित् ही देखी है। तलवार की धार की तरह उनकी जिह्वा चलती थी। उनका स्वभाव भी बिजली की तरह तीक्ष्ण था। उस समय उनके मन में देश-स्वातन्त्र्य की अग्नि धधकती थी। जिन्ना उन्हें देशोद्धारक दिखलाई पड़ते थे। उनके पार्श्व में रहकर रण-कौशल दिखलाने की उन्हें बड़ी अभिलाषा थी।

उन दोनों की आँखों से झरती हुई प्रणय-ज्योति का सुगम स्मरण अब तक मेरे मन में बाकी है।

जिन्ना और उनकी पत्नी दोनों ने इस आन्दोलन में भाग लिया। जिन्ना के भाषण में अपरिचित तीक्ष्णता आ गई।

हार्निमेन 'क्रानिकल' में रोज़ विलिंगडन-पुराण का उल्लेख करते

और बम्बई की जनता में विरोधोत्साह की बाढ़ आती। जयकर—जिसके साथ मेरा गाढ़ा परिचय १९२२ के बाद हुआ—और हार्निमेन अंग्रेज़ी में हृदय-वेधक भाषण देते। परन्तु इस प्रचार में जमनादास द्वारकादास का विशेष रूप से हाथ था। उनकी मैत्री अनेक भेद-प्रभेदों के रहते हुए भी अभी तक टिकी हुई है। चौबीसवें वर्ष में कॉलेज से निकलने पर बीसेण्ट के इस लाड़ले पुत्र को, सार्वजनिक जीवन का नेता और करोड़पति फर्म का हिस्सेदार होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस प्रकार हवा में पतंग आकाश पर चढ़ती है, उसी प्रकार राजनीतिक गगन में वे चढ़े। उनका स्वभाव राजवंशी, परन्तु स्नेहमय था। वे दोनों हथेलियाँ भर-भरकर पैसे देते और बहादुरी से भाषण करते। वे अंग्रेज़ी अच्छी बोलते थे, परन्तु दो वर्ष से गुजराती वाक्पटुता का जो नया सम्प्रदाय स्थापित हुआ था, उसमें वे सबसे श्रेष्ठ थे। उनकी गुजराती अशुद्ध थी-—विशेषकर कच्छी के अपरिचित प्रभाव से, परन्तु शब्द-प्रवाह अस्खलित और भाव वैविध्य बहुत था। बीसेण्ट के संसर्ग से उनकी बोलने की पद्धति छटापूर्ण हो गई और क्षोभ की उसमें छाया तक न रही।

इस अवसर पर उनकी शक्ति ने गजब कर दिया। वे रोज़-रोज़ सभाओं में गर्जन करते और हज़ारों लोग नाचते, हँसते और तालियाँ बजाते। उस समय को मैं उनके जीवन का मध्याह्न मानता हूँ। २७ वर्ष के युवक को इतनी शक्ति प्रदर्शित करते देखकर सब चकित हो जाते थे।

विभाकर बड़े छटापूर्ण उच्चारण से, सफाई के साथ, मीठी आवाज़ में गुजराती बोलते थे। उनकी बोलने की पद्धति में ज़रा लाड़लापन आ जाता था। उनकी भाषा विशुद्ध थी पर भाव-वैविध्य बहुत कम था। अतः उनके भाषण वाक्पटुता के ऊँचे शिखर को स्पर्श न कर सके।

मास्टर बहुत अच्छा बोलते थे, शुद्ध और गौरवपूर्ण, सुन्दर शब्दों से अलंकृत। उनकी आवाज़ भी प्रौढ़ थी। वे घटनाएँ और उद्देश्य लगातार स्पष्ट रूप में उपस्थित करते थे। आरम्भ में चन्द्रशंकर बड़ी सुन्दरता से, प्रभावोत्पादक रूप में बोलते थे। उनकी आवाज़ मोटी, बोलने की

विधि लयपूर्ण और उनका शब्द-कोष समृद्ध था। वे बीच-बीच में रसीले चुटकुले भी बोलते जाते थे। दो वर्ष तक उन्होंने हम सबसे अधिक प्रचार किया, परन्तु वे अपनी शक्ति सुरक्षित नहीं रख सके। वे बड़ी बुलन्द आवाज़ निकालने लगे, चाहे श्रोता सौ हों या दस सहस्र। लोकरंजन के तत्त्व भी उन्होंने खूब मिलाए। बम्बई में उनके अनेक चुटकुले लोगों को ज़बानी याद हो गए थे। व्याख्यान देते-देते वे अपनी बनायी हुई कविता की पंक्तियाँ भी बोलते और बुलवाते थे—

"जब तक तन में आत्मा हो,
अजी तब तक होमरूल कहो।"

उनका एक दूसरा चुटकुला लोगों को बहुत पसन्द आया था। 'इस जन्म में मैं 'होमरूल-होमरूल' करते हुए मर जाऊँगा, और यदि अगले जन्म में कुत्ता बना, तब भी 'होमरूल-होमरूल' करते हुए भौंकूँगा।'

वर्षा में की हुई प्रचार-यात्रा के परिणामस्वरूप उन्हें दमे की बीमारी हो गई और उसके कारण उसके बाद के उनके अनेक वर्ष व्यर्थ बीते। जब गुजराती वाक्पटुता (Eloquence) और वाग्वैभव (Rhetoric) का विकास नहीं हुआ था, तब इन मित्रों ने नई प्रणाली शुरू की। उनके प्रयत्न के परिणामस्वरूप गुजराती व्याख्यान-पद्धति प्रौढ़, प्रभावशाली और समृद्ध हुई। ये सब, और मैं भी विलिंगडन के विरुद्ध प्रचार करने में लग गए।

११ दिसम्बर की अगली रात को हमने देर तक सभाएँ कीं, और सुबह के पाँच बजने से पहले पन्द्रह हज़ार आदमी टाउन-हॉल के आगे एकत्र हो गए। मान-पत्र देने वालों ने भी हॉल भरने के लिए हरकारों, मज़दूरों और बोहरों आदि को सवेरे, के चार बजे से टाउन-हॉल की सीढ़ियों पर बिठा रखा था। जिन्ना हमारे नायक थे। वे पुलिस कमिश्नर के साथ बात कर आए और यह निश्चय हुआ कि एक हरकारा या बोहरा यदि अन्दर जाए, तो एक हममें से भी अन्दर चला जाए। इस प्रकार सवेरे छः बजे सारा टाउन-हॉल भर गया। बाहर बम्बई की जनता का

समूह एकत्र होने लगा।

हॉल के अन्दर विनोद की सीमा नहीं थी। काई बोहरे का मज़ाक उड़ाता, कोई हरकारे की खिल्ली उड़ाता, कोई हमारे पक्ष वालों को भला-बुरा कहता, शोर-गुल होता, कुरसियाँ टूटतीं, सीटियाँ बजतीं और कभी-कभी हंसी-मज़ाक भी होता। अनेक पारसी लोग जिन्ना को न कहने योग्य वचन भी कहते थे। एक बार उन पर किसी ने हमला करने का प्रयत्न किया। थोड़ी-थोड़ी देर बाद पुलिस भी अन्दर आ जाती और शान्ति फैलाने का प्रयत्न कर जाती थी।

आठ-नौ बजे के लगभग बोहरों के लिए बिरयानी के खोमचे आने लगे। अभी सभा में दस घंटे की देर थी। बेचारे हरकारे और होमरूल लीगी मुँह बाए देख रहे थे। हमसे यह सहन न हुआ। हमने सलाह की, और मैं और छोटूकाका पुलिस की इजाज़त लेकर बाहर निकले और सामने एक ऑफ़िस में जा बैठे। आदमी भेजकर शहर से जितने भी मिल सके, पेड़े, बरफी, चिवड़ा, सेवगांठिये, आदि मँगाए और टाउन-हॉल में भेज दिए। होमरूल लीगियों ने भी खूब खाया और बेचारे अनजान हरकारों और मिल-मज़दूरों को खूब खिलाकर खुश किया। टाउन-हॉल शोर-गुल से गूंजता रहा।

पाँच बजे व्यासपीठ पर बैठने वाले बम्बई के महाजन आने लगे। जब से वे आये, तभी से उन पर शब्दों की वर्षा होनी शुरू हो गई। हम तो आवाज़ें लगाते ही थे, पर हरकारे और मज़दूर आवाज़ें लगाने में ज़बरदस्त थे। कोई किसी की सुनता नहीं था। महाजनों ने सर जमशेदजी को सभापति बनाने का प्रस्ताव किया। हमारी ओर से तेलंग के लिए सिफारिश हुई। थोड़ी शान्ति फैली, प्रस्ताव उपस्थित हुआ...हाँ...हाँ...नहीं...नहीं 'Down with Willingdon' 'No Address' की हम लोग आवाज़ें लगा रहे थे। बेचारे नासमझ मज़दूरों की समझ में नहीं आता था कि वे क्या करें, अतः वे भी चिल्लाने में हमारा साथ दे रहे थे। दूसरे लोग घबरा गए। शोर-गुल इतना मचा कि अनेक लोग कुरसी

पर खड़े हो गए और अनेक आगे आने लगे। अनेक लोग व्यासपीठ पर भी चढ़ने के लिए आ रहे थे; अतः सभापति और उनके मित्र उठकर पिछले रास्ते से चले गए।

जैसे-तैसे रात के आठ बजे हम बाहर निकलकर जगह-जगह भाषण देने लगे। मान-पत्र, प्रदान करने वाले के घर ही रह गया। बम्बई के गवर्नर ने पहली बार इसका स्वाद चखा कि बम्बई की जनता क्या है! इस अवसर की स्मृति के रूप में जनता ने 'जिन्ना-हॉल' बनवाया।

अठारह

भूलाभाई और मेरे बीच की घटना के थोड़े दिनों बाद ही मैं दिल्ली-कांग्रेस में शामिल होने के लिए चल पड़ा। 'सम्पूर्ण प्रान्तीय स्वराज्य के बिना सुधार अमान्य हैं,' यह प्रस्ताव वहाँ भी उपस्थित हुआ और बम्बई में बीसेण्ट का पास कराया हुआ प्रस्ताव उड़ गया। परिणामस्वरूप बीसेण्ट और जिन्ना दास और खापरडे के मुकाबले निस्तेज हो गए।

ब्रिटिश सरकार की नीति थी एक ओर से सुधार उपस्थित करना और दूसरी ओर से देश-द्रोह के अपराध को विस्तृत करके उसके लिए सरकार को अधिक अधिकार देना। १६१८ की जुलाई में 'रॉलेट-समिति' ने अपने वृत्तान्त से इस नीति का समर्थन किया। देश में विरोध उत्पन्न हो गया। गांधीजी ने—जो अब तक राजनीतिक बहाव के बीच में नहीं आये थे—घोषणा की कि कदि रॉलेट के बताये हुए 'काले कानून' पास होंगे, तो वे सत्याग्रह आरम्भ करेंगे।

उस समय शंकरलाल बैंकर गांधीजी के सम्पर्क में आये थे, और उन्होंने यह निर्णय किया था कि उनको 'ऑल इण्डिया होमरूल लीग' का अध्यक्ष-पद दिया जाए। उन्होंने मुझसे बात की। जमनादास की तरह बीसेण्ट के साथ मेरा निकट-सम्बन्ध नहीं था, परन्तु गांधीजी का ढंग मुझे अव्यावहारिक मालूम हुआ था। दिल्ली में बीसेण्ट की स्वीकार की हुई

नीति मुझे पसन्द नहीं आई थी। भारतीय मानस विचित्र है; ज़रा भी किसी ने धीरे चलने के लिए कहा कि हमारी शाब्दिक हिम्मत एकदम बढ़ जाती है। इस मानस को बीसेण्ट का झुकाव कायरतापूर्ण मालूम हुआ। अनेक लोगों ने तो ऐसे आक्षेप भी किये कि 'यह तो सफ़ेद चमड़ी है, इसे भारतीयों को स्वराज्य मिलना कहाँ से अच्छा लगेगा ?' पर यह आक्षेप नितान्त असत्य था। रंग-भेद का खयाल यदि किसी अंग्रेज़ में नहीं देखने को मिला है, तो वह बीसेण्ट में ही। भारत का यदि किसी विदेशी ने मातृवत् पूजन किया है, तो वह उन्हींने। फिर भी शंकरलाल की बात मुझे सत्य मालूम हुई। हमने सब जगह मुकाबला किया और अन्त में गांधीजी अध्यक्ष चुने गए। हममें जो डोर खींचने का दावा करने वाले मित्र थे, उनके हृदय बैठ गए। रॉलेट एक्ट का विरोध करने के लिए गांधीजी सारे भारत में घूम आए। उनकी लोकप्रियता की बाढ़ आने लगी। थोड़े समय बाद ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो हमने उन्हें अध्यक्ष नहीं बनाया था, वरन् वे कृपा करके हमें सदस्य बनाये हुए थे। अपने चाणक्यों की स्थिति देखकर मुझे बड़ा मज़ा आता था।

गांधीजी के प्रति यह मेरा पहला अनुभव था। उनके अध्यक्ष होने के तुरन्त बाद ही वैकुण्ठ देसाई के ऑफ़िस में पहली सभा हुई। रॉलेट-एक्ट के विषय में यह चर्चा हुई कि क्या करना चाहिए। तेरसी ने और मैंने बहिष्कार (Boycott) का समर्थन किया। हममें से कोई इसके सिवा दूसरा रास्ता नहीं जानता था। हमें यह मालूम था कि गांधीजी इसके विरुद्ध थे।

गांधीजी ने कहा कि बहिष्कार में हिंसा आ जाती है, अतः यह रास्ता व्यर्थ—वर्ज्य है। इसमें पाप है। बहिष्कार के विषय में उस समय मेरे विचार स्पष्ट थे। अगली रात को, बहिष्कार के समर्थन के लिए तैयार की हुई मेरे भाषण की प्रतिलिपि उस समय के मेरे राजनीतिक विचारों का परिचय देती है—

'Certain minds shrink from agressive action, as if it

were sin. They turn away from the delight of battle, look upon it as monstrous. Love is foreign to political action. Between nation and nation there may be justice or partiality; not love. To say that boycott shows want of love, is bad psychology and bad morality. It is directed not against the individual but against policy which exploits you. If hatred is demoralising it is stimulating too. If hatred comes, let it come as a stimulus, as an awakening. The issue of violence does not arise; it is a matter of expediency.

Violence which brings us in conflict with the rulers may be inexpedient for a race circumscribed as ours; but that violence is to be ruled per se is not politics.' [1]

इस प्रतिलिपि—जिस पर कि अरविन्द घोष का विशेष प्रभाव है—पर से मैं भाषण तैयार करके ले गया था। इसमें से कितना बोला गया,

१. आक्रमण को पाप समझकर अनेक लोग उससे दूर रहते हैं। वे युद्ध के प्रति उत्पन्न उत्साह को दानवी वृत्ति मानकर उससे विमुख हो जाते हैं। राजनीतिक प्रवृत्ति में प्रेम के लिए स्थान नहीं है। एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच न्याय हो सकता है, पक्षपात हो सकता है, पर प्रेम नहीं हो सकता। बहिष्कार में प्रेम का अभाव है, यह कहना मानस-शास्त्र और नीति-शास्त्र दोनों के विरुद्ध है। यह शस्त्र किसी विदेशी व्यक्ति के लिए नहीं, परन्तु तुम्हारा शोषण करने वाली राजनीति के विरुद्ध व्यवहृत होता है। द्वेष जितना अधम है, उतना ही प्रेरक है। द्वेष उत्पन्न होता है, तो उसे प्रेरणा या जागृति के रूप में उत्पन्न होने दो। इसमें हिंसा का प्रश्न उपस्थित नहीं होता; यह तो केवल औचित्य का प्रश्न है। हमारी पराधीन जनता के लिए, वह हिंसा अनुचित है, जो हमारा शासन-कर्त्ता के साथ संघर्ष करवा देती है, परन्तु इससे हिंसा को हमेशा के लिए देश-निकाला दे देने का नाम राजनीति बिलकुल नहीं है।

यह याद नहीं है, परन्तु तेरसी ने इसका खूब समर्थन किया, एक-दो अन्य व्यक्ति भी इसके पक्ष में अचूक रीति से बोले। गांधीजी ने अपनी लाक्षणिक रीति से उत्तर दिया—'स्वदेशी व्रत चल सकता है; बहिष्कार में हिंसा आ जाती है, अतः वह वर्जित है। और यदि आप लोग उसे स्वीकार करेंगे, तो मैं पद-त्याग कर दूँगा। आपको दूसरा अध्यक्ष चुनना पड़ेगा।'

हम चकित हो गए। हम समझते थे कि यदि बहुमत से इसे स्वीकार करवाएँगे, तो गांधीजी मान लेंगे। ज़रा-से मतभेद से ही यदि प्रत्येक सदस्य इस्तीफा देने लगे, तो लोक-शासन किस प्रकार चले? हम लोगों को क्या पता था कि हमारे बीच में देवांशी मनुष्य आ गया था! हमारे भाग्य में दो ही रास्ते रह गए थे, या तो उसके अधीन हो जाना, या भाग जाना।

गांधीजी ने तुरन्त सत्याग्रह-समिति स्थापित की। उमर सोमानी और शंकरलाल मंत्री बने। कानजी द्वारकादास और मैं बम्बई की 'होमरूल-लीग' के मंत्री नियुक्त हुए।

एक और भी ऐसा ही अवसर आया, जब गांधीजी ने स्पष्ट कह दिया कि 'यह भी सेना है; भेद केवल इतना ही है कि युद्ध के समय उससे अलग हो जाओ, तो दण्ड मिलता है; इससे अलग होना चाहो, तो हो सकते हो।'

हममें से अनेक उतावले हो उठते, परन्तु अन्त में पिघले हुए घी की तरह होकर जो गांधीजी कहते, वही करते थे।

उन्नीस

१९१९ के मार्च में काले कानून पास हुए, अतः गांधीजी ने सत्याग्रह करने का संकल्प प्रकट किया। सत्याग्रह-व्रत-पत्र पर हस्ताक्षर करवाए जाने लगे। छः अप्रैल को सारे देश में हड़ताल हुई और समस्त भारतीय जनता ने उसमें भाग लिया। उस दिन भारत ने अपने राष्ट्रीय महत्त्व का प्रथम दर्शन किया।

सरकार घबराहट से पागल हो गई। ८ तारीख को गांधीजी को पंजाब जाते हुए रोक लिया गया। १० को डॉ० किचलू और डॉ० सत्यपाल को प्रान्त से बाहर निकाल दिया गया। ११ को डायर अमृतसर में आया। १३ को जलियांवाला बाग में हत्याकांड हुआ। सारा देश भड़क उठा। इंग्लैंड में भी हाहाकार मच गया।

१८ अप्रैल को गांधीजी ने सत्याग्रह बन्द कर दिया, और यह स्वीकार किया कि उन्होंने हिमालय के समान बड़ी भूल की थी। डायर के किये हुए हत्याकांड की जाँच करने के लिए समिति बिठाई गई। पंजाब में ऐसा कोई वकील नहीं था, जो जनता की ओर से खड़ा होता। 'प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन' ने—दो-एक वर्ष मैं उनका मंत्री भी रहा था—हंटर-समिति के आगे जनता का प्रश्न उपस्थित करने का काम मुझे सौंपा। ३०००)रु० महीना फीस थी। राजनीतिक कामों में भी वकील फीस अवश्य लेते थे। यह उस समय की प्रथा थी। जब कांग्रेस-कमेटी ने निश्चय किया कि हंटर-समिति के सम्मुख लोक-पक्ष का बयान न लिया जाए और मुझे पंजाब जाने की आवश्यकता नहीं—तब मुझे शान्ति मिली। तीन हज़ार रुपये लेकर महीने-भर के लिए बंबई से बाहर जाना मुझे गहरे आत्म-त्याग के समान मालूम हो रहा था। अभी गांधी-युग नहीं आया था।

उस सत्याग्रह के ज़माने की एक घटना है। उमर थे महाराजा, कमाने और खर्च करने के लिए उनके पैसों की कोई सीमा नहीं थी। मिजाज़ भी था बड़ा, बड़े भले, उत्साही और उदार थे। कांग्रेस के वे अग्रगण्य संचालक बन गए थे। उन्हें जिस बात की धुन समा जाती, उससे उन्हें रोकने की किसी की मजाल नहीं थी। उन दिनों शौकतअली ने खिलाफत के विषय में एक फतवा दिया था, जिसे उमर ने छपवाया था। गवर्नर था लार्ड लाइड। उसने वह गांधीजी को बताया। गांधीजी ने उसे अनुचित बताया। उमर से पूछने पर उन्होंने कहा कि सारी कापियाँ खप चुकी हैं, इसलिए सरकार को सौंप देने की कोई चीज़ नहीं रही।

गांधीजी ने इसे मान लिया और गवर्नर को इसकी सूचना दी।

वास्तव में उसकी सैंकड़ों कापियाँ प्रेस में पड़ी हुई थीं और जब पुलिस की तलाशी का वक्त हुआ तब किसी भी तरीके से सारी कापियों को जला डालने का निश्चय हुआ। रात को जमनादास सिबरी जाकर सारी प्रतियाँ वहाँ जला आए। किसी ने यह बात गांधीजी से कह दी। गांधीजी ने सबको बुलाकर सत्य बात स्वीकार कर लेने की सूचना दी और उमर को पुलिस-कमिश्नर से माफ़ी माँग लेने की आज्ञा दी। उमर तड़प उठे। गांधीजी ने स्वयं भी उपवास आरंभ किया और जमनादास तथा उमर से भी उपवास करवाया। अन्त में हारकर उमर ने अभिमान छोड़ा और पुलिस से भी माफ़ी माँग ली।

बीस

उस समय मैं जिन्ना के साथ काम कर रहा था। मेरे सहकारियों का मन गांधीजी के सहकारियों से दूर हटता जा रहा था।

१९१९ के दिसम्बर मास में मैं अमृतसर में होने वाली कांग्रेस में गया था देवीदास सालिसिटर-जैसे कुशल संचालक के दल के साथ। देवीदास दल का संचालन करें, तो फिर कहने की कोई बात ही नहीं रह जाती थी। वे सब-कुछ सँभाल लेते थे। औरों को केवल खा-पीकर मौज करने का काम रह जाता था। रास्ते में जब स्टेशन आते, तब दो-चार मित्र उतरकर दही-बड़े, जलेबी आदि खरीद लाते, दावतें उड़तीं और धमा-चौकड़ी मची रहती।

मणिलाल नानावटी भी उस समय साथ थे।

मुझे जब भी लम्बा सफर करना पड़ता, तभी मेरे छक्के छूट जाते, ट्रेन में नींद न आती और पेट चमड़े की थैली बन जाता था। ज़रा भी धूल लगती कि खाँसी-जुकाम हो जाता था। दो दिन के सफर के बाद जब मैं निश्चित स्थान पर पहुँचता, तब एकदम ढीला पड़ जाता।

उस समय की कांग्रेस पहले दरजे में सफर करने वालों की और अच्छे

होटल में ठहरने वालों की कांग्रेस थी। कांग्रेस में जाने से सहन करने वाली अनियमितता, असुविधाएँ और जागरण हमेशा मुझे निर्बल बना छोड़ते थे, परन्तु अमृतसर में मणिलाल नानावटी ने माँ की तरह मेरा ध्यान रखा। अमृतसर-कांग्रेस की विषय-विचारिणी-समिति को हिन्दुस्तान के इतिहास में एक सीमा-चिह्न कहा जा सकता है। मांटेग्यू के सुधार हमारे सामने थे। जलियांवाला बाग के शहीदों का बहता हुआ लहू हमारा खून उबाल रहा था।

कांग्रेस के नेताओं में एक ओर थे पंडित मोतीलाल नेहरू और बीसेण्ट; और दूसरी ओर थे लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल और सी० आर० दास। देशबन्धु दास 'मार्निंग कोट' पहनकर आते, सात-आठ युवक बैरिस्टरों को साथ लाते और हाथ ठोंककर ज़ोरदार भाषण करते थे।

दोनों पक्ष मन में गांधीजी से ईर्ष्या करते और प्रकट रूप में उपहास करते रहते थे। पर वे समझ में न आने वाली रीति से अकेले मौन बैठे हुए थे। सुधारों पर विवाद छिड़ गया। किसी ने—जहाँ तक याद है श्रीनिवास शास्त्री ने—कहा कि मांटेग्यू ने हिन्दुस्तान की इतनी सेवा की है कि नगर-नगर में उसकी प्रतिमा स्थापित की जानी चाहिए। सत्यमूर्ति भयंकर भाषण करने में प्रसिद्ध थे। उन्होंने शास्त्रीजी की खूब खबर ली और यह प्रतिपादित किया कि चेम्सफर्ड खराब-से-खराब वायसराय है।

बाद में जलियांवाला बाग के हत्याकांड और अमृतसर के दंगे के समय जनता द्वारा प्रदर्शित किये गए घातक आदेश, दोनों का विरोध करने वाला प्रस्ताव उपस्थित हुआ। इस प्रस्ताव का पिछला भाग हम लोगों को अच्छा नहीं लगा। दो अंग्रेजों की हत्या और सैकड़ों निर्दोष स्त्री-पुरुषों को गोली से उड़ाना—इन दो बातों को एक समान कैसे माना जाए? अनेक लोगों को सन्देह हुआ कि यह काम बीसेण्ट का होगा; ब्रिटिश होने के कारण अंग्रेज़ों के प्रति उसे सहानुभूति हुई होगी। एक पंजाबी नेता ने तो कह भी डाला कि भारत माता की सन्तान ऐसा प्रस्ताव नहीं घड़ सकती।

लोकमान्य ने भी विरोध किया। पाल और दास ने रोष प्रदर्शित किया और बहुमत से इस प्रस्ताव का पिछला भाग उड़ा दिया गया।

दूसरे दिन जब हम विषय-विचारिणी-समिति में एकत्र हुए, तब यह चर्चा चली कि प्रस्ताव के उड़ जाने से रात को गांधीजी को नींद नहीं आई थी। नेतागण हंस रहे थे, मजाक उड़ा रहे थे। 'हाँ······महात्मा को नींद नहीं आई! क्या होगा? कहीं पृथ्वी पर प्रलय तो नहीं होगी,' आदि-आदि।

उन सबको महात्मा के उपवास और जागरणों में कल्पनातीत भय समाया हुआ प्रतीत होता था।

सभा आरम्भ हुई; सभापति ने कहा, गांधीजी चाहते हैं कि कल जो प्रस्ताव उड़ा दिया गया था, उस पर फिर से विचार हो। कइयों ने इसका विरोध किया। गांधीजी टेबल पर बैठे और उन्होंने इस प्रस्ताव पर पुनः विचार करने की सूचना दी। गांधीजी को मैंने अनेक बार बोलते सुना है, परन्तु उनके इस भाषण को प्रभावोत्पादक वाक्पटुता के अद्वितीय उदाहरण के रूप में आगे वर्णित किये हुए बीसेण्ट के भाषण के साथ रखा जा सकता है। ऐसा याद है कि उन्होंने कुछ-कुछ इस प्रकार आरम्भ किया था—

'कल पंजाब के एक नेता ने कहा है कि भारतमाता की संतान ऐसा प्रस्ताव नहीं घड़ सकती। इस प्रस्ताव का आविष्कार मैंने स्वयं किया है। मैं भारतमाता की संतान हूँ। यह टीका सुनकर मैंने इस पर बड़ा विचार किया कि क्या मैं भारतमाता की सन्तान के रूप में ऐसा प्रस्ताव घड़ सकता हूँ? सारी रात मैंने विचार किया और मुझे विश्वास हो गया कि भारतमाता की सन्तान ही ऐसा प्रस्ताव घड़ सकती है।'

बाद में उन्होंने हिंसा-अहिंसा का भेद समझाया। एक घटे तक वे बोले होंगे। उनके प्रत्येक शब्द से जीवन-भर की तपश्चर्या और संकल्प प्रकट हो रहे थे। हम लोग श्वास रोके सुन रहे थे। जब वे बोल चुके तब उनकी वाक्पटुता और व्यक्तित्व से परास्त होकर हमने उनकी शरण

ली। फिर उस प्रस्ताव पर विवाद हुआ, मज़ाक हुए और व्यंग-बाणों की वर्षा हुई। लोकमान्य, दास और पाल ने बहुत कहा, पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वही प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रकार कांग्रेस के सम्राट् का पद गांधीजी के हाथ में चला गया।

अक्तूबर १६१६ में गांधीजी ने खिलाफत-कान्फ्रेन्स की। इस क़दम पर जिन्ना को ज़रा भी विश्वास नहीं था। असहयोग भी हमारी समझ में नहीं आता था। १६२० के मई मास में फ्रेन्चब्रिज पर असहयोग-आन्दोलन के सिलसिले में बड़ी सभा हुई। गांधीजी ने त्रिविध बहिष्कार करने के लिए सूचित किया। जुलाई १६२० में गुजरात राजकीय मंडल ने धारा-सभा का बहिष्कार किया। उस सभा में मुझे बुलाया गया था, पर मैं नहीं गया। एक लिखित टिप्पणी मैंने भेज दी थी।

मेरे राजनीतिक विचारों में एक बात उस समय निश्चित थी। वह यह कि भारत के लिए राजनीतिक संस्थाओं की सत्ता बड़ी ही आवश्यक है। १६०८-१६०६ से ही मैं विप्लववादी नहीं रह गया था।

मैं जानता था कि इस प्रकार का बहिष्कार गांधीजी कराना चाहते हैं, अतः मेरा अरण्य-रोदन कोई नहीं सुनेगा। परन्तु अपने विचार भेजकर मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण किया। उन विचारों का उपयोगी भाग निम्नलिखित था—

धारा-सभाओं का बहिष्कार

'मेरा यह दृढ़ मत है कि धारा-सभाओं के बहिष्कार का आन्दोलन आरम्भ करने में कोई लाभ नहीं है। उसके कारण ये हैं—

१—बहिष्कार से देश के अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति धारा-सभाओं से निकल जाएँगे या अलग रहेंगे, इससे धारा-सभाओं के द्वारा देश की जो प्रगति होने की सम्भावना है, वह नहीं होगी।

२—जिनकी उपस्थिति से मार्लि-मिण्टो के सुधारों वाली धारा-सभाओं में भी अधिकारियों की ग़ैर-जिम्मेदार मनोवृत्ति पर अंकुश रहता

है, वे देश के सबसे अधिक प्रभावशाली पुरुष, बहिष्कार के कारण धारा-सभा में जाना बन्द कर देंगे।

३—चुनावों के सिलसिले में राज-काज में आगे बढ़े हुए राजनीतिज्ञों द्वारा जो प्रबल और व्यवस्थित प्रचार-कार्य चलने की आशा है, और उस प्रचार से जनता को सामान्यतया जो राजनीतिक शिक्षा मिलती है, वह धारा-सभाओं का बहिष्कार होने से नहीं मिल सकती।

४—बहिष्कार से निम्न प्रकार के मान-मर्यादा और पद प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले खुशामदी लोगों को रचनात्मक कार्य करने का अवसर मिल जाएगा और लोगों के मन में यह समझकर बैठे रहने की वृत्ति उत्पन्न होगी कि आज जो स्थिति है, वही उत्तम है।

५—धारा-सभा में स्थान मिलने से मनुष्य को अमुक पद प्राप्त होते ही हैं; और जो न्याय चाहता है, वह यदि धारा-सभा का सदस्य हो, तो उसकी आवाज़ अधिक ज़ोरदार और प्रभावशाली साबित हुए बिना नहीं रह सकती।

६—मेरा मत है कि राजनीति में आगे बढ़े हुए विचारों वाले दल को अलग रखने की स्थिति और सरकार के साथ असहयोग की नीति में शामिल करने की दशा में यह पहला क़दम है। आप जोश के साथ प्रचार कर सकते हैं, परन्तु थोड़े ही समय में ध्येय-प्राप्ति न कर सकने पर आपको अधिक ज़ोरदार प्रचार करना पड़ेगा। अर्थात् लोगों में असहयोग की अग्नि जलानी पड़ेगी और सम्भवतः सरकार दमन-नीति काम में लाएगी। इससे समाज में इतना उत्पात मचेगा कि सुव्यवस्थित प्रगति का जो लाभ देश को मिलना चाहिए, वह नहीं मिल सकेगा।

इससे मेरा यह मत है कि राष्ट्रीय पक्ष के लोगों को ख़िलाफ़त और पंजाब के लिए न्याय प्राप्त करने हेतु धारासभाओं की बैठकों में चुने जाने के लिए देश के आगे आना चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि यदि हम पर्याप्त आन्दोलन करें तो देश-भर में राष्ट्रीय पक्ष वाले उचित संख्या में धारा-सभाओं में चुने जाएँ। चुने जाने के पश्चात् राष्ट्रीय पक्ष के सदस्य

वफ़ादारी की शपथ लें। परन्तु जब तक न्याय न मिले, तब तक धारा-सभाओं के काम-काज में अन्य किसी प्रकार का भाग न लें। यह सारा कार्यक्रम चुनाव के प्रचार के अन्तर्गत लोगों के आगे रखा जाना चाहिए।

१. इस कार्यक्रम में पंजाब का प्रश्न एक पक्ष द्वारा अपना बनाया होने से उसके लिए बड़ा तीव्र आन्दोलन चलेगा।

२. असहयोग की धमकी देने से और चुनावों में खड़े होने से इनकार करने पर जो प्रभाव होगा, उसकी अपेक्षा चुनाव हो जाने के पश्चात् धारा-सभाओं के साथ असहयोग करने से अधिक प्रभाव होगा।

३. ऐसा करने से धारासभा प्रतिष्ठा और पद प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले ख़ुशामदी लोगों के हाथ में जाने से बच जाएगी।

४. ऐसा करने से सरकार को यह ढोंग रचने से रोका जा सकेगा कि वह सुधारों वाली धारासभाओं को निर्विघ्न और सरलता से चला रही है।

इक्कीस

अमृतसर-कांग्रेस के बाद गांधीजी ने देश पर जादू-सा कर दिया। पहली अगस्त को लोकमान्य स्वर्गवासी हुए और बम्बई की जनता ने उन्हें भव्य सम्मान प्रदान किया। सितम्बर में कलकत्ता की विशेष कांग्रेस ने असहयोग स्वीकार किया।

गांधीजी 'होमरूल लीग' का नाम 'स्वराज्य सभा' रखना चाहते थे, और उसके उद्देश्यों में से 'रचनात्मक साधन' (Constitutional means) शब्द निकाल कर 'शांतिमय और अचूक साधनों' (Peaceful and effective means) से स्वराज्य प्राप्त करना, यह परिवर्तन करना चाहते थे। चार सितम्बर को जब कलकत्ता में लीग की सभा हुई, तब जिन्ना ने यह विषय उठाया कि इसके लिए उचित नोटिस नहीं दिया गया था। अतः बम्बई में सभा की बैठक पुनः बुलाने का निश्चय हुआ।

गांधीजी के सोचे हुए परिवर्तनों में हमने जिन्ना और जयकर के हस्ताक्षरों से संशोधन उपस्थित किया।

'कांग्रेस के कानून एक प्रकार से स्वराज्य प्राप्त करना है,' यह संशोधन मैंने और हरसिद्ध भाई दिवेटिया ने पेश किया था।

३ अक्टूबर को मुरारजी गोकुलदास मार्केट के हॉल में यह सभा हुई। गांधीजी उसके अध्यक्ष थे। पंडित मोतीलालजी, जवाहरलालजी, राजगोपालाचार्यजी, ये सब उनके पक्ष में थे। उमर और शंकरलाल ने अच्छी संख्या में सदस्य एकत्र किये थे। अपने पक्ष की हार को हम निश्चित समझे बैठे थे।

जिन्ना और जयकर का संशोधन गिर गया। २० के विरुद्ध ४५ मतों से मेरा उपस्थित किया हुआ और हरसिद्धभाई का अनुमोदित प्रस्ताव भी उड़ गया। जिन्ना ने तीसरा संशोधन उपस्थित किया—'स्वराज्य का अर्थ है साम्राज्य में जिम्मेवार राजतन्त्र बनाना,' वह भी उड़ गया।

जिन्ना ने वैधानिक विषय उपस्थित किया—'तीन-चौथाई बहुमत के बिना विधान में परिवर्तन नहीं हो; लीग के विधान के अनुसार यदि उसमें परिवर्तन करना हो तो कौंसिल के उपस्थित सदस्यों के तीन-चौथाई बहुमत की आवश्यकता होगी।'

अध्यक्ष ने निर्णय दिया कि इस प्रस्ताव में जान नहीं थी, और प्रस्ताव उचित रूप में पास हो गया था। जिन्ना विरोध प्रदर्शित करके इस सभा से चले गए। हमने भी अनुकरण किया।

५ अक्तूबर को हम बीस सदस्यों ने लीग से इस्तीफ़ा दे दिया। इन बीस में जिन्ना, जयकर आदि के अतिरिक्त हमारा मंडल भी शामिल था।

हमारे इस्तीफ़ों का गांधीजी ने उत्तर दिया। जिन्ना ने उसका जवाब लिखा। उस पर विचार करने के लिए हम अंतिम बार एकत्र हुए और हमारी इस सामुदायिक प्रवृत्ति का अन्त हो गया। गांधीजी ने अपना प्रयोग आरम्भ कर दिया था। देश उनके चरणों पर झुक गया था। परन्तु हम लोगों को उस प्रयोग में बड़ा खतरा नज़र आया। गांधीजी की कार्य-पद्धति का किसी को पूरा पता नहीं था और उनकी शान्ति की बात कितने अंश में सत्य थी, इसका भी हमें विश्वास नहीं था। विप्लव के प्रति मेरा

मोह कभी से दूर हो गया था। मेरे मत से यह निश्चित था कि यदि भारत की संस्थात्मक सतता टूटी, तो उसकी अधोगति होगी।

दिसम्बर में मैं नागपुर की कांग्रेस में गया—उसे छोड़ने से पहले उसके दर्शन करने के लिए। दो वर्ष में गांधीजी ने उसे भिन्न ही स्वरूप प्रदान कर दिया था। उसका बाह्य स्वरूप यात्रियों के बड़े समूह के समान हो गया था। विभिन्न प्रान्तों से नये खद्दरधारी नेता उसमें आ गए थे। राजनीति के पुराने निष्णात मुश्किल से ही नजर आते थे। जो समूह एकत्र हुआ था, वह अधिकांश में जोशीले गांधी-भक्तों का था। विचार-स्वातन्त्र्य का उपहास करना, उसे दबा देना, सब जगह दीख पड़ने वाली इस मनोदशा में अहिंसा का अंश विशेष रूप से नहीं झलकता था। भारत विजय करने निकले हुए विजय-मस्त सैनिकों का यह पड़ाव था।

एक मित्र मिल गए। "तुमने अभी तक खादी पहनना शुरू नहीं किया?" उन्होंने पूछा।

"अभी मैं उसकी सार्थकता को समझ नहीं सका हूँ।" मैंने अपनी कमजोरी स्वीकार की।

"स्वदेशी, वेश्या है; खादी, पतिव्रता स्त्री है। इसमें सार्थकता समझने की क्या बात है?"

मेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं था।

जयकर और मैं अलग रहते थे, पर दिन-भर साथ घूमा करते थे।

मैं गुजरात कैम्प में गया। मेरे पुराने मित्रों के साथ मेरी राजनीतिक एकरूपता टूट गई थी।

विषय-विचारिणी-सभा में जो अवास्तविक-सा वातावरण फैला हुआ था, वह मुझे बड़ा खटका। गांधीजी, मुहम्मदअली और शौकतअली जो कहते थे, वही होता था। गांधीजी बहुत कम बोलते थे। मुहम्मदअली ने एक बार कहा—

"ब्रिटिश साम्राज्य तो गुज़र गया और दफ़नाया भी जा चुका है।"

मैं अपनी हँसी न रोक सका। इस प्रचण्ड उत्साह को अपनाने में मैं असमर्थ रहा। जिन्ना ने अद्भुत प्रगल्भता दिखलाई। तीस हजार विरोधी आवाज़ों के बीच भी उन्होंने अकेले यह आवाज़ उठाई कि कांग्रेस को अपना लक्ष्य नहीं बदलना चाहिए। उन्होंने मुहम्मदअली का उल्लेख 'मिस्टर मुहम्मदअली' कहकर किया।

हज़ारों आदमी खड़े हो गए। हज़ारों आवाज़ों ने विरोध प्रदर्शित किया। "मौलाना—मौलाना—"

जिन्ना अटल रहे। इस प्रतिपक्षी जनसमूह में उन्होंने अकेले ही जिह्वा की झूठी अंजलि देने से इनकार किया।

उस समय की कांग्रेस का यह अन्तिम दृश्य था।

मैं चला आया। यह संस्था मेरी समझ से बाहर की वस्तु बन गई। मैंने उससे इस्तीफा दे दिया।

बाद में एक-दो मित्रों ने मुझसे कहा कि गांधीजी मुझसे मिलना चाहते हैं। मैंने मिलने जाना अस्वीकार कर दिया। उनके प्रभाव में घिसट जाने का अवसर अभी मेरे लिए नहीं आया था।

बाईस

आगे बताए अनुसार अपनी दूसरी भूमिका में मैं किसी समय अनुभव की हुई मनोदशा को सँभाले रखकर, उसके सहारे पात्र और वस्तु की रचना करने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार का पहला उपन्यास था 'पाटन का प्रभुत्व' और दूसरा उससे भी बड़ा 'गुजरात के नाथ'। १६१८ से व्यवस्था में मेरा हाथ जमने लगा। अपनी शक्ति और भविष्य दोनों के प्रति आत्म-विश्वास का विकास होने लगा। इसके परिणामस्वरूप यदि बम्बई को वश में करने की अभिलाषा रखने वाले प्रभावेच्छुक की स्वानुभूत मनोदशा से काक उत्पन्न हुआ हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मंजरी का सृजन कैसे हुआ, यह एक पहेली है।[1] तनमन का

१. 'गुजरात के नाथ' का नायक काक और नायिका मंजरी।

हलकापन इसमें नहीं है। यह समझ में आता है कि शरीर-सौंदर्य देखने की और देखकर प्रसन्न होने की मेरी वृत्ति से उसके रूप का उद्भव हुआ है। कौन जाने मेरी विकसित होती शक्तियों के प्रत्याघात के रूप में कल्पना ने स्त्री का सृजन करके रण निमंत्रण दिया हो ! इस उपन्यास में कहानी कहने की मेरी कुशलता स्पष्ट दीख पड़ती है।

१९१८ में मेरी आर्थिक उलझनें दूर होने लगीं। जगदीश के जन्म पर जीजी माँ के आनन्द की सीमा नहीं रही। भूलाभाई की पत्नी, इच्छा बहन ने लक्ष्मी को अंक में लिया और इस संगति के फलस्वरूप उसमें कुछ आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। व्यवसाय और राजनीतिक क्षेत्र के चढ़ान सरल होते जान पड़े।

उस समय मैं यूरोपीय संस्कृति को जीवन की पराकाष्ठा मानने वाले मित्रों के सम्पर्क में आ रहा था। भूलाभाई के बहुत ही निकट परिचय के फलस्वरूप उनके अनेक दृष्टि-बिन्दुओं को मैंने, जाने या अनजाने, स्वीकार किया। वे एकदम अर्वाचीन थे। उनका ऐच्छिक विषय पर्शियन होने के कारण हमारी प्राचीन संस्कृति के साथ उनका परिचय बहुत कम और परोक्ष था। विजय से पूर्ण उनके प्रवृत्तिमय जीवन में अन्तर-मंथनों के लिए समय नहीं था। इस प्रकार हमारे स्वभाव और संस्कार भिन्न होने पर भी मैंने उनकी अनेक मान्यताएँ और विशेषताएँ उसी प्रकार ग्रहण कीं, जिस प्रकार कौआ मोर-पंख पहनकर घूमता है।

एक दिन मनुकाका ने टोका—

"कनुभाई, तुम तो भूलाभाई की तरह चल रहे हो !"

मुझे बुरा लग गया। मैंने यह मानने का प्रयत्न किया कि मनुकाका की, मेरी निन्दा करने की आदत से ही इस टीका का जन्म हुआ था। परन्तु इससे चुभन हुई और मैं आन्तरिक मंथन में डूब गया। जिनके गुणों पर मैं मुग्ध था, उनकी अनेक बाह्य रीतियों का अनुकरण मैं अनजाने में करने लगा था, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ।

किसी वस्तु को यदि हम निरन्तर अपनी कल्पना में रखें और उसके

साथ तादात्म्य की भावना बनाएँ, तो उसके गुण की प्राप्ति हो जाती है। इस विश्व-नियम को अपने पर घटते देखकर मैं स्तब्ध हो गया।

१९१८ में जब मैं अकेला महाबलेश्वर गया, तब मैंने अपने विकास का निरीक्षण आरम्भ किया। निरीक्षण करते हुए मुझे यह भान हुआ कि मेरे पैरों के आगे ज्वालामुखी फट पड़ा है। १९०७ से ही मैं प्राणायाम करता, गीता के अनेक चरणों और सूत्रों का जप करता और वैराग्य प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। मुझे प्रतीति हुई कि दसों वर्षों में मैं अपने इस प्रयोग में असफल हुआ था। यह सत्य है कि इस प्रयोग से मेरे अन्तर की व्यथा कम हुई थी, और मेरा आचरण शुद्ध बना रहा था। परन्तु यह प्रयोग स्वाभाविक नहीं था, बल्कि पराए दबाव की तरह कृत्रिम और हानिकारक था। इस अभ्यास से संयम-साध्य किया था, परन्तु वह उल्लासहीन था। जिस प्रकार कोई साधु कड़वा घूंट पीकर, त्रस्त भाव से पंचाग्नि में बैठता या बाणशैया पर सोता है, उसी प्रकार मैं यह सब करता था। ॐ का ध्यान, शक्ति या आनन्द देने के बदले, डंडा उठाकर घबराहट में डालने वाले जेलर की कमी पूरी करता था।

'कर्मेन्द्रियाणि' को सीधा रखने में मैं सफल हुआ था; परन्तु इन्द्रियार्थों ने विचित्र रूप से मेरे हृदय पर अधिकार जमा लिया था।[1] रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द को वश में करने के लिए मैंने अपने पास की ग्रीक शिल्पाकृति की जो तस्वीरें थीं, उन्हें फेंक दिया; परन्तु जब भी कोई सुडौल अंगों वाली स्त्री या पुरुष दृष्टिगोचर होता था, तब मेरी कल्पना में उसका चित्र खड़ा हो जाता था, कि उसकी शारीरिक अपूर्वता

---

१. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥

जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोकता है, परन्तु वह उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन मन से करता है वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ३, श्लो० ६।

चूक गया था। "सतु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारात् सेवितो दृढ़ भूमिः," सत्कार से मैं इस क्रम को नहीं चला रहा था।

मेरा वैराग्य का आचारात्मक अभ्यास व्यर्थ था। उसमें सत्कार का लक्षण नहीं था। इस कारण पूर्णतया शक्ति, शान्ति या आनन्द प्राप्त नहीं हो रहे थे।

मुझे यह प्रतीति हुई कि अन्तर और कल्पना के सत्कार के बिना अभ्यास करना व्यर्थ है।

जब मैं कोई अच्छा भाषण देने के लिए बड़ी तैयारी करता था, तब मेरा भाषण खराब होता था। इसका कारण अब मेरी समझ में आया। मैं निश्चयपूर्वक अपना भाषण देने का प्रयत्न करता था, परन्तु अपनी तैयारी होने पर भी मैं तैयारी के बिना खराब बोलूंगा, ऐसी कल्पना उत्पन्न होती थी।

जब मुझे नींद न आती, तब मैं सोने का प्रयत्न करता। मेड़े गिनता, ॐ के मंत्र का जप करता, परन्तु सब व्यर्थ जाता। इच्छा-शक्ति सोना चाहती थी, परन्तु कल्पना-चित्र यह था कि 'मुझे नींद नहीं आती।'

मैं अच्छा धाराशास्त्री बनने का अभ्यास कर रहा था। इस प्रयोग में सत्कार था और वह सूक्ष्म हो रहा था। मेरी कल्पना में जिन्ना, सीतलवाड और भूलाभाई खेल रहे थे।

मैं पाश्चात्य संस्कार-प्रेमियों में सुशोभित होने का प्रयत्न कर रहा था। मैं उनके-जैसे कपड़े पहनता और उसी प्रकार बातें करने का प्रयत्न करता था। मेरा रहन-सहन और दृष्टि-बिन्दु अधिकतर पाश्चात्य बन गया था, परन्तु यह कार्य सफल नहीं होता था। बचपन से पोषित मेरी आत्मा (sub-conscious self) में समायी हुई ऋषि की भावना कल्पना द्वारा इस अभ्यास की अचूकता को बेध डालती थी।

मैं रूप, रस, गंध आदि द्वारा सशक्त होना चाहता था; परन्तु मेरे स्वभाव की वृत्तियाँ कल्पना द्वारा उसका विरोध करती थीं। इन दृढ़ प्रयत्नों के पीछे कल्पना का बल नहीं था। मेरी इच्छा-शक्ति और कल्पना

के बीच जहाँ विरोध उत्पन्न होता था, वहाँ कल्पना जीतती और मैं हार जाता। महाबलेश्वर में मैं अनेक बार 'कोनोट पीक' पर जाया करता था। वहाँ यह सबसे ऊँची चोटी है। इसके पास अरब सागर और बंगाल में जाने वाली नदियों के स्रोत हैं। इस कारण मैं इसे 'सागरग्रन्थि' कहा करता था।

जब मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी सारी भावनाएँ निष्फल हो गईं, और 'यक्षेदास्यामिमोदिष्ये' करना ही मेरे भाग्य में रह गया, तब मैं वहाँ बैठकर रो पड़ा।

इस विषादयोग में मैंने प्रेरणा के लिए दो-तीन बार योगसूत्र पढ़ा, और जो पहले मेरी समझ में नहीं आता था, वह अब समझ में आया।

प्रथम—जिस अभ्यास का स्वभाव सत्कार न कर सके, वह अभ्यास नहीं, मज़दूरी है।

द्वितीय—केवल चित्त वृत्ति का निरोध व्यर्थ है। मैं व्यवसाय में एकाग्रता पोषित कर रहा था। केवल दूसरे विषय से मन हटाकर व्यवसाय के विषय में उसे संलग्न रख रहा था। यही नहीं, वरन् रात-दिन बड़े बैरिस्टरों के लक्षण मन में रखने से मैं उनके-जैसा बनने का प्रयत्न भी कर रहा था। परिणामस्वरूप मैं भावना का—मैं कैसा होना चाहता हूँ, इसका सम्पूर्ण कल्पना-चित्र निरन्तर उपभोग कर रहा था। इस भावना—Becoming—के बिना निरोध के प्रयत्न में सफलता नहीं मिलेगी।

इन दो नवीन दृष्टियों से मैंने अपना जीवनक्रम निश्चित करना आरम्भ किया। मैंने पुराने तरीके—ध्यान, प्राणायाम, वैराग्य प्राप्त करने के प्रयत्न आदि सब छोड़ दिए। अपने स्वभाव—जिसे मैंने कुचल डालना चाहा था—को ही मैंने मध्यबिन्दु बनाया।

स्वभाव—जो कि मैं हूँ उसका कारण—ही मुख्य वस्तु है, यह मैंने समझ लिया।

गीता के अनेक समझ में न आने वाले सूत्रों का अर्थ मेरी समझ में

आ गया। स्वभावनियतंकर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषं—अपने स्वभाव के नियमों के अनुसार जो कर्म करता है, वह पाप एकत्र नहीं करता। इसीसे भगवान् पतंजलि ने कहा है कि योग-साधन करने के लिए यदि और कुछ न हो सके तो वीतराग में चित्त लगाना चाहिए। यह न हो सके तो विषयों में और वह भी असुविधाजनक मालूम हो तो किसी भी वस्तु में मन लगाना चाहिए। अपने पुराने क्रम को छोड़ देने से मेरे मन में जो यह विचार उत्पन्न हो गया था कि मैं अपराधी हूँ, वह दूर हो गया। मैं इसकी छान-बीन करने लगा कि पूर्वग्रह प्रयुक्त किये बिना मेरा स्वभाव किस प्रकार की भावनाओं को सिद्ध करना चाहता है। क्षण-भर मैंने ऐसे उल्लास का अनुभव किया कि जैसे मुझे मुक्ति मिल गई हो।

आत्मदमन करके 'अपूर्व' पति बनने में मुझे कर्तव्यभ्रष्टता मालूम होने लगी थी। यह पुरानी रीति मैं त्याग देना चाहता था। मैंने इसकी शुरुआत की। मेरे हृदय में जो प्रणय-विह्वलता का पागलपन था, मेरे भावना-जीवन में सहचरी के बिना जो रिक्तता थी, वह सब मैंने लक्ष्मी से कह देने का निश्चय किया।

कृष्ण भवन, महाबलेश्वर
२०–५–१९१८

....

'आज मैं इन शब्दों से संबोधित कर रहा हूँ, इससे तुझे आश्चर्य होगा। इसका कारण मैंने नीचे बताया है। फुरसत में तू इस पत्र को पढ़ना और सँभालकर रख छोड़ना।

जब मैं महाबलेश्वर आया, तब मेरे मन में अपने जीवन के अनेक प्रश्नों का निर्णय करने की आशा थी। वे प्रश्न कौनसे हैं, यह तूने कभी नहीं पूछा। वे मेरे मन में किस प्रकार रखे हुए थे, इसका तुझे स्पष्ट ज्ञान नहीं था। मैं बताता नहीं था, कारण कि बताने से भला तू समझ सकती थी?···आज तक यह सब इस प्रकार रहा, इसमें दोष किसका है? थोड़ा दोष तेरा और ज़्यादा दोष मेरा है···तू मुझे पहचानती ही

नहीं है।' इसके पश्चात् उसमें मेरी हृदय-व्यथा का इतिहास है।

'अंत में गीता ने मेरे हृदय के घावों को भरा। मेरे पुराने अविस्मृत प्रेम की वेदना कम हुई और तेरे प्रति मेरे व्यवहार में सुधार हुआ, ठीक है न? बालिका का जन्म हुआ और मैंने अपनी प्रतिज्ञा का अच्छी तरह पालन करना आरम्भ किया···ऑपरेशन कराने के लिए मिरज जाते समय मैंने तुझसे अपना दुःख कहा था। फिर भी तूने अपने मन में उस बात को नहीं उतारा···मैं क्या करूँ? मैं दुःख में भी स्वार्थी और आत्म-सन्तोष में भी स्वार्थी था। अपने हृदय के भँवर को तुझसे छिपाने का पाप मैं करता हूँ। जब मैं तेरी तपश्चर्या का विचार करता हूँ, तब मेरे मन को कुछ होने लगता है। सदा इसी तरह हम लोग किस प्रकार रहेंगे? १६०५ में हमारा साथ हुआ। १३ वर्ष बीत गए। तेरह वर्ष बाद मैं इस निश्चय पर आया हूँ।···जब तक तेरे प्रति अपना कर्तव्य-पालन न करूँ, तब तक मेरे समान मिथ्याचारी कोई नहीं है···तू मेरे सारे जीवन में दिलचस्पी लेने वाली कब बनेगी? वह दिन कब आएगा, जब तू मेरे विचार को अपना विचार, मेरी भावना को अपनी भावना समझ सकेगी? तू मेरा हाथ नहीं थामेगी?···'

इस अन्तिम प्रश्न में, डूबते हुए मनुष्य की-सी करुण प्रार्थना थी। जब हम मिले, तब लक्ष्मी मधुरता और उदारता से हँसी। उसके पास और कोई कहने की बात नहीं थी। उसकी समझ में मैं देवता था, और देवता को ही पागल करने का अधिकार न हो, तो और किसे हो सकता है?

परन्तु आदर्श पति बनने के प्रयोग करते हुए इस प्रकार के विशुद्ध सम्बन्ध में जो कृत्रिमता थी, वह हट गई और लक्ष्मी मेरी मित्र बन गई।

मैं उसके समीप निःसंकोच-भाव से अपनी निर्बलताएँ स्वीकार करने लगा। वह उन्हें समझने का दावा नहीं करती थी; परन्तु मेरे प्रति उदार हृदय से निर्वाह कर लेती थी।

उसके सुख की सीमा नहीं थी।

तेईस

प्लूटार्क के जीवन-चरित्रों में से जो मुझे प्रिय थे उनमें—टामस कैंपिस का 'क्राइस्ट का अनुकरण,' 'धम्मपद' और नित्शे की अनेक कृतियों को मैंने पढ़ा, और उनके अनेक दृष्टिकोणों का मनन किया। अपने उस समय के अंग्रेजी अंकनों पर से मैंने आगे जाकर 'मानवता नां आदर्शनो'[1] (मानवता के दिव्य दर्शन) लिखा। नित्शे की 'सुपरमेन' की भावना ने मुझ पर बड़ा प्रभाव डाला, परन्तु इससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। 'सुपरमेन' के वर्णन के अनुसार मनुष्य राग, भय और क्रोधरहित होकर, निर्द्वन्द्वता से नित्य स्वस्थ रहकर उसके साथ ही विलासाकांक्षा, प्रभाववृत्ति और प्रणय-तरंगों को निरंकुशता से पोषित कर सकता है; यह कैसे हो सकता है? राग नहीं होगा? द्वेष उत्पन्न नहीं होगा? निर्द्वन्द्व होने से विलास की सूक्ष्मता किस प्रकार भोगेगा?

जब मैं अपनी इस समस्या को हल करने में लगा हुआ था, तब उन्हीं दिनों 'गुजरात के नाथ' की कहानी सम्पूर्ण हुई। हाजी मुहम्मद ने दूसरी कहानी की माँग की, और मेरे मन की विचारधारा से 'पृथ्वीवल्लभ' ऊपर उठ आया।

इस प्रकार 'पृथ्वीवल्लभ' आत्मकथा का एक परिच्छेद बन जाता है। इस खींचतान का एक छोर मृणाल थी और दूसरा छोर था मुंज। मृणाल हार गई। उसका सत्कारहीन शुष्क वैराग्य गुलामी की जंजीर की तरह शान्त हो गया। मुंज की विजय हुई।

'पृथ्वीवल्लभ' मेरे हृदय की ज्वाला से सृजित हुआ है, और उसीसे वह जीवित है। अनेक लोग मानते हैं, कि मेरी सब कहानियों की अपेक्षा इस कहानी में अधिक कलात्मकता है। इस पर नाटक बना और इस पर चलचित्र भी तैयार हुआ है। मेरी अन्य पुस्तकों से पहले इसका अनुवाद हिन्दी और मराठी में हुआ। बंगला और कनाड़ी में भी इसका

---

१. मुन्शी-कृत 'गुजरात एक संस्कारिक व्यक्ति अने आदिवचनो' (१९३३) पृष्ठ १३४—१७४।

अनुवाद हुआ था; वह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई या नहीं, यह मैं नहीं जानता। गुजरात में भी इसके अनेक संस्करण हुए।

'पृथ्वीवल्लभ' जब सम्पूर्ण हुआ, तब भावनगर के प्रोफ़ेसर ने उसकी खूब खबर ली। जब से मैंने 'कामचलाऊ धर्मपत्नी'[1] नामक कहानी लिखी थी, तभी से गुजराती विवेचकों का एक दल मुझे कुचल डालने पर सदैव तत्पर रहने लगा था। अब वह समरांगण में कूद पड़ा।

'कामचलाऊ धर्मपत्नी' की सूझ मुझे एक अनुभव से हुई थी। एक बार मैं रेलगाड़ी में भड़ौंच जा रहा था, तब एक वृद्ध ने किसी दूसरे की स्त्री और बच्चे को मेरा समझकर मुझे उलझन में डाल दिया था। उस उलझन को मैंने कहानी रूप में प्रस्तुत किया। विवाह के अवसर पर छोटे स्टेशन पर भिन्न-भिन्न बारातें आईं और उस वृद्ध की भूल के कारण राव साहब—कहानी के नायक—और पराई स्त्री को लोगों ने पति-पत्नी समझ लिया, और अन्त में जब दोनों एक शयन-गृह में मिले, तब उन्हें पता लगा कि लोगों न उन्हें पति-पत्नी समझ लिया है; और इतना ही नहीं परन्तु उस सम्बन्ध के अनुरूप सुविधाएँ भी दे दी हैं।

इस कहानी को पढ़कर एक विवेचक ने कहा—'यह कहानी लिखते हुए मुन्शी का हाथ क्यों न कट गया ?'

ऐसे मनुष्यों में, नीति पारे की तरह, सरलता से सरक जाने वाली वस्तु है, और जब साहित्य में अनीति को सम्भव बनाने वाली बेढंगी घटनाएँ चित्रित की जाती हैं, तब उन्हें प्रतीत होता है कि वह पारा हाथ से सरक गया है।

'पृथ्वीवल्लभ' का साहित्य में सृजन करके मैंने गुजरात में प्रचलित साहित्य-प्रणालियों पर अनजाने में आक्रमण आरम्भ कर दिया था। कलाकार की स्वतन्त्रता की धर्म-ध्वजा मेरे हाथ में आकर गिर पड़ी।

मुझे अपना मार्ग स्पष्ट दीख पड़ा। मैंने सेफो के काव्य और

---

१. मुन्शी-कृत 'नवलिकाओ' ('मारी कमला अने बीजी वातो' का नया संस्करण) पृष्ठ १९६—२१५।

बिलिट्स के गीत आनन्द से पढ़े थे। मुझे 'गीतगोविन्द' और 'जानकी हरण' को जला डालने की कभी इच्छा नहीं हुई थी। मैंने शेक्सपियर के 'वीनस और एडोनिस' की रसिकता से जगत् में प्रलय आने की बात कहीं नहीं पढ़ी थी। 'पृथ्वीवल्लभ' के हृदय में जो तरंगें थीं, वे यदि मेरे हृदय में जाग गई हों; यदि उन तरंगों ने मेरी कल्पना के गर्भ में उस पुरुष का सृजन किया हो और उस पुरुष को शब्दों द्वारा संसार में लाने की मुझमें शक्ति हो तथा इस प्रकार जीवनदान दिये हुए व्यक्ति में ऐसा व्यक्तित्व हो कि लोग पढ़कर उसे अनुभव कर सकें, तो फिर उस 'पृथ्वीवल्लभ' को कलंकित करने का जगत् को क्या अधिकार है ?

जिस सन्तान को मैंने कल्पना के गर्भ में धारण किया और जन्म दिया है, वह यदि दूसरों को पसन्द न आए, तो क्या मुझे उसके टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ ? उसे क्यों न संसार में बिहार करने दिया जाए ? यदि वह अयोग्य होगी, तो विलुप्त हो जाएगी; जीने और किसी को जिलाने के योग्य होगी, तो जीवित रहेगी।

भिन्न-भिन्न कोटि के लोगों ने 'पृथ्वीवल्लभ' पर अपना पुण्य-प्रकोप प्रदर्शित किया है। इस प्रकोप के पीछे की दृष्टि को मैं समझ सकता हूँ, परन्तु स्वीकार नहीं कर सकता।

यदि इसका नाम 'कला के लिए कला' हो, तो उस धर्म को मैंने स्वीकार कर लिया है। और यदि यह मान लिया जाए कि इस सारी वस्तुस्थिति के रहते हुए भी मैं भूल कर रहा हूँ, तब भी मुझे 'पृथ्वी-वल्लभ' लिखने के लिए कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ।

मैंने बचपन से ही संसार के साहित्य-सम्राटों—व्यास और कालिदास, होमर और गाइथे, ड्यूमा और ह्यूगो, शेक्सपियर और शेली की चरण-रज को शीश झुकाकर मस्तिष्क पर चढ़ाया है। मुझे गुजराती नहीं आती। मेरी कल्पना के पंख इतने शक्तिशाली नहीं हैं कि मैं जहाँ चाहूँ, उड़ सकूँ। मेरी सृजन-शक्ति परिमित है।

मैंने सरस्वती की पूजा की है, दीनता से, शिशु-भाव से।

मैंने अपना हृदय चीरकर उसके चरणों में 'पृथ्वीवल्लभ' को रखा है। यह पुष्प यदि किसी को नीरस मालूम हो या पल-भर में मुरझा जाने वाला हो, तो इससे मुझे क्या ?

अंजलि-रूप बनने में ही इस पुष्प की पहली और अन्तिम सफलता है।

चौबीस

१६२१ का अप्रैल मास आया। कोर्ट में छुट्टियाँ हुईं और हम माथेरान के 'सहारा कॉटेज' में रहने के लिए गये। मेरा ख़याल था कि व्यवसाय के, साहित्य के और आत्मविकास के चढ़ाव की समाप्ति पर मैं आ रहा था। लक्ष्मी अब सच्ची सहचरी बन गई थी। मेरे और उसके बीच कर्तव्यपरायणता का अन्तर नहीं रहा था। मेरी तरंगों और भावना की सहयोगिनी नहीं मिल सकती, यह सोचकर मैं सन्तोष धारण कर रहा था।

जीजी माँ-की तपश्चर्या भी फलीभूत हो गई थी। दौहित्र ठिकाने लग गया था। कसनदास मुन्शी की हवेली के आगे ही उसके पुत्र की हवेली थी। उन्होंने बनवा ली थी। अड़सठ तीर्थों की यात्रा कर चुकी थीं। बेटा-बहू स्थिर हो गए थे। टेकरे की रौनक पुनः आ गई थी। जब घर में निवास किया गया, तब उन्होंने गंगा-पूजन कराया था। जाति में मिठाई बँटवाई थी। 'सहारा कॉटेज' के झूले पर वे प्रतिदिन बैठा करती थीं। उनके साथ उनके साथी भी होते थे—पनडिब्बा, हिसाब का रजिस्टर, पेन्सिल, ऐनक, सरला और जगदीश। 'भाई' के मित्र और मित्र-वधुएँ भी आते जाते रहते थे। दौहित्र अपनी बहू के साथ आया। ठाकुरभाई और भाभी भी आये।

प्रतिदिन बेटा, बहू और बच्चे घोड़े पर बैठकर घूमने जाते और जीजी-माँ खुशी से फूली न समातीं। "तापी बहन," ठाकुरभाई कहते, "रोज़ शाम को तुम्हारा बेटा बारात के घोड़े पर चढ़ता है और बहू

लेकर घर आता है।" और जीजी-माँ हँस पड़तीं।

परन्तु पुत्र के हृदय की व्यथा उनसे छिपी नहीं थी। उसके किये हुए प्रयत्नों की वे साक्षी थीं। इसीसे ईश्वर-भक्ति और अध्यात्म-ज्ञान को गौण समझकर, वृद्धावस्था का भार दूर हटाकर, पुत्र के विचार और भावना में हिस्सा बँटाकर वे उसके एकाकीपन के भार को हलका करती थीं।

पुत्र कहानी लिखता, तो पहले जीजी-माँ को पढ़कर सुनाता। वह कुछ करके आता कि तुरन्त उसे वे उसके मुख से सुनतीं। उसकी कृति या उसके विषय में कुछ छपता तो उसे वे पढ़तीं और काटकर तथा संभालकर रख लेती थीं।

१९१९ से मुझे जो नये सत्य दिखलाई पड़ने लगे थे, उनका मैं व्यवस्थित रूप से मनन कर रहा था। अनेक बार जल्दी उठकर 'बलवर्धन' (Belvedere) श्रृङ्ग पर जाकर पुराने आत्म-विकास के क्रम को नया रूप प्रदान करता था।

मेरी विचारधारा एक ही मध्य-बिन्दु के आसपास घूमा करती थी। मेरे स्वभाव में मेरी शक्ति, विकास और मेरी आत्म-सिद्धि का क्षेत्र, समृद्धि और साधन तीनों थे। उसी में से और उसी के द्वारा मुझे अपना कर्तव्य खोज निकालना था; उसी में से मुझे उसका अनुसरण करने की शक्ति प्राप्त करनी थी। यह स्वभाव और कर्तव्य आत्मा थी और जो उसका विरोधी हो, वह अनात्मा।

मई के अन्त में मैंने अंकित किया—

'यदि मुझे अपने विकास की साधना करनी हो, तो अपने स्वभाव-विरोधी तत्त्वों के साथ विगतज्वर होकर युद्ध किये बिना मेरा विस्तार नहीं है। अन्यथा मैं तिनके के तुल्य सिद्ध हूँगा। इन विरोधी तत्त्वों—अनात्मा के विरुद्ध जूझना मेरे व्यक्ति-विकास का पहला कदम है।

प्रत्येक कदम पर मेरा विकास होता है—मैं जैसा था या जैसा हूँ, उससे भिन्न बनता हूँ। परन्तु इस निरन्तर होने वाले विकास के अन्त में क्या

है ? केवल यही कि मैं जैसा हूँ उससे भी अधिक प्रौढ़ बनूँ, अधिक आत्मवान् बनूँ, बस यही। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक आत्मवान् बनने की क्रिया-भावना ही मेरे और सबके जीवन की मुख्य क्रिया है।

इस क्रिया से प्रौढ़तर व्यक्तित्व प्राप्त करते जाने का नाम ही आत्मसिद्धि है। अतः मेरी स्वभावजन्य वृत्तियों के सर्वांगसुन्दर विकास में ही आत्मसिद्धि—मोक्ष—सन्निहित है। प्रत्येक भावनाशील पुरुष का यही ध्येय होता है, मेरा भी यही ध्येय हो सकता है। आत्मसिद्धि प्राप्त करने की मेरी इच्छा नग्न पशुता का आनन्द उठाने की इच्छा से भिन्न है। यह अधिक सम्पूर्ण और संवादी जीवन भोगने की इच्छा है।

जो कुछ मेरे स्वभाव में है, उसे ही मूलभूत सामग्री समझकर, उसी को समृद्ध करने की यह इच्छा है। यह इच्छा भी इसमें समायी हुई है कि मेरी शक्तियाँ इस प्रकार विकसित हों कि जिससे कार्य-अवकाश के नये क्षेत्र मिल सकें।

ऐसे महान् व्यक्तियों की, जिनमें आत्मीयता अधिक परिमाण में हो, प्रशंसा करने की इच्छा मुझे होने लगती है। यह भी इसी का एक अंग है।

इस इच्छा का ध्येय निरन्तर अधिकाधिक विकास-सिद्धि के लिए आकुल होना है—तृप्ति नहीं; मुझे यदि तृप्ति होती है तो भावना की क्रिया रुक जाती है। यदि तृप्ति न होने दूँ और क्षण-क्षण पर विकास प्राप्त करने को—अपूर्वता पाने को तरसता रहूँ, तो उसके फलस्वरूप मैं भावनात्मक अपूर्वता को प्राप्त कर लूँ।

दुर्भाग्यवश अब तक मैंने अपने बाह्य स्वरूप को विकसित करने का प्रयत्न किया है—आन्तरिक स्वरूप को नहीं।

मैंने बाल सँवारे, अपनी आवाज़, रहन-सहन और आचार को सुधारने के प्रयत्न किये। मैंने शारीरिक और मानसिक साधनों से समृद्ध होने के लिए परिश्रम किया। मुझे कुछ बनने की इच्छा थी। लोगों का ध्यान आकर्षित हो और मेरा प्रभाव पड़े, ऐसा व्यक्ति मैं बनना चाहता था। परन्तु आत्मसिद्धि, जिससे कि व्यक्तित्व प्राप्त होता है, वह इस साधन या

समृद्धि से नहीं मिल सकती। वह तो अपने स्वभाव की शक्तियों को अधिक अच्छी तरह व्यक्त करने, अधिक प्रौढ़ व्यक्ति बनने से मिल सकती है।

मैं कमाता हूँ, मैं घूमता-फिरता हूँ, मैं लिखता हूँ; परन्तु उनमें विकास नहीं है, महत्त्व नहीं है। मैं क्या था और आज क्या हूँ? इसका माप ही मेरे महत्त्व का माप है। 'करने' की अपेक्षा 'होना' ही सत्य वस्तु है। 'मैं करता हूँ' और 'मैंने किया' यह मिथ्या बकवाद मैं किसलिए करता हूँ? मैं अधिक अंश में 'हो जाऊँ' तो अन्य प्रकार की सेवा की अपेक्षा अधिक सेवा करूँ। मेरे सच्चे महत्त्व का माप मेरे व्यक्तित्व में है, कार्यों में नहीं।

जब मैं किसी महापुरुष से मिलता हूँ, तब उसके कार्य की अपेक्षा वही बड़ा दीखता है। मिल्टन ने कहा है कि जब तक कवि का जीवन महाकाव्य न बन जाए तब तक वह महाकाव्य नहीं लिख सकता। यदि मैं इसके लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहूँ कि मेरी कल्पना और अनुभव केवल उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अपूर्वता को प्राप्त करें, तो मुझे भावनात्मक अपूर्वता मिल सकती है।

भावनात्मक अपूर्वता के लिए तरसे बिना यदि केवल सिद्धि की अभिलाषा करता हूँ, तो मुझे आनन्द प्राप्त नहीं होता। उस स्थिति में तो तृप्ति मुझे दग्ध करती है। भगवान् व्यास के कथनानुसार मैं 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' का अनुभव करता हूँ। 'न चायुक्तस्य भावना न च भावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम्,' यह सूत्र भली भाँति मेरी समझ में आ रहा है। प्रयत्नों की परम्परा के सिलसिले में यदि मैं बढ़ती हुई अपूर्वता का उपभोग करूँ, तो मैं सशक्त, सुन्दर और विशिष्ट बन जाऊँ। बाह्य आचार के उपयोग को मेरा हृदय रोक रहा है। परन्तु यदि मुझे सारा संसार मिल जाए, और मैं अपनी आत्मा को खो बैठूँ तो वह किस काम का है?

मैं जगत् जीतने के लिए निकलूँ और जीते हुए जगत् को अपना न बना सकूँ, तो इसका क्या अर्थ है?

मैं अपने स्वभाव के अनुसार ही—अपने तरीके पर ही जीवित रहूँ, यही अब मेरा धन है—बाकी सब मिथ्या है।

'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।' थोड़े ही दिनों बाद मैं इस नये दर्शन को सूत्र-रूप में अंकित करता हूँ[1]—

---

१. यह अंकन अंग्रेजी का अनुवाद है। मूल वस्तु घटा-बढ़ाकर मेरी पुस्तक 'Akhand Hindustan' में 'To be or To do' शीर्षक से प्रकाशित हुई है।

उसके साथ तुलना—

'यह भावना क्या वस्तु है? प्रत्येक मनुष्य की—सम्पूर्ण मनुष्य की भी भावना होती है। उसके होने से वह अपूर्व होने का प्रयत्न करता है। यह अपूर्वता किसमें समाविष्ट है, यह समझ में आने पर भी यह जाग्रत स्वप्न उसकी दृष्टि के आगे फिरता रहता है।

कभी-कभी उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इस भावना को सिद्ध कर लिया है और कभी यह भावना उसके हाथ से छिटक जाती है। भावना, अर्थात् अपूर्वता प्राप्त करने पर मनुष्य कैसा हो सकता है, इसका हृदय में उत्पन्न हुआ स्वरूप। यह भावना सदा स्पष्ट नहीं होती। वह कभी एक-जैसी नहीं रहती। वह सदैव बढ़ने वाली होती है। वह कभी सिद्ध होने वाली नहीं होती।

भगवान् बुद्ध के सिवा इतिहास में और कोई ऐसा पुरुष प्रसिद्ध नहीं है, जिसके मन में सदैव अपनी अपूर्वता, एक दुष्प्राप्य स्वप्न के रूप में नहीं, वरन् सिद्ध की हुई वस्तु के रूप में रही हो। परन्तु कई मनुष्यों को किसी समय यह भावना सिद्ध हुई प्रतीत होती है। वह और उसका आदर्श क्षण-भर के लिए समान विस्तृत हो जाते हैं। उसका स्थूल व्यक्तित्व और स्वप्नवत् सूक्ष्म भावनात्मक व्यक्तित्व एक हो जाते हैं, और उस क्षण परम आनन्द स्रवित होता है। तत्त्वज्ञानी कहते हैं कि आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाती है। योगी कहते हैं कि जब चित्त-वृत्ति का निरोध हो और निर्विकल्प समाधि हो, तब इस परमानन्द की प्राप्ति होती है।

१. आनन्द वह है, जो प्रत्येक अनुभव पर अधिक सूक्ष्म अनुभव करने की उल्लासमय आकुलता उत्पन्न करता है।

२. जिस अनुभव के बाद पुनः वही अनुभव करने की इच्छा न हो, वह तृप्ति है।

३. अनुभव या कलाकृति, आचार या विचार; जिसका अधिक सूक्ष्म स्वरूप में साक्षात्कार करने की तीव्र उत्कंठा होती रहे, वह आकुलता है।

४. जहाँ भावनात्मक अपूर्वता होती है, वहाँ सरसता अवश्य होती है। जहाँ तृप्ति से अरुचि उत्पन्न हो, वहाँ से सरसता लुप्त हो जाती है।

५. अपूर्वता के लिए आकुलता बढ़ने से व्यक्तित्व का विकास होता है। जिस कर्तव्य से व्यक्तित्व बढ़ता है, वह धर्म है; जिससे नहीं बढ़ता, वह सब अधर्म है।[1]

ये सिद्धान्त केवल तत्त्वज्ञान के नहीं है। देश-भक्त जब देश के लिए प्राण देता है, तब इसी आनन्द को प्राप्त करता है। कवि जब अपने हृदय में लिखित प्रियतमा से मिलता है, तब उसे भी यही आनन्द मिलता है। प्रत्येक समय एक ही प्रकार की क्रिया होती है। उस समय मनुष्य और उसकी भावना एक हो जाती है। पार्थ धनुर्धर और योगेश्वर कृष्ण, नर-नारायण की एक मूर्ति बन जाते हैं।'

—मुन्शी-कृत 'थोडांक रस दर्शनो—साहित्य अने भक्तिनां; पृष्ठ २९—३०

१. विषय-लालसा एक प्रबल इच्छा है। उसका लक्ष्य केवल संग नहीं तृप्ति है। यह मनुष्य को व्याकुल करती है, उसका दम घोंटती है। उसके खाने को विष बनाती है, उसकी नींद को हर लेती है; और उसे काम, क्रोध, संमोह, स्मृति-विभ्रम और बुद्धि-नाश की निम्न-से-निम्न सीढ़ी पर ले जाती है। अन्यथा तृप्ति होने पर क्षणिक सुख मिलता है। इस सुख के पश्चात् कुछ समय तक इस इच्छा से अरुचि हो जाती है। एक बार तृप्ति मिलने के बाद इच्छा कम हो जाती है और तृप्ति से मिलने वाला सुख समाप्त हो जाता है, कल्पना रोगी बन जाती है, और धीरे-

प्रणाली के अनुसार निर्मित मेरी समझदारी इतनी ज़बरदस्त थी कि रसिक होना विषय-लंपटता का स्पर्श करना है। इस भ्रम को अनजाने में मैंने अपनाया था। परन्तु कल्पना और जीवन की विविधता का उपभोग करने की अपनी रसिकता से मुझे लज्जित होने की क्या आवश्यकता है ?

इन विचारों का पहला परिणाम यह हुआ कि रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की सरसता के प्रति अपनी वृत्तियों पर दबाव डालने की अपेक्षा मैं उनकी अपूर्वता को खोजने लगा। मैं केवल फीकी और उबली हुई चीज़ें खाया करता था। उसके स्थान पर केवल तेल-मिर्चों के सिवा अन्य सब चीज़ें थोड़ी-थोड़ी खानी आरम्भ कर दीं। कोई भी वस्तु अधिक नहीं खाता था, जिससे कि तृप्ति होती मालूम हो। इस प्रकार मैं एक रोटी खाने लगा। कम खाने से शरीर में सुधार हुआ और प्रत्येक वस्तु थोड़ी-थोड़ी खाने से सूक्ष्मता से उसका स्वाद ले सका। इसी प्रकार मुझे जो रूप, स्पर्श और शब्द की सूक्ष्मता का अभ्यास करने में हीनता मालूम होती थी, वह दूर हो गई। जप, ध्यान और प्राणायाम मैं आत्मदमन के लिए किया करता था। अब उसके स्थान पर उन्हें आतुरता का पोषण करने का और तृप्ति को रोकने का साधन बनाया।

कला और साहित्य में स्थित मेरी सरसता के ख़यालों पर भी इन विचारों ने नया प्रकाश डाला—

'मनुष्य की शरीर-रेखाओं में स्थित सरसता को बार-बार देखने—अनुभव करने की मुझमें उत्कण्ठा होती है। इस सरसता को परखकर मुझे आनन्द मिलता है; इसे अनेक बार अनुभव करने पर भी इस आनन्द से अरुचि नहीं होती। बिनस डी मिलो या एपेलो बेल्वेडियर देखकर मुझे तृप्ति नहीं होती। इस आनन्द में तृष्णा नहीं है। ज्यों-ज्यों आनन्द का

धीरे मनुष्य जड़, स्थूल और अधम हो जाता है।

—मुन्शी-कृत 'थोडांक रस दर्शनो—साहित्य अने भक्तिनां, पृष्ठ २७।

अनुभव करता हूँ त्यों-त्यों उसकी सीमा बढ़ती जाती है । इनसे मुझे विषय-लालसा नहीं होती । मैं क्रुद्ध हो जाता हूँ । मेरी शक्तियाँ भावनाशील बन जाती हैं । शरीर और उसके संग के प्रति मेरे मन में मान और पूज्य भाव उत्पन्न होता है ।

'इसी प्रकार साहित्य की सरसता-स्वरूप एपिसाइकिड्यन, बिलिट्स के गीत, गीतगोविन्द या मेघदूत को बार-बार पढ़ने से मुझमें अधमता नहीं आती । मेरी प्रणय-भावना सूक्ष्म होती है ।

'इस सूक्ष्मता में मैं क्यों न प्रसन्न होऊँ ?'[1]

इस भावना-धर्म के वशीभूत होकर मैंने उन्हीं दिनों नये-नये संकल्प किये ।

अब तक मैं कहानियाँ लिखकर संतोष कर लिया करता था । अब मैंने गुजरात की अस्मिता, साहित्य और कला तथा मानवता के प्रति अपने आदर्श गुजरात को समक्ष रखने का निश्चय किया । यह मेरा धर्म बन गया । इस धर्म के अनुरूप बनने के लिए मैंने महाभारत और अन्य पुराण, गुजरात के साहित्य और इतिहास का अध्ययन आरम्भ किया । 'बलवर्धन शृंग' पर बैठकर मैंने आदिपर्व शुरू किया । बम्बई में आकर गुजरात के इतिहास के उद्धरण लेने लगा । साहित्य के अध्ययन ने आगे जाकर अनेक पुस्तकों तथा 'Gujrat and its Literature' का स्वरूप ग्रहण किया ।

इस प्रकार मैंने १९२१-२२ में महाभारत, वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय, शिव, विष्णु, भागवत और ब्रह्माण्ड पुराण पढ़े । कोई यह न समझ बैठे कि मैंने उन्हें संस्कृत में पढ़ा । मेरा संस्कृत का ज्ञान बड़ा परिमित है । साधारणतया मैं संस्कृत के अंग्रेजी या गुजराती अनुवाद पढ़ता था । और जहाँ सुन्दर वर्णन आता था, वहाँ उसका मूल पढ़ता था । उस अध्ययन के भी मैंने विस्तार के साथ उद्धरण लिये । यह अध्ययन मैंने १९२२ में भी

१. मुंशी-कृत 'थोडांक रस दर्शनो', साहित्य नां अने भक्तिनां, पृष्ठ २७-२८ ।

अवकाश के समय जारी रखा। उसी के अन्तर्गत गुजराती में 'भारतीय इतिहास के सीमाचिह्न', 'रामजमदग्नेय' आदि लेख लिखे। 'Early Aryans in Gujrat'[1] के व्याख्यानों में उसे परिपक्वता मिली। इस प्रेरणा द्वारा १९२२ में 'पुरंदर पराजय' नामक मेरा पहला नाटक लिखा गया; और बाद में पौराणिक और वेदकालीन नाटक और उपन्यास भी इसी प्रेरणा द्वारा लिखे गए।

महाभारत के पढ़ने से मानवता के अनेक रहस्य मेरी समझ में आए, और मैंने 'Manhood and its Interpreters' नामक विस्तृत लेख अंग्रेज़ी में लिखा। बाद में उसी पर से 'मानवता के दिव्य दर्शन' (मानवता नां आर्ष दर्शनां)[2] शीर्षक आदिवचन लिखा।

उसमें मैंने आर्यत्व की भावना को अपनी नई दृष्टि के अनुसार आलेखित किया—

'आर्य शक्तिशाली है, उसकी बुद्धि राग-द्वेष से अस्थिर नहीं है, वह नित्य सत्त्वस्थ है। वह अपनी आत्मा, अपनी विशिष्टता, अपने स्वभाव और शक्ति के रहस्यों को देख सकता है। वह अयुक्त नहीं, एक आत्म-संवादी शक्ति है, योगी है।

अपने स्वभाव को लाक्षणिक महाशक्ति में परिवर्तित कर डालना ही आर्य मानवता है। जब आर्य तेजोमय और प्रतापी बनी हुई अपनी स्वभावजन्य विशिष्टता के साथ तादात्म्य की सिद्धि करता है, तब इन्द्र के वज्र की तरह, विद्युत् के बल के समान वह एक प्राकृतिक शक्ति— Elemental force बन जाता है। वह अपने स्वभाव—आत्मा की ही विशिष्टता के पथ पर विचरण करता है। मयि सर्वाणि कर्माणि कहकर सारे कर्त्तव्यों को अपनी ही बुद्धि से योग्य समझकर वह युद्ध करता रहता है—श्री, विजय और भूति प्राप्त करने के लिए, अपने स्वभाव की सिद्धि प्राप्त करने के लिए, अपने-आपको ही अपना शासनकार, अपने-आपको ही

१. बम्बई विद्यापीठ की ठक्कर माधवजी वसनजी व्याख्यान माला।
२. मुंशी-कृत 'गुजरात एक सांस्कारिक व्यक्ति अने आदिवचनो।'

अपनी नीति और अपने स्वभाव-जन्य धर्म को ही अपना धर्म समझकर।[1]

पच्चीस

हम सबके होमरूल लीग में जुड़ जाने के पश्चात् 'गुर्जर सभा' समाप्त हो गई थी। 'षड्रिपुमंडल' में से इंदुलाल निकल गए थे। कान्तिलाल पंड्या आगरा में प्रोफ़ेसर नियुक्त हो गए थे। बाकी रहे हुए हम लोग परस्पर स्नेह-सम्बन्ध का आनन्द उठा रहे थे।

१९१५ में जब से मैं सूरत की साहित्य-परिषद् में गया था, तब से मनहरराम मेहता से मेरा परिचय हुआ था। वे साहित्य-परिषद् के परम-भक्त थे और सूरत में भी उसकी योजना बनाने के लिए उन्होंने प्रयत्न किये थे। वे हाईकोर्ट में दुभाषिए थे। धीरे-धीरे हमारी मित्रता बढ़ने लगी। उनकी इच्छा थी कि बम्बई में एक साहित्य-विषयक संस्था स्थापित की जाए।

उस समय मनहरराम ने 'रामछंद' का आविष्कार किया था, और रामायण का बालकांड उन्होंने उसी में लिखा था। मुझे वह छंद बड़ा पसन्द आया था।

नानालाल के अपद्यागद्य की अपेक्षा यह अधिक सुगम और नियमबद्ध है। और मेरा मत है कि यदि कोई सिद्धहस्त कवि इस छंद में आलेखन करे, तो गुजराती कविता बड़ी समृद्ध हो जाए।

मनहरराम ने इसी छन्द में 'शिवाजी और अफ़ज़लखाँ' नामक काव्य लिखा था और जब वह प्रकाशित हुआ, तब उसे पढ़कर मैंने शिवाजी महाराज के स्मरण ताज़े किये थे।

१९२१ में चन्द्रशंकर मुझसे कहा करते थे कि मैं 'समालोचक' का सम्पादक-पद स्वीकार कर लूँ। मैंने यह निमन्त्रण स्वीकार किया, परन्तु इस शर्त पर कि उसका स्वामित्व एक कम्पनी को सौंपा जाए, जिसमें

१. मुंशी-कृत 'गुजरात एक सांस्कारिक व्यक्ति अने आदिवचनो' में 'मानवता नो आर्ष-दर्शनोमा, पृष्ठ १७०-१७१।

दस हज़ार के शेयर हों और चन्द्रशंकर तथा मैं दोनों सम्पादक बनें। गोवर्धनराम के पुत्र रमणीयराम को यह बात पसन्द न आई। मैंने सारी तैयारी कर रखी थी। अतः मनहरराम और मणिलाल नानावटी के साथ मैंने परामर्श किया; और नरसिंहराव भाई का आशीर्वाद प्राप्त करके १९२२ के मार्च में 'साहित्य प्रकाशक कम्पनी' और 'साहित्य संसद' की स्थापना की।

संसद के संस्थापक सदस्यों में मेरे साथ मनहरराम, मणिलाल नानावटी, प्रो० शाह, डॉ० एरच तारापोरवाले, मुनिश्री विद्याविजयजी, मास्टर, चन्द्रशंकर, कवि ललितजी, रविशंकर रावल, छोटूभाई पुराणी, प्रो० चन्द्रशंकर बुच, रंजितलाल पंड्या, प्रह्लाद चन्द्रशेखर दीवानजी, मोहनलाल दुलीचंद देसाई, नगीनदास मास्टर, धनसुखलाल मेहता, शंकरप्रसाद रावल, रायचुरा, बटुभाई उमरवाडिया, विजयराय कल्याणराय, मस्तफकीर और अन्य मित्र थे। नरसिंहराव संसद में नहीं थे, फिर भी १९३० तक संसद के प्रेरक रहे थे। श्री दुर्गाशंकर शास्त्री उसमें बाद में आ गए। हमारा उत्साह अपरिमित था।

'गुजरात' में पहले अंक से ही भारी धूम मच गई। उसकी लेखमाला में रणजीतराम का 'हेमीओ', मेरा उपन्यास 'राजाधिराज', ललित का 'सखि, आनन्द वसंते', मनहरराम का लेख 'गुर्जर संगीत', प्रो० शाह का नाटक 'मने नहीं', रायचुरा का 'गुजरातण राधा', धनसुखलाल का 'अमारी नवल कथा', शंकर प्रसाद रावल का 'नवुं साहित्य' आदि थे।

'गुजरात' की अभिलाषा केवल 'बीसमी सदी' का स्थान लेने की ही नहीं थी, वरन् गुजरात की अस्मिता का सन्देश-वाहक बनने की थी। पहले अंक में ही सम्पादक के स्थान से मैंने यह सन्देश स्पष्ट करने का प्रयत्न किया—

'दुनिया में और भारत में प्रकट हुई नई भावनाओं और चैतन्य के कारण गुजरात में भी कुछ-कुछ आशाएँ और प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं। हमारे साहित्य और संस्कार के व्यक्तित्व का स्पष्ट रूप से विकास करने

के लिए हर ओर प्रयत्न हो रहे हैं; और इस व्यक्तित्व के फलस्वरूप जीवन में संस्कार, भाषा और भाव, कला और समाज में सांस्कारिक अस्मिता—Cultural self-consciousness प्रकट हुई दीख पड़ती है। इस अस्मिता को व्यक्त करके, उसका विकास करके, गुजरात को अन्य सब संस्कृतियों में एक संस्कारात्मक—Cultural unit के रूप में स्थान देना—इस प्रकार की भावना की तरंगें चारों दिशाओं में फैली हुई हैं। इन तरंगों में बहे हुए अनेक गुजरातियों की इच्छा से इस 'साहित्य-संसद्' को खड़ा किया गया है···यूरोपियन तत्त्वज्ञानी देकार्त कह गया है—'मैं विचार कर सकता हूँ, इसी से मेरा अस्तित्व मुझे मालूम होता है।' आज गुजराती भी यह कह सकते हैं कि हमारा जीवन हमें निराला मालूम हो रहा है। गुजरात का इतिहास, आचार और विचार औरों से भिन्न प्रकार का, अधिक लाक्षणिक दिखाई देता है। गुजराती युवकों का आत्म-त्याग, गुजराती स्त्रियों का चरित्र-बल, गुजराती नागरिकों का उत्साह, गुजराती जनता का साहस, गुजरात के गांधीजी का जीवन और आदेश निराले हैं, निराले होते जा रहे हैं, और इसी से उसकी सांस्कारिक अस्मिता काल्पनिक नहीं, वास्तविक है; और इसी से उसे साहित्य में व्यक्त करने का प्रयत्न मिथ्या नहीं, वरन् आवश्यक है।'

छब्बीस

१६२२ के मई मास में हमारे साहित्य-व्योम में एक नया तारा उदित हुआ।

१६१८ के अन्त में मैं बाबुलनाथ पर रहने आया। थोड़े दिनों बाद एक दिन मैं अपनी छत पर खड़ा था और रास्ते से इन्दुलाल और उनके मित्र निकल रहे थे।

"क्यों मुन्शी, कैसे हो?" इन्दुलाल ने मुझे नीचे से पुकारा। "लीला बहन, ये हैं मुन्शी।" उसने परिचय कराया और हमने एक-दूसरे को नमस्कार किया।

बड़ी-बड़ी आँखें हँसती दीख पड़ीं। चलने का ढंग भी मेरी दृष्टि से बाहर न रहा। लीला के विषय में चन्द्रशंकर ने मुझसे अनेक बातें की थी, वे मुझे याद ही थीं। अहमदाबाद के किसी धनाढ्य की वह पत्नी थी। साहित्य-रसिक थी और कविता लिखती थी। मेरे मित्र जनुभाई सैयद की शिष्या थी। इन्दुलाल उसके मित्र थे। मास्टर उसके मामा के मित्र होने के कारण उसे भानजी की तरह मानते थे।

जिस मकान में मैं रहता था, दूसरे दिन उसी मकान का ब्लाक किराये पर लेकर लीला का परिवार उसमें रहने के लिए आया।

रात को लीला मुझसे मिलने के लिए ऊपर आई। बचपन में 'तनमन' की कहानी पढ़ने के बाद उसके रचयिता से मिलने की उमंग उसके मन में उठ आई थी। लक्ष्मी ने और मैंने उसके साथ कुछ देर बातें कीं।

अनेक बार रात को, जब मैं और लक्ष्मी कुछ देर तक छत पर बैठा करते थे, तब एक-दो बार लीला हमसे मिलने के लिए आई थी। एक बार इब्सन के नाटकों के विषय में हमने चर्चा की। गुजराती स्त्रियों में कदाचित् ही पाई जाने वाली उपहास करने की आदत को उस समय उसने अपने में पनपाया था। स्त्रियों के अधिकारों के विषय में उसका उत्साह अपरिमित था।

स्त्रियों के प्रति मेरी दृष्टि सामान्यतया तिरस्कारयुक्त थी। अपने अध्ययन के गर्व में मुझे इस उन्नीस वर्ष की लड़की के अध्ययन और दृष्टि में छिछोरापन मालूम हुआ।

जब भी मैं किसी नई स्त्री के साथ बात करता था, तभी 'देवी' के स्मरण-संचय की दीवार हमारे बीच खड़ी हो जाती थी। जहाँ किसी स्त्री का अपने प्रति ज़रा भी पक्षपात दृष्टि पड़ता था, वहाँ से मैं भाग खड़ा होता था। इस अवसर पर भी कुछ ऐसा ही हुआ।

एक बार चन्द्रशंकर के मंडल ने लीला को चाय पर बुलाया, तब मैं वहाँ उससे मिला। कुछ देर बैठकर मैं चला आया। मंडल के सारे सदस्यों के साथ वह जब एलिफेण्टा गई, तब मैंने उसका निमन्त्रण स्वीकार

नहीं किया।

इसके बाद लक्ष्मी उससे एक-दो बार मिली थी। उसने मुझसे बात की थी और मैंने उसे थोड़ी दिलचस्पी के साथ सुना था।

१९२० में लंका के सफर से वापस आने पर लीला मुझसे मिलने आई। बिना पति के, केवल स्त्री—सखी और पुत्री को साथ लेकर भारत-भ्रमण करती हुई यह युवती प्रत्येक का ध्यान आकर्षित कर लेती थी। मैंने किसी रुद्राक्ष और शुक्लांबर-धारिणी पुण्यभागिनी तापसी के स्वप्न-दर्शन के समान कुछ क्षण उसे देखा और फिर वह अदृश्य हो गई।

उससे मिलने के बाद यह विचार आने लगा कि हज़ारों बार जिस 'तनमन' का चिन्तन किया है, वह अब नहीं मिलेगी। १९०७-८ के बाद जो दुःख दूर हो गया था, वह पुनः होने लगा। मन में यह पागलपन भरी कल्पना उठती और दूर हो जाती थी कि कहीं इस रूप में 'तनमन' तो नहीं आ गई है? परन्तु मैंने कल्पना पर काबू पा लिया। मैं अब व्यवहारी बन गया था।

१९२२ के अप्रैल-मई में हम लोग महाबलेश्वर में बँगला लेकर रहे। सवेरे तीन घण्टे तक जब मैं घूमने जाता, तब रस-भरी कल्पनाएँ मुझ पर अधिकार जमा लेतीं। उस समय मैं 'राजाधिराज' की 'मंजरी' का सृजन कर रहा था।

उन्हीं दिनों लीला ने अपने लिखे हुए रेखाचित्र ('रेखाचित्रो') 'गुजरात' में छपवाने के लिए मेरे पास भेजे। बाद में उन लेखों का 'रेखा-चित्रो' नाम मैंने ही बताया था।

मैंने उसका पत्र पढ़ा और रेखाचित्र भी पढ़े। उसके लिखे हुए मेरे रेखाचित्र में मैंने पढ़ा—

'मनुष्य-स्वभाव परखने की इनकी शक्ति अद्भुत है। इनमें बुद्धि की ज्योति चमकती है और साथ ही Ego (अहं) की चमक भी उतनी ही है।

'बुद्धि के शिखर से ये बेचारे जगत् पर दृष्टि डालते हैं। किसी ने यह कहा है कि इनके पात्रों में गर्व बहुत है; इनके विषय में भी यह

कहा जा सकता है।

'केवल पृथक्करण करने के लिए ही ये साइण्टिस्ट की तरह जनता के साथ मिलते हैं। स्वभाव के सारे तत्त्वों को ये देखते हैं, दयाहीन रूप से उसका वर्गीकरण करते हैं और यह समझ सकते हैं कि मैं ऐसा कर सकता हूँ।

'ऐसे मनुष्य की बुद्धि के आगे जगत् झुक सकता है, पर उसे प्रेम नहीं कर सकता। आत्म-सम्मान अधिक है, दूसरों की ओर तिरस्कार-पूर्वक देखने की वृत्ति भी कुछ अंशों में है; रहन-सहन (Manners) सभ्यतापूर्ण और अच्छा (Graceful) है।

He is indifferent to the world, because he could not get something from it which he wanted. In his pride he does not complain before it but despises it all the more, and takes a delight in criticizing it and tearing it to pieces before his mental eye. He does not like sympathy because he thinks, it lowers his dignity.[१]

'परन्तु कदाचित् इस दीखने वाली बुद्धि की सतह के नीचे हृदय के कूप में ऊर्मियों का मीठा वारि लहरा रहा होगा; किसी ने वह जल पिया होगा, परन्तु वह जल है तो दुर्लभ ही।

'हृदय की तो बरतने से ही कीमत बढ़ती है!'[२]

---

१. वे जगत् के प्रति लापरवाह हैं, कारण कि उससे वे कोई अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं कर सके। अभिमान के कारण, इस स्थिति के विषय में वे संसार के आगे फरियाद नहीं करते, उल्टे उसका अधिक तिरस्कार करते हैं। उसकी समीक्षा करने में और अपने मानसिक चक्षुओं के समीप उसे चूर्ण करने में ही वे आनन्द समझते हैं। कोई उनके प्रति समभाव प्रदर्शित करे, यह उन्हें अच्छा नहीं लगता, कारण कि उनकी मान्यता है कि समभाव-दर्शन उनके गौरव को क्षति पहुँचाता है।

२. लीलावती मुन्शी-कृत 'रेखाचित्रो अने बीजा लेखो।'

बाईस वर्ष की इस युवती ने मेरे साधारण परिचय के पश्चात्, जान या अनजान में यह वाण छोड़ा था, और तीस वर्ष की मेरी स्वस्थता को आर-पार वेधकर उसने मर्मस्थल को वेध डाला था। यदि क्रूरता से ऐसा किया हो तो अमानुषिक है; स्थूल भूमि को फोड़कर 'वारि' निकालने की इच्छा से किया हो तो भयंकर है।

मुझे इसका भान हुआ, फिर भी मैंने परवाह न की। मेरी भावना की भागिनी— तनमन' मुझे मिल गई हो, ऐसा मुझे क्षण-भर जान पड़ा।

मैं तुरन्त 'कोनोट पीक' पर अकेला ही घूमने गया। उस समय मेरे जीवन के रंग बदल गए। उसका वर्णन 'शिशु अने सखी' में है—

'गिरि शृङ्गावलियों के अन्धकार को भेदकर, नव सृष्टि की नूतन और प्रथम ही हो, ऐसी ऊषा किसी उच्च-शिखर के कोने को सोने में मढ़ रही हो, इस प्रकार अभिनव आशा उसके हृदय को मढ़ने लगी।

'उसके पैरों में पंख लग गए। मानो स्वप्न में गुंजित हो रहा हो, ऐसे गम्भीर संगीत को, व्योम में नर्तन करती ज्योतिर्माला के घुँघरुओं ने नये-नये ताल दिये।'[1]

यह किसी कल्पना-विलासी की उड़ान नहीं, स्वानुभव है।

दूसरे दिन मैंने पत्र का उत्तर लिखा। उसे बार-बार पढ़कर उसमें संशोधन किये—कहीं तरंग में आकर मैं कोई अशोभनीय बात न लिख डालूं। मैंने गुजरात के लिए धारावाहिक लेख लिखने का उसे निमन्त्रण दिया। मैं लीला को अच्छी तरह पहचानता नहीं था। उनके गृह-जीवन का मुझे ज्ञान नहीं था। परन्तु यह निश्चित था कि मेरा हृदय पुकार रहा था कि मुझे 'जन्मजन्मान्तर की सखी' मिल गई थी।

हमने 'गुजरात' के सिलसिले में पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। १९१८ के श्रावण का 'गुजरात' का अंक, मानसिक सहजीवन व्यतीत करने का हमारा पहला प्रयत्न था।

गुजरात की अस्मिता के इस मुखपत्र के लिए मनहरराम मेहता ने

---

१. मुन्शी-कृत 'शिशु अने सखी' पृष्ठ ५४, दूसरा संस्करण।

मंगलगीत लिखा—'जय थजो, जय थजो, पुनित गुजरात नो।' (पुनीत गुजरात की जय हो, जय हो।) इस अंक की सामग्री हमारे नये साहित्य-सम्प्रदाय के वेग का परिचय देगी। उसमें ये चीजें थीं—नानालाल की कविता 'उद्बोधन', ललिता का 'जुदाई नी जादूगिरी', और चन्द्रशंकर का 'जिगर नो जख्म', दुर्गाशंकर शास्त्री का लेख 'मातृगया सिद्धपुर', विभाकर का 'कृष्ण कनैयो', मुनिकुमार की कहानी 'हुवा सो विवा,' पादराकर की 'कानों में कंकरा,' मस्तफकीर की कहानी 'दाढ़ी रखो', प्रो० खुशालशाह का नाटक 'मने नहीं', लीला के 'रेखाचित्रो', मेरे उपन्यास 'राजाधिराज, का साप्ताहिक अंश और मेरा पहला वेदकालीन नाटक 'पुरन्दर-पराजय'।

'रेखाचित्रो' द्वारा शैली और साहित्य-पद्धति में नई प्रणाली शुरू हुई। मेरे मित्रों ने मेरा 'रेखाचित्र' पढ़ा और लीलावती सेठ कौन है, इसकी तलाश करनी आरम्भ की। उस समय से हम दोनों के नामों का एक साथ गुणगान होने लगा।

जुलाई-अगस्त में उसके सौतेले पुत्र ने, जिस मकान में हम रहते थे, उसी में नीचे का एक ब्लाक किराये पर लिया, पर मेरा उसके साथ परिचय नहीं था।

अक्तूबर में यह बात सुनने में आई कि लीला कुछ दिनों के लिए बम्बई आने वाली है।

एक बार मैं ब्रीफ पढ़ रहा था कि नीचे से किसी के गाने की ध्वनि सुनाई पड़ी। मेरा हृदय एकदम धड़क उठा।

मैंने लीला को कभी गाते नहीं सुना था। परन्तु वह आवाज़ मुझे किसी अद्भुत रीति से परिचित मालूम हुई।

"नीचे कौन गा रहा है?"

"लीला बहन," लक्ष्मी ने कहा।

मैं विह्वल हो उठा।

भोजन के बाद लीला ऊपर आई। हमने इस प्रकार बातें कीं, जैसे

हमारी वर्षों की पुरानी मैत्री हो।

उस रात को मुझे नींद नहीं आई। इस सान्निध्य के दूरगामी भयंकर परिणामों को मैं देख सका। विपत्ति के बादल चढ़ आए थे, यह निश्चित था। जिस क्षण मैंने जीवन के सीधे चढ़ाव चढ़कर ऊपरी कोर को जैसे-तैसे पार किया, उसी क्षण सामने की सपाट भूमि में दरार पड़ गई। भँवरों से भयानक बना हुआ दुस्तर नदी का गर्जन करता हुआ पाट मेरे पैरों के आगे फैल गया…

फिर भी मेरी रगें ताण्डव-नृत्य कर रही थीं।

तेरह वर्ष की समाधि के परिणामस्वरूप साक्षात् हुई 'देवी' पट के उस पार—फिर भी निकट—जीवित खड़ी थी…

और मेरा आधा रास्ता सम्पूर्ण हुआ।